☐ नानेश वाणी - 22

शांति के सोपान

☐ आचार्य श्री नानेश

☐ संस्करण : द्वितीय - मई 2003 प्रतियां 1100

☐ मूल्य : 30/-

☐ अर्थ सहयोगी :
श्री बालचन्द जी कुसुम कुमार जी सेठिया, भीनासर

☐ प्रकाशकः
श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)

☐ मुद्रक :
कल्याणी प्रिण्टर्स
अलख सागर रोड, बीकानेर (राज.)
दूरभाष : 0151-2526890

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरूष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियों में है जिन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चल कर भव्य आत्माएं अपने कर्मो का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती है। यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तित्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा। इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप में उपलब्ध है। एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सांसारिक प्राणियों के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करता रहेगा। इस स्तंभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मियां युगों-युगों तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियों को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन् आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनों हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जायें। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री आखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को "नानेश वाणी" पुस्तक श्रृंखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया।

इस संदर्भ में बैंगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपानी ने अर्थ संबंधी व्यवस्था में जो सद्प्रयत्न किया, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्रस्तुत कृति पूर्व में शांति के सोपान नाम से प्रकाशित पुस्तक की नयी आवृत्ति है। इसमें कुछ संशोधन परिसंस्करण भी हुआ है। इसके सम्पादक श्री पं शोभाचन्द्र भारिल्ल के अथक परिश्रम के साथ-साथ इस कृति के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले उदारमना सुश्रावक श्री बालचन्द जी कुसुम कुमार जी सेठिया, भीनासर के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हूं।

यद्यपि सम्पादन-प्रकाशन में पूरी सावधानी रखी गई है तथापि कोई भूल रह गई हो तो सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे हमें अवगत करायें ताकि आगामी संस्करणों में भूल का परिमार्जन किया जा सके।

निवेदक

शांतिलाल सांड

संयोजक साहित्य प्रकाशन समिति

श्री अ.भा. सा. जैन संघ, समता भवन, बीकानेर

अनुक्रम

मंगलमय जीवन

"यस्य ज्ञानमनन्त वस्तुविषयं, यः पूज्यते देवतैः।
नित्यं यस्य वचो न दुर्नयकृतैः कोलाहलैर्लुप्यते।।
राग द्वेषमुखद्विषात्त्वपरिषत् क्षिप्ता क्षणाद्येन सः।
स श्री वीर विभुर्विधूतकलुषां बुध्दिं विधत्तां मम।।
"असंखयं जीविय मा पमायए ....।"

शांतिनाथ भगवान की प्रार्थना

शांति जिन मुझ एक विनती सुनो त्रिभुवन रायरे-
शांति स्वरूप केम जाणिए कहो मन केम परखाय रे।

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के श्री चरणों में प्रार्थना के भावना-प्रसूनों का यह नम्र समर्पण है। शान्ति की कामना इस सृष्टि के प्रत्येक जीव को है। मनुष्य तो प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। अतः मनुष्य के लिए शान्ति की कामना किया जाना सहज एवं स्वाभाविक ही है। जीवन का यह अत्यधिक अनिवार्य प्रवृत्ति है। मनुष्य जीवन महान् है तथा उसमें अनेक जटिलताएँ भी है। एक शब्द में मनुष्य का जीवन एक विशाल प्रयोगशाला है। इस प्रयोगशाला में यदि मनुष्य अपने विवेक से कार्य करे तो अनेक प्रकार के प्रयोग किए जा सकते हैं तथा सत्य की खोज की जा सकती है। इस सत्य का आश्रय लेकर मानव-जीवन में शान्ति के सुधा-कलश की उपलब्धि भी की जा सकती है।

उपरोक्त प्रार्थना में कवि ने प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में अपने हृदयगत भावों को रखते हुए विनय की है कि "हे प्रभु! मैं शान्ति के स्वरूप को कैसे समझूं? मैं अपने मन का परीक्षण किस प्रकार करूं?"

भगवान की ओर से इन्हीं प्रश्नों का उत्तर दिया गया है कि- "मन में धैर्य को धारण करके शान्ति के स्वरूप को समझने का प्रयास करो। मन के स्वरूप को व्यवस्थित रूप से जानने का प्रयत्न यदि करोगे तो तुम्हारे जीवन में शान्ति का वह अजस्र स्रोत स्वयं ही फूट निकलेगा तथा जीवन अमृतमय बन जाएगा। शान्ति के महामन्दिर में प्रवेश प्राप्त कर सकने का यही प्रथम सोपान है।"

इस प्रकार श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा व्यक्त किए गए यथार्थ तत्व को भली प्रकार समझकर, उसमें पूर्ण श्रद्धा रखकर आचरण करना ही शान्ति के प्रथम सोपान पर आरोहण करना है। इसी तत्त्व को दृष्टि में रखकर मैंने कल कुछ विचार प्रस्तुत किए थे तथा आज ही उसी श्रृंखला को आगे बढ़ा रहा हूँ।

दृष्टि दो प्रकार की हो सकती है। एक वैज्ञानिक दृष्टि तथा दूसरी दार्शनिक दृष्टि। वस्तुतः एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के दो प्रकार हैं तथा उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। ऊपर से देखने पर जो भेद दृष्टिगत होता है, वह मात्र प्रक्रिया का ही भेद है। वैज्ञानिक भी तत्व की खोज में आगे बढ़ना चाहता है, किन्तु वह इयत्ता अथवा गिनती के रूप में चलता है, जबकि आध्यात्मिक विज्ञान के वेत्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी प्रभु ने जो निर्णीत वचन कहे हैं और उनके द्वारा जिन तत्वों का प्रतिपादन किया गया है वे तत्व समग्र विश्व के तत्वों को समाहित करने वाले हैं तथा सर्वकाल के लिए अखण्ड हैं। वैज्ञानिक की दृष्टि खण्डित दृष्टि होती है। एक-एक खण्ड को लेकर चलने वाली वह दृष्टि प्रायः एकांगी ही रह जाती है और इसी कारण किसी एक युग में प्रतिपादित वैज्ञानिक सत्य किसी दूसरे युग के अन्य किसी वैज्ञानिक द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है। इसके विपरीत जिन भगवान द्वारा उद्‌घाटित सत्य अथवा तत्व अकाट्‌य, स्थिर एवं सार्वकालिक सत्य के रूप में सदैव ही विद्यमान रहे हैं तथा आगे भी रहेंगे।

समग्र विश्व के तत्वों को समाहित करने वाले उन तत्वों में जो दो शब्द प्रमुख रूप से आए हैं, वे हैं- जड़ और चेतन। जड़ की स्थितियाँ विभिन्न हैं। ये विभिन्न पर्याय सारे के सारे आपके सामने हैं। यह पंडाल, खंभे, टिनशेड आदि सभी आपकी दृष्टि में आ रहे हैं। आप तनिक विचार कीजिए कि ये सब इस रूप में कैसे आए? आप जानते है कि ये सभी वस्तुएँ जड़ पुद्‌गलों (Matter Atoms) से ही बनी हुई हैं। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी आपको जानना ही चाहिए कि

ये सब स्वतः ही निर्मित नहीं हो गए है। इन्हें बनाने वाला इनसे भिन्न कोई कारीगर है। जड़ पुद्गल में अपनी स्वयं की यह शक्ति नहीं होती कि वह कोई भी स्वरूप धारण कर सके। यदि ऐसी शक्ति उसमें होती तो एक मिट्टी का ढेला पंडाल बनकर यहाँ छा जाता। किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इनको बनाने वाला एक कोई विशिष्ट विज्ञानी है, जो कि स्व-पर को पहिचानने की शक्ति अथवा ज्ञान अपने अन्दर रखता है। वही इन्हें बनाने वाला है।

स्व एवं पर का ज्ञान रखने वाले ऐसे किसी कारीगर अथवा विज्ञानी ने ही इन सभी वस्तुओं का निर्माण किया है। उन जड़ पुद्गलों को उसने साँचे में ढाल कर ऐसे टिनशेड का निर्माण किया कि पानी की एक बूँद भी नीचे नहीं आ सके। इसी प्रकार से लकड़ी अथवा लोहे के कच्चे रूप में, जड़ स्वरूप में विद्यमान पुद्गलों से कारीगर ने खंभों का भी निर्माण किया। यह कारीगर की कला है, उसका ज्ञान है, उसंकी शक्ति है। कारीगर एक व्यवस्था के अनुसार भौतिंक तत्वों को एकत्र करके उनसे किसी एक विशिष्ट वस्तु का निर्माण करता है। इन भौतिक तत्वों में निर्मित हो सकने का गुण अवश्य है, किन्तु इनमें स्वयमेव ही समझ पूर्वक निर्मित हो जाने की शक्ति नहीं है। यह स्थिति अथवा शक्ति तो केवल चैतन्य में ही है। यह चैतन्य तत्व ही सारे संसार में कर्तापद का अनुभव करता है तथा कर्तापद में सम्बोधित किया जाता है।

इस चैतन्य तत्व को निष्क्रिय मान लेने से व्यवस्था का सारा ढाँचा ही चरमराकर ढह पड़ेगा। वह तो प्रक्रियावान ही है। जिस आत्मा में ज्ञान एवं दर्शन की शक्ति है, तथा जिसमें अनन्त शक्ति भी चारित्र के रूप में दृष्टिगत होती है, उसी में क्रियावती शक्ति भी निहित है। और इससे वह चाहे किसी भी रूप में रहे। परन्तु क्रिया का द्योतक करता है, अर्थात कर्तापन को प्रगट करता है। कर्मों के आवरण से आवृत होने पर वह कर्तापनों के भावों को संसार के समक्ष व्यक्त कर देता है। वह आत्मा चाहे कितने भी और कैसे भी क्षुद्र प्राणी के रूप में क्यों न हो, किन्तु उसमें कर्तापना है।

शक्तियां विभिन्न है। विभिन्न वैज्ञानिक इन कलाओं में अपनी-अपनी शक्ति लगा रहे है। यहाँ आप यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से कर सकते है कि यह तो किसी एक विशेष या विशिष्ट व्यक्ति को ही देन नहीं है, इनको वनाने के लिए

अनेक व्यक्ति चाहिए। तो इस विषय में आपको उनके जीवन का चिन्तन करना है।

इस प्रकार के चिन्तन करने के लिए हमें ईश्वर की तीन स्थितियों पर दृष्टि रखनी होगी। एक सिद्ध ईश्वर, एक मुक्त ईश्वर और तीसरे बद्ध ईश्वर। इस संसार में यह सब जो रचना-प्रक्रिया चलती रहती है उसके मूल में बद्ध-ईश्वर के कर्तृत्त्व-भाव को ध्यान में रखना होगा। वह विवेचन अवश्य ही अपको कुछ जटिल प्रतीत हो सकता है। अतः मैं इसे आपको बालकों के खेल का रूपक प्रस्तुत करते हुए सरलता से समझाने का प्रयत्न करूँगा।

जो आत्मा सर्व सम्पन्न बन जाता है वह अपने समग्र विकारों से रहित हो जाता है। उसमें काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि नहीं होते। ऐसे ही विशेष आत्मा सर्वज्ञ परमात्मा के रूप में परिणत होता है। वह अपनी अनन्त शक्तियों का प्रयोग इन छोटे-मोटे खिलौनों को बनाने में नहीं करता है इनके विषय में मैं आपको आगे चलकर विस्तार से बता दूंगा। किन्तु बालको को तो आप प्रतिदिन देखते ही रहते हैं। बालक, अपने बचपन की स्थिति में, अनेक प्रकार के खिलौनों से खेलते हैं। वर्षा होने के बाद जब मिट्टी गीली हो जाती है तो उस गीली रेत में बालक अपनी-अपनी रूचि एवं सामर्थ्य के अनुसार मन्दिर-मकान बनाने का यत्न करते हैं। किन्तु दूसरे व्यक्ति जो कि ज्ञान और आयु में बड़े हो गए हैं, वे क्या करते हैं? वे तो इन बालकों की इस क्रिया पर हँसते हैं। खेल-खेल में बालक आपस में टकरा भी पड़ते हैं, और फिर कुछ ही क्षणों बाद वे फिर आपस में हिल-मिल जाते हैं। एक हो जाते है।

यह सम्पूर्ण दृश्य आप देखते हैं, किन्तु आप तटस्थ रहते है। आपका ज्ञान चूंकि उन बालकों के ज्ञान से अधिक विस्तृत है, अतः आप किसी पक्ष अथवा विपक्ष में नहीं उतरते। अस्तु, जिस प्रकार उन छोटे बालकों का खिलौने तथा रेत के मकान बनाने का दृश्य होता है ठीक उसी प्रकार से उन बालकों जैसी ही दृष्टि रखने वाले जो आत्मा इस विश्व में मौजूद हैं, वे आत्मा बद्ध ईश्वर के रूप में ही हैं। उन्हीं के द्वारा इस संसार में यह निर्माण एवं विनाश की प्रक्रिया चलती रहती है। जैसे-जैसे आत्मा विकास के पथ पर अग्रसर होता चलता है, उसी परिमाण में उसमें तटस्थता का भाव आता चलता है तथा कर्त्तृत्ववृत्ति क्षीण होती जाती है। एक कारीगर में राग की स्थिति रहती है, वह मकान बनाता है। किन्तु

विश्व के सारे तत्व जब बद्ध ईश्वर के पूर्ण शुद्ध स्वरूप को, समग्ररूप को विकसित कर लेते है तो रागद्वेष की भावना समाप्त हो जाती है। तब वे तटस्थता के रूप में रहते हैं। उनमें ये सारे दृश्य-पदार्थ बनाने की, कुम्भकार अथवा कारीगर की दृष्टि नहीं रहती है।

कारीगर के समान जहाँ थोड़ी-सी राग की स्थिति है, वहाँ सांसारिक वस्तुओं के संग्रह अथवा निर्माण की भावना एवं इच्छा होती है। आप अपने ही विषय में सोचिए। आप गृहस्थ हैं, परिवार वाले हैं। अपने परिवार में आपको राग है तो आप अपने परिवार के रक्षण हेतु मकान बनाते हैं। कोई छोटा मकान बनाता है, कोई बड़ा मकान बनाता है। किन्तु जिनके कोई परिवार नहीं है, अर्थात जिनके हृदय से परिवार का राग समाप्त हो चुका है, वे लोग क्या मकान बनाते हैं? ये सन्त-सती यहाँ विराजमान हैं। ये सन्त-सती मकान बनाते हैं क्या? ऐसे ही अन्य कार्य ये करते है क्या? आप जानते हैं सन्तों के कोई घरबार और महल-मकान नहीं होते। वे तो अनगार है। उन्हें मकान और मकान के राग से क्या प्रयोजन? जिस मकान में जन्म लिया, जिस परिवार में जीवन आरम्भ हुआ, उसे भी त्यागकर ये तो आगे बढ़ गए। इन साधु-साध्वियों ने मकान और परिवार के राग और मोह को पार कर लिया तथा समस्त आत्माओं को अपना मानकर स्वयं की दृष्टि को समाप्त करके, गृहस्थाश्रम की संकीर्ण सीमाओं को लाँघकर ये तो आगे बढ़ आए है। मकान, परिवार और सम्पूर्ण गृहस्थाश्रम की बाधा से ये मुक्त हो गए है, अतः ये घर का निर्माण नहीं करते तथा [illegible], [illegible] से पृथक हो जाते है। वे बनाते नहीं, बनवाते भी नहीं तथा अनुमोदन भी नहीं करते। ये तो अपनी साधना में लीन है, सम्पूर्ण मुक्ति के मार्ग पर वे आगे बढ़ रहे है।

आपने देखा और आप जानते हैं कि सन्त वर्ग, श्रमण वर्ग आदि इन सांसारिक बातों में नहीं पड़ते, ये तो अपनी साधना में लीन रहते हैं। आप गृहस्थों से ये अवश्य ही कुछ कदम आगे हैं, बल्कि बहुत आगे हैं। तो ये बड़े हुए कि आप? इसी प्रकार भगवान के विषय में चिंतन करें कि ये सन्त-सती बड़े अथवा भगवान बड़े? उत्तर तो इसका स्पष्ट ही है कि भगवान ही बड़े हैं। क्योंकि उन्होंने साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर उस पवित्र अवस्था को प्राप्त कर लिया है। साधना का ही यह प्रताप है, उसी का यह परिणाम है। सन्त-सती [illegible]

के मार्ग पर चलते है और अपने हृदय से कर्तृत्व भाव को हटा देते हैं। वे निर्माण नहीं करते। भगवान तो पूर्णता को प्राप्त कर ही चुके, अतः उनके द्वारा निर्माण किए जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। साधना से शुद्धि करते-करते वे चरम शुद्धि तक पहुँच चुके हैं। यह है शुद्ध रूप में रहने वाले भगवान का रूप।

किन्तु बद्ध स्थिति जब तक रहती है, तब तक निर्माण करने का। कर्तापने का भाव रहता है। मैं आपको पहिले बता चुका हूँ कि ईश्वर के तीन रूपों को लेने से यह विवेचन स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है। उन तीन में से सिद्ध ईश्वर वे हैं जो कि आठ कर्मों से रहित हैं और सिद्ध क्षेत्र में अपने वास्तविक स्वरूप में तल्लीन हैं। वे किसी भी प्रकार के कर्तापने का अनुभव नहीं करते हैं। अर्थात् न तो वे सिद्धक्षेत्र से वापिस आते हैं, और न ही वे इन दृश्य पदार्थों की रचना करते हैं।

गीता जी में एक वाक्य आता हैं-

"यत्र गत्वा न निर्वतन्ते तद्धाम परमं मम।"

अर्थात्, जहाँ जाने के बाद वापिस लौटना नहीं होता है, वही मेरा परम धाम है।

अस्तु, जो परमधाम में पहुँचने वाले हैं वे सृष्टि में कुम्भकार के समान नहीं रहते है। वे तो आदर्श रूप में, परम सिद्ध ईश्वर के रूप में हैं।

अब दूसरी स्थिति मुक्त ईश्वर की है। इनका शरीर मनुष्य का है, किन्तु मनुष्य के तन में रहते हुए भी उन्होंने राग-द्वेष, मद-मत्सर आदि समय विकारों को नष्ट कर दिया है। उनका ज्ञान तथा सिद्धों का ज्ञान एक हो गया है। जितना ज्ञान सिद्ध ईश्वरों को होता है, उतना ही ज्ञान मुक्त ईश्वरों को भी होता है। वे मुक्त ईश्वर इस भूमंडल पर विचरण करते हैं, क्योंकि शरीर है और चार कर्म शेष हैं। किन्तु राग-द्वेष नहीं है और साधना के मार्ग पर चलते हुए उन्होंने यथाख्यातचारित्र को प्राप्त कर लिया है। इसी लिए वे मुक्त ईश्वर कहलाते है। उनका कर्तापन भी अन्य बद्ध ईश्वर के समान नहीं है। किन्तु उपदेश कर्ता के रूप में वे अपने मुखारविन्द से जनता को उनके हित-अहित का उपदेश देते हैं, उनके कल्याण का-मार्ग उन्हें बताते हैं। तटस्थ रूप से वे श्रेय मार्ग का संकेत करते है कि यह मार्ग ठीक है। वह मार्ग ठीक नहीं है- यह स्वर्ग का मार्ग है, वह नरक

का- यह पशु योनि में ले जाने वाला रास्ता है और वह मनुष्य योनि में, इत्यादि।

इसी प्रकार से मुक्त ईश्वर हमें आत्मा, अनात्मा, शक्ति, परमाणु तथा संसार किस रूप में हैं, इसका संकेत दे देते हैं, किन्तु वे किसी पर भी किसी भी प्रकार कोई दबाव नहीं डालते कि तुम्हें ऐसा ही करना है। वे तो कहते हैं- "जहा सुहं-देवाणुप्पिया।" अर्थात्- तुम को जैसे सुख हो, वैसा ही करो। किन्तु एक क्षण का मात्र का भी प्रमाद मत करो।

तटस्थ रूप से रह कर, जनता के कल्याण के मार्ग का संकेत करने वाले इन आत्माओं को मुक्त ईश्वर की संज्ञा दी गई है। ये पहाड़-पर्वत, हाट-हवेली इत्यादि वनाने में अपना कर्तृत्वपना नहीं करते हैं। जहाँ तक शक्ति का प्रश्न है, उनमें अनन्त शक्ति है, किन्तु वे ऐसा आचरण नहीं करते हैं।

तीसरे बद्ध ईश्वर हैं। ये माया-कर्म से बद्ध है। जितनी भी छल-कपट की बातें हैं, वे सभी इनमें विद्यमान है। अर्थात् मोह कर्म है तो उसके साथ अन्य कर्म भी लगे हुए है। ऐसी आत्मा चाहे मनुष्य के रूप में ही क्यों न हों, वे सभी वद्ध ईश्वर हैं तथा इस संसार के कर्त्ता-दृष्टा के रूप में है। वैज्ञानिक दृष्टि आपके सामने आ चुकी है। विज्ञान की महान उपलब्धियाँ भी आपके सामने हैं। नाना प्रकार के स्पुतनिक, अपोलो इत्यादि अन्तरिक्ष यान इन्हीं बद्ध ईश्वरों द्वारा निर्मित हैं भारत देश में ही भिलाई के कारखाने जैसे विशाल संयंत्र स्थापित कर लिए गए हैं। वहाँ लोहा गलकर फौलाद बनता है, फौलाद से बड़े-बड़े यन्त्र, बड़ी-बड़ी मशीनें तैयार होती हैं, अनेकों कारीगर वहाँ अपना-अपना काम करते हैं, उस निर्माण कार्य में अपना-अपना योग देते है।

अब यदि किसी जंगल में रहने वाले मनुष्य को ये सब कारखाने दिखाए जायें तो वह विस्मय विमुग्ध होकर रह जाएगा और विचार करने लगेगा कि इन सब चीजों को तो मनुष्य नहीं बना सकता, अवश्य ही ये सब वस्तुएँ तो भगवान द्वारा ही वनाई गई होंगी। उस अवोध व्यक्ति की सीमित कल्पना-शक्ति में यह बात आ ही नहीं सकती कि सामान्य मनुष्यों द्वारा ये सब वस्तुएँ बनाई जा सकती हैं। जबकि किसी नगर में रहने वाला व्यक्ति यह जानता है कि यह सब भगवान का नहीं, मनुष्य का ही वनाया हुआ है, फिर चाहे इन्हें वनाने वाले कारीगर रूस के हों, अमरीका के हों अथवा किसी अन्य देश के।

इतना सब जो कुछ निर्मित किया गया, उसे वनाने के लिए सिद्ध भगवान

आए अथवा मुक्त भगवान?

कोई नहीं आया। न सिद्ध भगवान आए और न ही मुक्त भगवान। यह सब कुछ तो मनुष्य के चोले में रहने वाले बद्ध ईश्वर द्वारा ही बनाए गए हैं। और इसी स्थान पर अन्त हो, ऐसा भी नहीं है। इतना तो आप सुन और जान ही चुके हैं, किन्तु आगे तो इससे भी अधिक आश्चर्य की बातें होने वाली है। सुना जाता है कि रूस में तथाकथित चन्द्रलोक पर एक ऐसी गाड़ी भेजी है जिसे चलाने वाला कोई नहीं है, किन्तु वहाँ जाकर वह अपना कार्य कर रही है। गाड़ी चलती जाती है और प्रयोगशाला में संकेत भेजती रहती है। इस प्रकार के ये जो यंत्र कार्य कर रहे है, वे कोई अपनी इच्छा अथवा शक्ति से ऐसा नहीं कर रहे हैं। इन्हें संचालित करने वाला व्यक्ति प्रयोगशाला में बैठा है। अस्तु, जीवन में मोह द्वारा परिचालित होकर मनुष्य के रूप में जो बद्ध ईश्वर स्थित है वही इन सब क्रियाओं को कर रहा है।

कुंभकार के रूप में बद्ध ईश्वर है वह घड़े बनाता है। इसी प्रकार ये जो विशाल कार्य पहाड़-पर्वत आदि दिखाई देते हैं, वे भी सब बद्ध ईश्वर के ही काम है। आप विचार कर सकते है कि ये मकान जो बनाए जाते है। इनके बारे में तो फिर भी समझ में आ सकता है कि ये मनुष्य ने बनाए हैं, लेकिन इतने बड़े इन पहाड़ों और पर्वतों को आखिर किस कारीगर ने बनाए हैं?

इस बात को समझने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बद्ध ईश्वर का रूप एक ही नहीं है। एकेन्द्रिय जाति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव, जो कि पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में रहे हुए हैं, वे सभी बद्ध ईश्वर का रूप है। पृथ्वीपिंड को बद्ध ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। एक पर्वत जो हमें दिखाई देता है वह पृथ्वीकाय का ही रूप है, वही बद्ध ईश्वर का रूप यह पृथ्वी तथा पर्वत बनकर हमें दिखाई देता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में चैतन्य आत्मा बद्ध ईश्वर के रूप में है, उसी प्रकार वही बद्ध ईश्वर सभी एकेन्द्रिय जीवों के भीतर भी स्थित है।

एक बन्धु ने प्रश्न किया कि अमुक स्थिति में यह जो कुछ इतना कार्य हो गया अथवा होता रहता है तो क्या भगवान से हो गया? इसके उत्तर में यही कथन है कि यह सर्वसिद्ध ईश्वर अथवा मुक्त ईश्वर से नहीं हुआ। यह तो

प्राणियों की देह में स्थित बद्ध ईश्वर द्वारा ही किया जा रहा है। मैंने आपसे कहा कि वैज्ञानिक रूप अभी सम्पूर्ण रूप में प्रकट नहीं हुआ है अभी तो और भी बड़े-बड़े चमत्कार सामने आ सकते हैं। इस स्थान पर मैं आपके जीवन का ही एक अनुभूत रूपक देता हूँ-

मनुष्य के शरीर में घाव लग जाए तो स्वयं ही उसे भरते हुए आपने देखा है कि नहीं? चाकू अथवा अन्य किसी तीक्ष्ण वस्तु द्वारा शरीर का कोई भाग कट जाने पर धीरे-धीरे वह घाव स्वयं ही भर जाता है। क्या सभी मनुष्यों को लगे हुए घाव भर जाते है? एक मनुष्य का शव पड़ा हो और उसमें घाव लगा हुआ हो, तो क्या वह भरेगा क्या? शव का घाव नहीं भरेगा। केवल जिसकी आत्मा में वह चैतन्य-बद्ध ईश्वर रहा हुआ है, उसी का घाव भरता है। घाव के भर जाने की यह क्रिया भीतर से होती है, उस चैतन्य तत्त्व के प्रभाव और शक्ति से ही होती है।

यही बात वनस्पतियों के विषय में भी है। किसी वृक्ष की छाल निकाल दी जाए तो उस स्थान पर थोड़े समय में नई छाल आ जाती है। इसके विपरीत एक सूखी लकड़ी को यदि छील दिया जाए तो उसके स्थान पर दूसरी छाल नहीं आती। इसका कारण यही है कि एक वृक्ष के भीतर बद्ध ईश्वर है। उसी की शक्ति से वनस्पतियाँ अपनी जड़ों के द्वारा मिट्टी तथा पानी में से अपनी खुराक प्राप्त करती रहती हैं, जबकि एक लकड़ी का टुकड़ा ऐसा नहीं कर सकता। वृक्ष में जो बद्ध ईश्वर है वह आठ कर्मों से युक्त है ऐसा नहीं कर सकता। वृक्ष में जो बद्ध ईश्वर है वह आठ कर्मों से युक्त है और मनुष्य के समान ही प्राणवान है। जिस प्रकार एक बालक को भोजन दिया जाता है तो उसका विकास होता है, उसी प्रकार इन वनस्पतियों में भी उनका भोजन मिलते रहने पर विकास होता है तथा उसी नियम के अनुसार घाव भी भरता है।अतः जिस प्रकार ये दो बातें मनुष्य में पाई जाती हैं कि भोजन मिलने पर वह विकास करता है तथा उसका घाव भर जाता है वहीं बात वनस्पतियों तथा मिट्टी के लिए भी है।

आप इन बड़ी-बड़ी पट्टियों को देख रहे हैं जिनसे कि इस भवन की यह छत बनी हुई है। ये पट्टियाँ किसने बनाई? मिट्टी के भीतर जो बद्ध ईश्वर स्थित है वहीं इस रूप में विकसित हो जाता है। पहाड़ खोदकर आप पट्टियाँ निकाल लेते हैं। वहाँ बड़े-बड़े बन जाते हैं। आप वहाँ कूड़ा-कर्कट भर देते हैं अथवा काल

क्रमानुसार वहाँ कूटा-कर्कट मिट्टी इत्यादि एकत्र होता रहता है और कालान्तर में वही से खोदने पर फिर पट्टियें निकल आती है। यह किस प्रकार होता है? अब आप समझ ही गए होंगे कि वहाँ पर मिट्टी में भी जीव है और अपने घाव भरने के लिए वहाँ विकास होता रहता है। अस्तु, से जो पहाड़ दिखाई दे रहे हैं, ये भी बद्ध ईश्वर से ही बढ़ रहे हैं और अपने-अपने विकास की दृष्टि से चल रहे हैं। तो इस दृष्टि से जो कर्तापने के प्रसंग से मैंने स्थिति-स्वरूप का वर्णन किया है उसके भाव प्रभु ने बताए है।

ये भाव किस रूप में कहे गये है? इनका क्या अभिप्राय है? इसका अभिप्राय यही है कि यदि आपके भीतर यह भाव जागृत हो जाए कि आप स्वयं ही स्वयं के निर्माता है, विधाता हैं, स्वयं ही ईश्वर रूप में बन सकते हैं, तो आप अवश्य विकास कर सकते हैं तथा इस बद्ध ईश्वरत्व की स्थिति से मुक्त ईश्वरत्व तथा सिद्ध ईश्वरत्व की स्थिति तक पहुँच सकते है।

इसके विपरीत यदि आपके मन में यह भाव जागे कि आप तो कुछ भी नहीं कर सकते हैं, आप में कोई शक्ति नहीं है, आप तो केवल एक कठपुतली मात्र ही हैं, जिसे कि कोई अदृश्य शक्ति प्रतिपल नचा रही है, तो आप विकास नहीं कर सकेंगे। अतः आपको यह जानना चाहिए कि आप कोई कठपुतली नहीं है। एक कठपुतली तो यदि उसे कोई नचाने वाला नहीं होगा तो उसी क्षण स्थिर होकर गिर पड़ेगी। किन्तु क्या आप भी वैसा ही करना पसन्द करेंगे? आपके नगर में सन्त पुरुष आएँ तब तो आप धर्मध्यान करें, किन्तु यदि वे नहीं आएँ तो आप कुछ भी न करें, यह स्थिति नहीं होनी चाहिए। आपमें स्वयं अपना चैतन्य है, आप में स्वयं में यह भावना और प्रेरणा होनी चाहिए कि आप किसी के आश्रय की अपेक्षा न करके स्वयं आगे बढ़े। आपको यह विचार अवश्य करना चाहिए कि आप सृष्टि में आये हैं तो आपके सुख-दुःख भी शरीर में है और उसी के साथ अनन्त शक्तियाँ भी हैं। जितना अनुभव ईश्वर कर रहा है, उतना ही अनुभव हम अपने जीवन के छोटे रूप में कर पाएँ, तो हमारी भावना उत्तमोत्तम बनेगी और हम आगे बढ़ सकेंगे। मन की जो भी गुत्थियाँ है, जीवन की जो भी जटिलताएँ है, उन्हें हम इस भावना से आगे बढ़ते हुए सुलझा सकते है। वीतरागभाव को मैं इसी दृष्टि से आपके समक्ष रख रहा था कि हम अपना कर्तृत्व अपने हाथ में

लेकर चलें। शास्त्र में कहा गया है कि-

'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ।।''

- यह आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है। यही भोक्ता है और यह अपने जीवन को जैसा चाहे बना सकता है। वीतराग देव ने तो इस नीति का निर्देश कर दिया कि आप चलें तो भला और न चलें तो भला। गीता में एक श्लोक आया है कि-

''उद्धरेदात्मनात्मानम् ....।''

- तू अपनी आत्मा से आत्मा का उद्धार कर। आत्मा ही आत्मा का शत्रु और बन्धु है। जीवन के उत्थान का महत् प्रश्न जहाँ हो, वहाँ किसी के हाथ की कठपुतली बनकर मत चलो। जयवंत शक्ति आप में स्वयं में निहित है। जीवन को सिद्धि के मार्ग पर अग्रसर करने की कला यदि आप सीख ले तो इस जीवन में चार-चाँद लगा सकते हैं। अनेक प्रकार की, बल्कि जिनका कोई अन्त ही नहीं, इतनी शक्तियाँ- अनन्त शक्ति- हमारी आत्मा में विद्यमान हैं। इसी शक्ति की पहचान कराने के लिए, इसी शक्ति को जागृत करने हेतु उपदेश दिया जाता है। एक रूपक मैं आपके सामने रख रहा हूँ उस पर मनन करें-

रूक्मणी मंगल-चरित्र

''जग हितकारी, दृढ़व्रतधारी जिनका जीवन है सुखकार।
जिनका जीवन है सुखकार, उनका होवे मंगलाचार।।''

- बन्धुओं! जो दृढ़व्रतधारी है और जग के हितकारी हैं, जो अपने जीवन का भार स्वयं उठाकर चलते हैं, अपने सुख-दुःख के जो स्वयं निर्माता बनते हैं, जो अपनी कर्तृत्व शक्ति अच्छे कार्य में, सदुद्देश्य में लगाते हैं तथा बुरे काम में इस शक्ति का अपव्यय नहीं करते हैं, वे ही पूज्य बनते है।

इस रूपक द्वारा मैं जिन महापुरुषों का वर्णन आपके सामने रखने जा रहा हूँ, उनके समय में सौराष्ट्र देश की क्या स्थिति थी इसका वर्णन कवि द्वारा किया गया है-

उस काल में द्वारिकापुरी इस पृथ्वी पर दूसरी अलकापुरी अथवा देवपुरी के ही तुल्य थी। शास्त्रीय वर्णन है- ''अलकापुरी संकासा।'' इस नगरी के निर्माण

का जहाँ वर्णन आया है वहाँ कहा गया है कि देवों ने इस नगरी का निर्माण किया। देवता भी बद्ध कर्ता के रूप में है। उनके द्वारा निर्मित इस नगरी का वर्णन बहुत विस्तृत है। गगनचुम्बी, उच्च, धवल, विशाल प्रासादों की श्रृंखला ही मानों पड़ी हुई है। बाजारों में भव्य दुकानें सुशोभित हैं। धन-धान्य की प्रचुरता है। कोई नागरिक वहाँ बेकार नहीं है। कोई व्यक्ति भूखा नहीं रहता। किसी के साथ अन्याय नहीं होता। वहाँ के लोगों में एक नैतिकता है, जिसका आलम्बन लेकर वहाँ के लोग सुखपूर्वक जीवन-यापन करते है।

यह स्थिति उस काल में द्वारिका नगरी तथा वहाँ के निवासियों की थी। उस स्थिति को ध्यान में रखते हुए हम जरा आज हमारी स्थिति पर विचार करें। आपका ब्यावर नगर नये ढंग से बसा हुआ है यह अच्छी बात है। इस नगर में भी बड़े-बड़े श्रेष्ठी एवं विद्वान हैं, यह भी प्रसन्नता की बात है। किन्तु क्या इस नगरी की स्थिति प्राचीन काल की द्वारिका नगरी के समान ही है। क्या इस नगरी में बेकारी नहीं है? क्या इस नगरी में सभी लोगों को आवश्यकतानुसार पूरा भोजन मिल पाता है? क्या इस नगरी में पनपने वाली भावी पीढ़ी में नैतिकता एवं धार्मिकता के भाव पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं? क्या आपने ऐसा सुप्रबन्ध कर रखा है कि बालकों को अन्य विषयों की शिक्षा के साथ-साथ आवश्यक एवं जितनी अनिवार्य है उतनी धर्म शिक्षा भी दी जाए?

बन्धुओ! यह बात गंभीरता से विचार करने की है। जिस स्थान पर बेकारी हैं, जहाँ पर लोगों को खाने को भोजन और पहिनने को वस्त्र भी पर्याप्त मात्रा में न मिलता हो, वहाँ वे लोग आत्मा के स्वरूप को समझने लगेंगे ऐसा सोचना ही व्यर्थ है। यह स्थिति किसी एक ही नगर में हो ऐसी बात नहीं है लगभग सम्पूर्ण देश में यही स्थिति दिखाई देती है। और जहाँ ऐसी दयनीय स्थिति होती है वहाँ मनुष्य स्वाभाविक रूप से सांसारिक पदार्थों के लोभ में पड़कर अपनी आत्मा तथा आत्मा के दिव्य गुणों को विस्मृत कर बैठते हैं।

द्वारिका नगरी में ऐसी स्थिति नहीं थी वहाँ श्रीकृष्ण थे। शिक्षण की दृष्टि से वहाँ कोई अभाव नहीं था। सभी प्रकार का शिक्षण वहाँ दिया जाता था। कहने को आज भारत में सैकड़ों और हजारों कालेज हैं। किन्तु इनमें जो शिक्षा दी जाती है वह एकांगी है, अपूर्ण है। इसके विपरीत द्वारिका नगरी में चाहे कालेज न रहे

हों, किन्तु सभी प्रकार की शिक्षा, जिसमें धर्म की शिक्षा भी सम्मिलित थी, योग्य आचार्यों द्वारा शिष्यों को प्रदान की जाती थी।

आखिर मैं इस द्वारिका का वर्णन आपने समक्ष क्यों रख रहा हूँ? इसलिए, कि आप भी अपने नगर के विषय में विचार कर सकें। आप सोचें कि क्या आपने अपने बालकों की शिक्षा के लिए समुचित व्यवस्था कर रखी है? व्यावहारिक एवं आर्थिक समस्या की पूर्ति के लिए स्कूल-कालेज तो है, किन्तु क्या उतना ही पर्याप्त है? क्या अपनी सन्तान का नैतिक धरातल ऊपर उठाने का गम्भीर दायित्व आपका नहीं है? क्या आप अपने इस दायित्व को पूर्णतया निभा रहे है? क्या इस नगर में धार्मिक शिक्षण का पूरा प्रबन्ध है? क्या यहाँ उपस्थित कोई व्यक्ति धार्मिक शिक्षण ले रहा है?

आप सब मौन हैं। अथवा मौन प्रकट कर रहा है कि ऐसी व्यवस्था आपने नहीं कर रखी है। तो यही चिन्तां की बात है। आप इस कमी का अनुभव ही नहीं कर रहे हैं। अपने बालकों को केवल आर्थिक-शिक्षण देकर आप अपने कर्तव्य की इतिश्री मान रहे हैं। किन्तु यह आपकी भयानक भूल है। आप नहीं· जानते, आप सोचते तक नहीं कि आपके बालक भविष्य में क्या करेंगे? उनके जीवन का क्या होगा? आपकी शक्ति, आपका पाप, धन में व्यय हो रहा हो तो वह क्या चिन्ता और दुःख की बात नहीं है?

आज राष्ट्र की जो स्थिति है वह आपसे छिपी हुई नहीं है। उसका कारण क्या है? उसका सबसे बड़ा कारण यही है कि आप अपने बालकों को अपने छात्रों को, इस राष्ट्र की भावी पीढ़ी को उचित शिक्षा नहीं दे रहे हैं और परिणामस्वरूप वे अनैतिक जीवन की ओर आँखें बन्द करके भागे चले जा रहे हैं- उस दिशा में, जिस दिशा में अन्धकार के भयानक गर्त हैं।

द्वारिका नगरी का वर्णन मैं आपके सामने इसी उद्देश्य से कर रहा हूँ कि आप यह भली प्रकार से जान सकें कि उस नगरी के क्या विशेषताएँ थी और उसे स्वर्ग के समान क्यों माना जाता था? द्वारिका नगरी को स्वर्ग की उपमा देने का तात्पर्य यही है कि वहाँ के निवासी धर्मनिष्ठ थे, उनका आचरण ऐसा श्रेष्ठ और पवित्र था कि देवता भी उसे देखकर ईर्ष्या कर उठें। और इस श्रेष्ठता के मूल में जो वात थी वह था धर्मिक शिक्षण। वहाँ के निवासियों को धर्म तथा नैतिकता

का शिक्षण पूर्ण रूपेण प्रदान किया जाता था। इस प्रकार वह नगरी इस दृष्टि से स्वर्गपुरी से भी आगे बढ़ जाती थी। क्योंकि स्वर्गपुरी में भी धर्मशिक्षा का तो अभाव ही है।

हमारा राष्ट्र धर्म निरपेक्ष राज्य है। एक सीमा तक यह ठीक हो सकता है। इसमें कोई हानि नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतंत्रता हो कि वह अपनी रूचि एवं विचारों के अनुसार अपने धर्म को माने। किन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि धर्म का लोप ही हो जाए। अतः यह अनिवार्य है कि हम अपने बालकों को धर्म की शिक्षा दें, जिससे कि वे स्वयं अपने जीवन का कल्याण कर सकें तथा अपने समाज एवं राष्ट्र को ऊँचा उठा सके।

धर्ममय आचरण के लिए तो देवता भी लालायित रहते है। उनकी यह इच्छा बनी रहती है, वे चिन्तन करते है कि उन्हें इस पृथ्वी पर निवास करते हुए धार्मिक जीवन व्यतीत करने का सुअवसर प्राप्त हो। यहाँ जन्म लेकर वे चाहे किसी सेठ के रूप में रहें अथवा दास-दासी के रूप में ही क्यों न रहें, किन्तु जन्म इस पृथ्वी पर मिलना चाहिए और मनुष्य-देह में रहकर धार्मिक आचरण कर सकने का अवसर प्राप्त होना चाहिए, ऐसी उत्कट आकांक्षा देवताओं की भी रहती है।

बन्धुओ! विचार कीजिए कि क्या यह दुर्लभ मानव-जीवन प्राप्त करने के पश्चात भी जिसके लिए कि देवता भी तरसते हैं, आप अपने जीवन को ठीक दिशा में ले जा रहे है अथवा नहीं? क्या आप अपने कुल की रीति के अनुसार धर्ममय जीवन व्यतीत कर रहें है? यदि आप ऐसा नहीं कर रहे है तो आप स्वयं के प्रति घोर अन्याय कर रहे हैं तथा अपने समाज एवं राष्ट्र के साथ भयानक द्रोह कर रहे है। धर्म के लिए आप सबके हृदय में एक उल्लास होना चाहिए और वह सदैव बना रहना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ समय के लिए चातुर्मास काल में आप उल्लास प्रदर्शित करें तथा सन्तों के विहार कर जाने पर आप सब कुछ भूल-भाल कर फिर उसी पापमय जीवन में डूब जायें।

इसके लिए यह आवश्यक है कि बाल्यकाल से ही आप अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा प्रदान करें जिससे कि आगे चलकर सम्पूर्ण जीवन में वे धर्म के मार्ग से एक इंच भी इधर-उधर न हों। उनके हृदय में धर्म के लिए ऐसा तीव्र अनुराग, ऐसी तीव्र लगन और ऐसी अडिग आस्था होनी चाहिए कि चाहे प्राण भले ही चले

जाए किन्तु धर्म न जाए, धार्मिक आचरण में तनिक भी शिथिलता न आए। आपके घरों में से समाज और राष्ट्र को ऐसे वालक प्राप्त होने चाहिए जिनका जीवन नैतिक तथा प्रमाणिक हो। और जिसे देखकर लोग कहें कि काश! ऐसे युवक हमारे समाज में भी होते।

किन्तु आपके यहाँ तो नैतिकता का अभाव है। समूचे राष्ट्र में एक प्रकार का विप्लव मच रहा है। किसी को भी यह नहीं सूझता कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह स्थिति कितनी भयावह है? यह हालत हमें कहाँ ले जाकर पटकेगी? हमारे जीवन का क्या होगा? धार्मिक शिक्षण तथा नैतिक आचरण के अभाव में समूचा राष्ट्र विनष्ट हो जाएगा इस बात की चिन्ता कोई आज करता नहीं है। आत प्रत्येक परिवार में अशान्ति उच्छृंखलता अन्याय दिखाई देते हैं। भाई-भाई में लड़ाई होती है, पिता-पुत्र में अनबन होती रहती है, सास-बहु में गाली-गलौच मची रहती है। ऐसा क्यों होता है? इस भयावह स्थिति का मूल कारण क्या है? आप लोग इस पर कभी विचार क्यों नहीं करते हैं?

इसका एक मात्र कारण यही है कि आप में धार्मिकता है ही नहीं। आप स्वयं धार्मिक आचरण नहीं करते हैं और अपने बालकों को अभी अपने धर्म की शिक्षा से वंचित कर रखा है। यह दोष आपका है यदि आप स्वयं अपने आचरण को शुद्ध रखें तथा अपने बालकों को समुचित धर्म-शिक्षा प्रदान किए जाने का प्रबन्ध करें तो कोई कारण नहीं कि समाज की ऐसी दुर्दशा हो। धार्मिक संस्कार आने पर ये सब झगड़े समाप्त हो जायेंगे। क्रोध और ईर्ष्या का स्थान प्रेम तथा सहानुभूति ले लेंगे, लड़ाई-झगड़े के स्थान पर सहयोग तथा सौहार्द्र का वातावरण दिखाई देगा और आप सुखी वनेंगे, समाज फलेगा-फूलेगा, राष्ट्र उन्नत बनेगा।

द्वारिका नगरी तथा स्वर्गपुरी में, अथवा द्वारिका नगरी तथा आपकी नगरी में यही मूलभूत अन्तर है। समस्या के इसी मूलविन्दु पर विचार कीजिए और आपके सामने आज जो अन्धकारमय भविष्य दिखाई दे रहा है उससे बचने का प्रयत्न कीजिए। द्वारिका की सवसे वड़ी विशेषता यही थी कि वहां ज्ञानी पुरुष थे। ज्ञानी पुरुषों से मेरा तात्पर्य केवल अक्षरज्ञानियों से नहीं है। मेरा अभिप्राय है कि द्वारिका के निवासी वस्तुतः आध्यात्मिक ज्ञान के धनी वने। वे ज्ञानी थे, इसलिए ध्यानी भी थे। ज्ञान और ध्यान की पावन सुरसरिता वहाँ प्रवाहित रहती थी। सच्चे

ज्ञानी होने के कारण वे नैतिक आचरण के पथ पर मौन व्रत के साथ निरन्तर अग्रगामी बने रहते थे। आज के हमारे राष्ट्र के ढोंगी नागरिकों की भांति वे नैतिक आचरण के अभाव में अपनी कमजोरियों और खोखलेपन को छिपाने के लिए बढ़-बढ़कर बातें नहीं बनाया करते थे, अपनी झूठी शक्ति का ढोल नहीं पीटा करते थे। वे तो धर्मनिष्ठ थे, नैतिक थे, ज्ञानी थे, ध्यानी थे, मौनव्रती थे।

आप जरा सोचिए और बताइये कि आप लोगों में से ऐसे कितने महानुभाव हैं जो कि मौन की साधना करते हों? शायद एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा। तो मेरा आपसे यह आग्रह है कि इस बात को भली प्रकार से समझने का प्रयत्न कीजिए। आवश्यकता के अनुसार ही कम से कम बोलना मनुष्य का गुण है। आवश्यकता से अधिक बोलने से अनेक प्रकार के झगड़े खड़े हो जाते हैं। आप जानते है- कि श्रावक के जो इक्कीस गुण बताए गए हैं उनमें सबसे पहले बोल में ही कहा गया है कि- "पहिले बोले श्रावक जी कम बोले और काम पड़्या से बोले।"

इस बात को आप जानते है। आपने इसे पढ़ा भी होगा और हम साधु-सन्तों से अनेक बार सुना भी होगा। किन्तु जानकार और सुनकर फिर आगे क्या हुआ? क्या आपने इसे अपने आचरण में भी उतारा? यदि आपने केवल एक कान से सुनकर दूसरे कान से बाहर निकाल दिया तो हमारा कहना भी व्यर्थ गया और आपका सुनना भी व्यर्थ गया। इसलिए कहता हूँ कि जो कुछ सुनें उस पर आचरण भी करें। अधिक और अनावश्यक बोलना अत्यन्त हानिकर है। प्रायः देखा जाता है कि बोलते-बोलते बात का बतंगड़ बन जाता है। लड़ाई-झगड़े हो जाते है। यहाँ तक कि मारपीट और खून-खराबी भी हो जाती है। यह कितने दुःख और चिन्ता की बात है।

बन्धुओ! एक प्रसंग आपके सामने उपस्थित करता हूँ, आप उस पर मनन करें-

किसी समय एक छोटे-से कस्बे में एक निर्धन व्यक्ति रहता था। पूर्वजन्म के कर्मों का उदय कुछ ऐसा था कि वह बेचारा परिश्रम करता था, किन्तु उसकी स्थिति वैसी की वैसी ही बनी रहती थी। उसका पुरुषार्थ भी एक प्रकार से व्यर्थ हो जाता था। कार्य करने पर भी उसे कुछ मिल नहीं पाता था।

एक दिन संक्रान्ति का दान देने का दिन आया। उस व्यक्ति ने सोचा- ''इस दिन लोग दान दिया करते है। मैं भी चलू और दान प्राप्त करने का प्रयत्न करूँ। यह विचार उसके मस्तिष्क में आया ही था कि इससे जुड़ा हुए एक प्रश्न भी उसके मन में उदित हुआ। वह प्रश्न था कि लोग जो दान देते हैं, वह ब्राह्मणों को देते हैं। मैं तो जाति का ब्राह्मण नहीं हूँ, फिर मैं क्या करूँ? मुझे दान कैसे प्राप्त हो सकता है?

सोचते-सोचते उसे विचार आया, उपाय सुझा कि मैं असली ब्राह्मण नहीं हूँ, किन्तु कृत्रिम ब्राह्मण तो बन ही सकता हूँ। यह सोचकर उसने गले में सूत का धागा डाल लिया, कान में जनेऊ लगा ली और छापा-तिलक-चढ़ाकर ब्राह्मण के रूप में हो गया। इस प्रकार वेश-परिवर्तन करके वह अन्य ब्राह्मणों के साथ मिल गया और वस्ती में दान लेने चला गया। उस दिन उसे दान के रूप में कुछ सामग्री मिल भी गई। वह वहुत प्रसन्न हुआ।

घर आकर मध्याह्न के समय वह अपनी टूटी खाट पर लेट गया और वह सामग्री उसने खाट के नीचे रख ली। प्रातःकाल बस्ती में इधर से उधर घूमते हुए वह काफी थक गया था। अतः उसे धीरे-धीरे झपकी-सी लग गई और उसे अर्धनिद्रा की-सी अवस्था में उसकी कल्पना में पंख लगे। अपनी उस निद्रा में उसने कल्पना की- 'वस! वस! अव तो आनन्द आ गया। अब तो मैं फिर से धनवान बन जाऊँगा। आज जो सामग्री मुझे प्राप्त हुई है, इसे मैं कल बेचूँगा। इससे मुझे लाभ होगा। जो धन मुझे मिलेगा उससे मैं घास के पूले खरीदूँगा और गाड़ी में भरकर नगर में बेचने जाऊँगा। इससे मुझसे और भी अधिक धन मिलेगा। और अधिक घास रह गई तो फिर एक भूरी भैस खरीदूंगा। उस भैस के दूध को मैं जमा दूँगा। फिर बिलौवना करूँगा। मक्खन निकलेगा। मक्खन को मैं फिर वाजार में वेच दूँगा। खूब धन मिलेगा। और मैं वची हुई छाछ को भी वेचूँगा। इस प्रकार मैं थोड़े ही दिनों में खूव धनवान बन जाऊँगा।

इस प्रकार वह भोला, निर्धन कर्मों का फल भोगता हुआ व्यक्ति कल्पना का आनन्द लिए चला जा रहा था और तन्द्रा में इन्ही वातों का उच्चारण भी करता चला जा रहा था। उसकी पत्नी भी पास में ही सोई पड़ी थी। उसने जव अपने पति का वड़वड़ाना सुना तो सोचने लगी कि ये किससे वातें कर रहे है? ध्यान से

देखा-सुना तो पता चला कि अपने-आप ही वे बोल रहे हैं और तन्द्रा में हैं। उसने यह देखकर मौन धारण कर लिया। किन्तु फिर भी उससे रहा नहीं गया और वह भी अपने आप बोलने लगी- 'आप सब कुछ करोगे तो ठीक है। किन्तु छाछ में से आधी छाछ तो मैं अपने पीहर भेजूँगी। मेरा भी आधा हक है।

इन शब्दों का उच्चारण होने पर पति की तन्द्रा टूट गई। वह बोला- ''क्यों री! तूने क्या कहा?

पत्नी ने उत्तर दिया- ''आप सब कुछ करोगे, तो करना। मैं आपको नहीं रोकती। किन्तु आधी छाछ तो मैं अपने पीहर अवश्य भेजूँगी।''

पति को क्रोध आया। वह गरजा- ''कैसे भेजेगी? मैं देखता हूँ कि तू आधी छाछ अपने पीहर- कैसे भेजेगी?''

पत्नी भी पीछे हटने वाली नहीं थी। आखिर- वह उसकी अर्धांगिनी थी। आधा हक वह अपना भी समझती थी। सो वह भी उत्तेजित होकर बोली- ''मैं इतनी मेहनत करूँगी। दही जमाऊँगी, बिलौवना करूँगी, सब कुछ करूँगी और इतना करने पर भी क्या मैं आधी छाछ अपने पीहर नहीं भेज सकती? अरे छाछ तो क्या, मैं चाहूँ तो आधा मक्खन भी अपने पीहर भेज सकती हूँ। समझे? तुमने आखिर मुझे समझ क्या रखा हैं?

पत्नी का यह उत्तर सुनकर वह व्यक्ति आग-बबूला हो गया। बड़बड़ाते हुए उसने एक डंडा उठाकर पत्नी की पीठ पर जमा दिया। डंडा पड़ा और औरत चिल्लाई। आवाज सुनकर अड़ौसी-पड़ौसी वहाँ इकट्ठा हो गए कि मामला क्या है? यहाँ यह लड़ाई किस कारण हो रही है? लोगों को देखकर वे पति-पत्नी जोर-जोर से एक दूसरे पर दोष बताने लगे। आखिर लोगों ने पूछा- ''भाई! पहिले यह बता कि तूने इसे पीटा क्यों?''

उसने उत्तर दिया- ''यह कहती है मैं आधी छाछ पीहर भेजूँगी। मैंने कहा तू आधी छाछ पीहर नहीं भेज सकती । तो यह कहती है कि मैं तो अवश्य भेजूँगी। यह सुनकर मुझे क्रोध आ गया और मैंने उसे पीट दिया।''

यह सब माजरा देख-सुनकर एक चतुर व्यक्ति ने एक मुक्का कसकर उस व्यक्ति को पीठ पर जमा दिया। तब उसने पूछा- ''तुमने मुझे क्यों मारा?''

उस चतुर व्यक्ति ने उत्तर दिया- ''देखा, तेरी भूरी भैंस ने मेरा खेत

उजाड़ दिया। अव मैं तुझे मारूँ नहीं तो क्या तेरी पूजा करूँ?"

यह सुनकर वह व्यक्ति वोला- "लेकिन भाई, भैस है कहाँ?"

चतुर व्यक्ति ने तव उसे समझाया- "अरे भले मानस! जब भैस है ही नहीं, तव तू छाछ के लिए अपनी पत्नी से लड़ाई क्यों कर रहा हैं?"

अपनी भूल उस व्यक्ति को तुरन्त समझ में आ गई।,

तो वन्धुओ! यह प्रसंग मैंने आपके समक्ष प्रस्तुत किया। अब मैं सोचता हूँ कि कहीं आज-कल अधिकाश वड़े-वड़े परिवारों में जन्म लेने वाले मेरे भाई ऐसा काम तो नहीं कर रहे है? आप स्वयं अपनी ही स्थिति से विचार कीजिए। यदि यह दोष कहीं आप में दिखाई देता हो तो उसे दूर कर दीजिए। मौन रहकर हम अच्छी साधना कर सकते हैं। अधिक, अनावश्यक और व्यर्थ की बातें बोलने से क्लेश और कलह बढ़ता है। किन्तु यदि आप मौनी- ध्यानी बनकर चलेंगे तो आप ईश्वरीय शक्ति की ओर वढ़ सकते हैं। यह तत्वं मैंने आपको कर्त्तव्य के दृष्टिकोण तथा शास्त्रीय दृष्टिकोण से कहा है। इस दृष्टि को लेकर आप चलेंगे तो आपका जीवन मंगलमय बनेगा। यह जीवन के लिए स्थिति का कथन है। किन्तु कृष्ण महाराज का जीवन कैसा था? और वह रूक्मिणी महासती कैसी थी? प्रसंगानुसार आगे कभी इसकी चर्चा करूँगा। अभी तो मैं आपकी बुद्धिरूपी रूक्मिणी को सम्बोधित कर रहा हूँ कि वहाँ यदि ठीक बुद्धि वनाएंगे तो आपका जीवन इस लोक तथा परलोक में सुखी बनेगा।

इत्यलम्

****

किंम् जीवनम्, जीवन क्या है?

"असंखयं जीविय मा पमायए ....।
शान्ति जिन एक मुझ वीनती ....।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण आपके सामने किया जा रहा है। आज एक गाथा का उच्चारण अधिक हुआ है तथा गाथा छोड़ भी दी गई है। जिन गाथाओं के विषय में पूर्व में चर्चा हो चुकी है, उन्हें छोड़कर अगली गाथाओं के रूप का वर्णन करने का प्रयास किया जा रहा है।

बन्धुओ! भगवान के चरणों में अथवा उनकी सेवा में अपना आत्म निवेदन करना तथा उनकी आदर्श, मंगलकारी छाया में अपनी आत्मा का अवलोकन करना यह मानव-जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है। मनुष्य यदि ईश्वर के स्वरूप को पूर्णरूपेण समझने का प्रयास करे तो मानव-जीवन की वह चरम सीमा प्राप्त की जा सकती है जहाँ सभी भव्य प्राणियों को पहुँचना है।

प्रभु अनन्त शक्तिवान है। वे ऐसे विमल ज्ञान के स्वामी है, जिसका कहीं कोई अन्त ही नहीं है। जिसका पार कोई पा नहीं सकता है। उनके सुख का कोई अन्त नहीं है, तथा वे परम शान्ति के निधान है। ऐसे श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्रभु का आप स्मरण करें, उनके नाम का स्मरण करें।

नाम प्रभु के अनेक हैं। आप जब प्रभु का स्मरण करें तब वास्तव में उस नाम के माध्यम से प्रभु के गुणों का ही स्मरण करें, अन्यथा केवल नाम का स्मरण या उच्चारण विशेष महत्व नहीं रखेगा। नाम की दृष्टि से आपको उस अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। नाम की सीमा केवल नाम तक ही नहीं रह जानी चाहिए

क्योंकि नाम तो शब्द रचना के रूप में है। शब्द भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न हैं। भाषाएँ भी अनेक हैं। हिन्दी भाषा का ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति हिन्दी शब्दों के माध्यम से प्रभु का स्मरण करता है। अंग्रेजी का ज्ञान रखने वाला मनुष्य अंग्रेजी के माध्यम से प्रभु की प्रार्थना करता है। इसी प्रकार उर्दू-फारसी, फ्रैंच, जर्मन इत्यादि अलग-अलग भाषाएँ हैं, और इन भाषाओं को जानने वाले लोग अपनी-अपनी भाषा में प्रभु के नाम का स्मरण करते है। तो भाषा से कोई अन्तर नहीं पड़ता। शब्द से कोई प्रभाव भिन्न नहीं हो जाता। भिन्न-भिन्न भाषाओं के कारण प्रभु का स्वरूप नहीं बदल जाता, यह ध्यान देने की बात है। प्रभु का स्वरूप तो एक ही है और वह सर्वकाल, सर्वदेश के लिए है। अतः किसी भी शब्द के माध्यम से हमें प्रभु के पूर्ण शुद्ध एवं पवित्र रूप को ही देखना चाहिए, इन शब्दों में प्रभु के उसी स्वरूप का द्योतन होना चाहिए, तभी भाषा की अनेक रूपता होते हुए भी भावों की एकरूपता रहेगी।

यदि ऐसे एकरूपता आ सके और भिन्न-भिन्न शब्दों के रहते हुए भी हम उस एक ही अर्थ पर अपनी जागृत दृष्टि रख सकें तो मानव-जीवन में बहुत बड़ी शक्ति संचित हो सकती है।

इसके विपरीत यदि मानव ने विभिन्न भाषाओं के आधार पर भगवान को भी अलग-अलग बनाने का प्रयास किया तो परिणाम क्या होगा? वह परिणाम मानव के लिए बड़ा भयानक होगा। प्रभु का स्वरूप तो बदलेगा नहीं, किन्तु मानव-जीवन खंडित हो जायेगा, मानव-जीवन के टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे।

वन्धुओं! जीवन में आत्म स्वरूप तो एक ही है। उसे जानने-पहचानने तथा व्यक्त करने के लिए साधन उपलब्ध तीन रूपों में है- मन, वचन तथा काया। मनुष्य अपनी आत्मा को अथवा अपने वास्तविक स्वरूप को तीन दृष्टियों से व्यक्त करता है। इन तीन स्थानों से भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति होने पर भी अपने आत्मस्वरूप को वह अखण्डित रूप में ही देखता है। मनुष्य जब किन्ही भी वचनों का उच्चारण करता है, मन की कल्पना को उड़ान में ले जाता है और संसार की प्रवृत्ति शरीर पर रखता है, तो उस समय क्या वह अपने भीतर चैतन्य के स्वरूप को, एकत्व को भुलाता है? नहीं मनुष्य इस स्थिति में भी अखण्डित रहता है। उसी प्रकार इस विश्व में परमात्मा का स्वरूप भी शुद्ध रूप में रहा हुआ है। इसी

शुद्धस्वरूप को वह अपना साध्य बना सकता है। एक समय के नाम से उसे पुकारा जा सकता है।

तो उस परम्परा को आप इसी रूप में समझें। शब्दों की भिन्नता का प्रवाह आप उस समुद्र में ले जाकर छोड़ दें। आप जानते हैं कि विभिन्न नदियों-नालों से पानी बहता हुआ आता है, किन्तु वह सारा जल उस विराट् अगाध समुद्र में एक रूप हो जाता है। उसमें मिल जाने पर कोई नदी पृथक नदी नहीं रहती, किसी नदी का जल अपना अलग अस्तित्व नहीं रखता। इसी प्रकार परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है। विभिन्न आत्माएँ यदि अपने स्वरूप को सिद्ध परमात्मा के स्वरूप में व्यक्त कर लेती हैं तो वहाँ एकत्व की भावना हो जाती है, दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न नहीं रहती, शुद्ध संग्रहनय की एकत्व दृष्टि एकत्व भावना वहाँ आकार ले लेती है। भीतर का एक चिन्तन एक ही रूप में वहाँ जागृत हो जाता है। मानव-जीवन अपने समग्र जीवन का अंकन करके अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के लिए तत्पर हो जाता है।

अस्तु बन्धुओं! आज मैंने शान्तिनाथ भगवान के चरणों में इस प्रार्थना की कड़ियों के माध्यम से जो अपने भाव व्यक्त किए हैं, यद्यपि भाव इन कड़ियों में कवि आनन्दघनजी के हैं, किन्तु व्याख्या के रूप में इनमें अपने भाव मैंने भी जोड़े है तथा प्रभु का स्वरूप आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। हमारे शब्दों की यह भावना ऐसी आनन्ददायक बने कि जिससे हमारा वर्तमान जीवन भी स्वर्गीय सुख का आभास देने वाला बने तथा हमारा भविष्य भी उज्जवल बने।

आज के प्रबुद्ध वर्ग को, विचारक-वर्ग को, विद्यार्थी वर्ग को इस विषय में गहराई से चिन्तन करने की आवश्यकता है। यह विचार किया जाना चाहिए कि हमारा वर्तमान जीवन कहाँ है? हम आज किस रूप में हैं, किधर चल रहे हैं? क्या ये दिखाई पड़ने वाले दो हाथ, दो पैर, दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका छिद्र और एक जिह्वा रूप पिण्ड ही हमारा जीवन है? अथवा जीवन उससे भी कुछ परे है? यदि मनुष्य की दृष्टि इस भौतिक पिण्ड तक ही सीमित रह गई और इसी को मनुष्य ने अपना सर्वस्व समझ लिया तो उसका वर्तमान जीवन भव्य आनन्द नहीं पा सकेगा।

मनुष्य को विचार करना चाहिए कि ऐसा पिण्ड जो कि दिखाई दे रहा है,

वह तो कभी-कभी पशु कहलाने वालों में भी दृष्टिगत होता है। ठीक वैसा ही पिण्ड, मनुष्य का वैसा ही रूप पशु भी लेकर चलते है। पशु की आकृति भी मनुष्य के समान दिखाई देती है। प्रसिद्ध नृतत्वशास्त्री डारविन के अनुसार मनुष्य का विकास गुरिल्ले वन्दरों से ही हुआ है। यद्यपि डारविन के इस सिद्धान्त को वाद में अनेक वैज्ञानिकों ने स्वीकार नहीं किया है, फिर भी हम मनुष्य का अंकन इस दृष्टि से करें और अपने वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयन्त करें। मनुष्य की आकृति धारण करने वाला वन्दर भी अपनी समग्र चेष्टाओं से मनुष्य के समान प्रतीत होता है। और यदि मनुष्य भी केवल उसी प्रकार की चेष्टाओं में अपना सारा जीवन व्यतीत कर दे तव उसमें और वन्दर में, जो कि एक पशु है, क्या भेद रह जाएगा?

खाना-पीना, अर्थसंग्रह, वाल-बच्चों की परवरिश करना इत्यादि प्रवृत्तियाँ तो वानर भी कर लेता है। तव यदि मनुष्य भी इतना ही करता रहे तो वह स्वयं को मानव कहने का अधिकारी कैसे होगां? यदि उसका धरातल, उसके जीवन को चेष्टाएँ पशु के समान ही हैं तो वह एक पशु से श्रेष्ठ नहीं हो सकता तथा मानव-जीवन के जो दिव्यस्वप्न हम देखते हैं, वे कभी चरितार्थ नहीं हो सकते। हाँ, वन्दर का कभी इतना विकास नहीं हुआ कि वह मनुष्य के समान अर्थ-संग्रह कर सके अथवा अपनी संग्रहवृत्ति को बढ़ा सके। मनुष्य का विकास हुआ, किन्तु उस विकास से जो वास्तविक हित वह अपना कर सकता था, वह न करके मनुष्य केवल इस पिण्ड की पूजा में ही लग गया। मनुष्य की यह संग्रहवृत्ति किसी भी प्रकार मानव-जीवन को समझने, उसका उत्थान करने के लिए उपयोगी नहीं हो रही है। उल्टे यह वृत्ति उसे स्वार्थ तथा भौतिकता में लिप्त कर रही है। इस दिशा में चलने पर मनुष्य का कल्याण किस प्रकार हो सकता है यह विचार करने का विन्दु है।

दार्शनिक क्षेत्र में अनेक विद्वान दार्शनिक दृष्टि से जीवन की परिभाषा करने के लिए तत्पर होते है। उनके मन मस्तिष्क में प्रश्न उठता है कि "किम जीवनम्?" अर्थात् जीवन क्या है? जिस प्रकार इन विद्वानों के मस्तिष्क में यह प्रश्न उठता है, उसी प्रकार यही प्रश्न क्या आज के युवक वर्ग के मस्तिष्क में भी उठता है? क्या आज का छात्र-वर्ग कभी विचार करता है कि "किम् जीवनम्?" आखिर जीवन क्या है? क्या इस पिण्ड को ही जीवन समझ लिया जाए तो सर्व

प्रकार यदि ऐसा ही मान लिया गया तब तो सभी प्रकार के प्राणी जो इस पिण्ड में रह रहे हैं- तब मनुष्य एवं उन क्षुद्र प्राणियों में क्या अन्तर हुआ?

किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यह पिण्ड-जीवन नहीं है। हमारे छात्र वर्ग को यदि यह बात भली प्रकार समझाई जाएगी तो वे इसे समझ सकेंगे और उनके जीवन का कल्याण होगा। जीवन का यह विराट् स्वरूप अवश्य ही उनकी समझ में आ सकेगा और हमारा कर्तव्य है कि हम स्वयं भी बात को ठीक प्रकार से समझें तथा बालकों को, छात्रों को, युवकों को, मार्ग से भटक रहे अज्ञानी भाइयों को भी यह बात समझाएँ।

अस्तु, "किम् जीवनम्" के प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि- "दोषविवर्जितम् जीवनम्।" अर्थात्, दोषों से रहित जो है, वह जीवन है। जब तक दोषों की स्थिति मानव-जीवन में हे, तब तक वह जीवन वस्तुतः जीवन नहीं है। दोषों से पूर्ण जीवन तो एक प्रकार की मशीन ही कहीं जा सकती है। एक मशीन नोट छापती चली जाती है या सिक्के ढ़ालती चली जाती है। उसी प्रकर से यदि एक मनुष्य केवल धन का संग्रह करते चले जाने में ही अपने जीवन को इतिश्री मान लेता है तो उसका जीवन दोष सहित है, इसलिए वह वास्तविक जीवन है ही नहीं। "दोषोविवर्जितम् जीवनम्" की परिभाषा तक उस मनुष्य का जीवन नहीं पहुँच सकता।

दोष रहित जीवन का जहाँ प्रश्न आता है, वहाँ मानव की मानव के साथ आत्मीयता का भाव उठता है, एक-दूसरे में विश्वास उत्पन्न होता है, प्रेम एवं सहानुभूति का स्वर्गीय वातावरण बनता है। यह स्थिति बनने पर मनुष्य अपने भीतर एवं बाहर के जीवन को समझता है तथा विचार करता है कि बाहर का जीवन ही सब कुछ नहीं है। बाहर का जीवन जब तक उसके भीतर के जीवन से सम्बद्ध नहीं होता तब तक किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति असम्भव है। मानव-जीवन में एक नई चेतना, एक नवीन स्फुरणा लाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि मनुष्य अपने भीतर एवं बाहर के जीवन को सही प्रकार से समझे और वैसा आचरण करना आरम्भ करे।

आज मानव की स्थिति इन विचारों तथा कार्यों के बिना चल रही है। जीवन यंत्रवत् चल रहा है, यह ठीक नहीं है। प्रत्येक विद्यार्थी को सोचना चाहिए

कि मैं उस यंत्रवत् जीवन को लेकर चल रहा हूँ तो इससे कौनसी उपलब्धि होने वाली है? प्रक्रिया की अन्तिम परिणति क्या होगी? जीवन में आज एक शान्त क्रान्ति की आवश्यकता है, जिससे हम ऐसी शक्ति प्राप्त कर सकें कि स्वयं अपना कल्याण करते हुए विश्व का भी कल्याण कर सकें। ऐसी भावना जागृत होने पर ही हम अपने जीवन को समझ पाऐंगे और दोष रहित हो सकेंगे।

मनुष्य आज दोषों के ढेर में डूबा हुआ है। गल्तियों का पुतला बना हुआ है। वाहर के जीवन पर ही उसकी आँख ठहरी हुई है, भीतर के जीवन का उसे ज्ञान ही नहीं है। इस कारण पारिवारिक जीवन छिन्न-भिन्न हो रहे हैं। परिवार में क्लेश-कलह, मनमुटाव तथा संघर्ष वढ़ रहे है। संकुचित एवं स्वार्थी प्रवृति बढ़ रही है। पवित्रता और प्रेम का स्थान अशुद्धता तथा धूर्तता ने ले लिया है। यह सव मनुष्य के दोषपूर्ण विचार एवं आचार का ही परिणाम है। यदि मानव जीवन दोष विवर्जित हो तो जीवन सुन्दर बन सकता है। परिवार में एक प्रेम का वातावरण पुनः बन सकता है कि सब मिलकर सुखी जीवन व्यतीत करें। अतः मनुष्य को अपने दोषों को परिमार्जित करते हुए चलना चाहिए। उसी से पारिवारिक जीवन शान्त वनेगा तथा समाज आगे बढ़ेगा।

मूल विन्दु अपना लक्ष्य स्थिर करने का है। जो व्यक्ति अपना लक्ष्य ही भौतिकता को वनाएगा वह शान्ति को क्या समझेगा? शान्ति उसे कैसे प्राप्त होगी? किन्तु जो व्यक्ति आत्मा को अपना साध्य बनाएगा, वही चरम शान्ति एवं सुख को प्राप्त कर सकेगा। ऐसा व्यक्ति व्यर्थ की बातों में उलझकर अपने जीवन को नष्ट नहीं करेगा। वह तो शुद्ध आत्मस्वरूप का उपासक बनकर जीवन की महत्वपूर्ण कड़ियों को जोड़ता हुआ आगे बढ़ेगा।

जिस मनुष्य के भीतर आत्मिक शान्ति का संचार होता है, उसे फिर वाहर की किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। वाहर की समस्त वस्तुएँ, दिखावे और शान-शौकत के सभी पदार्थ उसके लिए निरर्थक हो जाते है। वह सादगी के मूल्य को समझने लगता है और उसमें उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। उसके भीतर से भौतिकता के, पाशविकता के संस्कार लुप्त हो जाते है तथा ऐसी भावना उसके हृदय में व्याप्त हो जाती है कि जिससे समस्त मानवों का कल्याण हो।

आज तो परिस्थिति विषम वन गई है। मनुष्य फैशन में इस प्रकार डूव

रहा है कि उसे सच्चे सुख का आभास भी अब नहीं रहा। यहाँ तक कि पवित्र धार्मिक स्थलों पर भी आकर उसके दिमाग में श्रृंगार और प्रसाधन का भूत दूर नहीं होता। इस प्रकार धर्मस्थान में बैठकर भी वह दोष रहित न होकर दोष सहित बना रहता है। हमारी ये माताएँ यहाँ धार्मिक स्थल पर होती हैं, धर्म के वचन सुनने आती हैं, किन्तु तरह-तरह के श्रृंगार करके, आभूषणों से लदकर, बहुमूल्य जरी-गोटे के वस्त्र धारण करके आती है। ऐसी स्थिति में उनका सारा ध्यान तो अपने श्रृंगार पर ही टिका रहता है, तब वे धर्म का उपदेश कैसे सुनेंगी? धर्मस्थान में आकर सादगी का जीवन अपनाना चाहिए, सरलता और शुद्धतारूपी आत्मिक सौंदर्य को बढ़ाना चाहिए जो कि मनुष्य का वास्तविक श्रृंगार है, सच्ची शोभा है। लेकिन वे ऐसा नहीं करती। सजधज कर आती है और अपना सारा ध्यान इसी बात में लगाये रहती हैं कि मेरे वस्त्राभूषण कितने सुन्दर हैं? इन्हें दूसरी स्त्रियाँ देख रही हैं कि नहीं? इन सब बातों में डूबने से उनमें आपस में ईर्ष्यावृत्ति जागृत होती है, पाप की भावना का उदय होता है। इस प्रकार दोष रहित जीवन के स्थान पर उनका जीवन दोष सहित बन जाता है।

अन्य माताएँ जिनके पास इतने मूल्यवान वस्त्राभूषण नहीं होते वे यहाँ बैठी-बैठी चिन्तन किया करती है कि मेरे पास ये वस्तुएँ क्यों नहीं है? अब घर जाकर मैं अपने पतिदेव से कहूँगी कि वे मेरे लिए भी इन वस्तुओं को लाएँ। भला मैं क्या किसी से कम हूँ? इस प्रकार की भावना लेकर जो माताएँ-बहने यहा बैठेंगी वे धर्म का उपदेश क्या सुनेंगी? घर जाकर वे पतिदेव से कहेंगी कि आप कुछ भी करिए, लेकिन मेरे लिए वैसे ही गहने बनवाइये जैसे कि औरों के पास हैं। इसके लिए आपको चाहे जो कुछ भी करना पड़े। भले ही आप अनीति से रूपया कमाओ, भले ही आपका यह मानव-जीवन नष्ट हो जाए तथा आपकी नरक में ही क्यों न जाना पड़े, किन्तु मुझे तो गहने चाहिए। इस प्रकार से वे धार्मिक स्थल पर जाकर भी अपने जीवन को दोष रहित बनाती रहती है तथा अन्य लोगों के जीवन को भी दोष सहित बनाती है।

बन्धुओ! आज स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज की जन्म तिथि है। वे महान् आत्मा थे। आपका जीवन दोष रहित बन सके इसके लिए मैं आपको

उनके जीवन से सम्बन्धित एक छोटी-सी घटना सुनाता हूँ। आचार्य श्री जी महाराज एक वार गोचरी को पधारे तो वहाँ उन्होंने एक वहिन से पूछा- "बाई! आजकल तुम व्याख्यान में नहीं आती हो क्या कारण है? सव कुशल तो है न?"

वहिन ने उत्तर दिया- "महाराज! मैं क्या करूँ, आपके श्रावक जी मुझे व्याख्यान में नहीं आने देते।" आचार्य श्री महाराज को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। श्रावक जी के आने पर उन्होंने उनसे भी पूछा- "भाई! आप बाई को व्याख्यान सुनने क्यों नहीं आने देते? धर्मकार्य में अन्तराय क्यों डालते हो?" तब श्रावक ने उत्तर दिया- "महाराज! यह तो सत्य नहीं है। यह झूठ बोलती है। मैंने कभी इसे व्याख्यान सुनने जाने से नहीं रोका।

आचार्य श्री को यह सुनकर और भी आश्चर्य हुआ कि एक कहता है वे जाने नहीं देते और दूसरा कहता है कि मैंने तो कभी रोका नहीं। तब उन्होंने कहा- "भाई! इसमें सत्य क्या है? जो सच्ची वात हो वही मुझे बताओ।" तब अन्त में सत्य प्रकट हुआ और वह सत्य यह था कि उस बाई की चूड़ी की तीब टूट गई थी। चूड़ी सोने की थी। उस सोने की सुन्दर चूड़ी को पहने बिना बाई व्याख्यान सुनने आना चाहती नहीं थी, क्योंकि भला और स्त्रियों के सामने वह अपनी हेठी होते कैसे देखती? सेठजी उस छोटी-सी बात पर ध्यान नहीं दे पाये थे। केवल इतनी सी वात के कारण वह वाई व्याख्यान सुनने नहीं आ रही थी।

वन्धुओ! अव आप समझ ही गए होंगे कि जेवरों या वस्त्रों का झूठा और निरर्थक मोह ही उस वाई के धार्मिक जीवन में वाधा डाल रहा था तथा उसके जीवन को दोष सहित वना रहा था। किन्तु क्या यह वात अच्छी है? क्या इस प्रकार के व्यवहार से कभी मनुष्य का कल्याण होना संभव है? अव वह जमाना नहीं रहा जवकि मनुष्य इस प्रकार के प्रदर्शन करता रहे। जो व्यक्ति इस प्रकार का प्रदर्शन करते हैं उनके प्रति अन्य लोगों की तथा समाज की कोई अच्छी धारण नहीं बनती। देखने वाले यही कहते हैं कि यह मनुष्य तो पाखण्ड करता है, प्रदर्शन करता है। कहने को तो यह कहता है कि जीवन सादगी से और सच्चाई से व्यतीत करना चाहिए, किन्तु स्वयं ऐसा नहीं करता। इस प्रकार से धार्मिक क्षेत्रों में ऐसा प्रदर्शन करना उचित नहीं है। इससे किसी भी व्यक्ति का हित नहीं होता वल्कि धर्म भावना में न्यूनता आती है, समाज का अहित होता है।

अतः आप सबको यह विचार करना चाहिए कि न केवल धार्मिक क्षेत्र के ही, बल्कि पारिवारिक तथा सामाजिक क्षेत्र में भी हमारा जीवन शुद्ध, शान्त एवं सुखी हो। हमें ऐसे जीवन का निर्माण करना चाहिए जो कि प्रदर्शनों से दूर हो और आत्मा का श्रृंगार करने वाला हो। सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते चले जा रहे है। इन विकारों को, इन बुराइयों को हमें दूर करना चाहिए। उदारहण के लिए एक दहेज प्रथा को ही ले लीजिए। यह प्रथा इतनी विषम है कि इसके कारण प्रतिदिन अनेक परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो रहे है। अनेकों निर्दोष बालिकाओं का जीवन अभिशाप से ग्रसित हो रहा है। मध्यम वर्ग की स्थिति दो पाटों के बीच में पिस रही है। परिवार में एक कमाने वाला हो और दस खाने वाले हों, तो आखिर वह कब तक और किस प्रकार से काम चला सकता है? मजदूर वर्ग में तो फिर भी यह स्थिति है कि सभी कुछ न कुछ कार्य कर लेते है और उनकां काम चल जाता है। किन्तु मध्यम वर्ग के भाइयों का क्या हो? इसीलिए मैं कहता हूँ कि जीवन में सादगी को अपनाइये और प्रदर्शन से दूर रहिये। अन्यथा आज सामाजिक जीवन में जितनी बुराइयाँ है, वे ही बहुत है, यदि उनमें और बढ़ोतरी हुई तो समाज पूर्णतया नष्ट हो जाएगा।

आज समाज की, राष्ट्र की तथा विश्व की जो स्थिति है वह अत्यन्त चिन्तनीय है। भारतवर्ष किसी जमाने में सोने की चिड़िया कहलाता था। किन्तु आज भारत जैसा निर्धन देश शायद ही कोई हो। ऐसा क्यों हुआ? इसका कारण क्या है? कारण यही है कि हम जीवन की परिभाषा को ही भूला बैठे हैं। आध्यात्मिकता हमारे जीवन से दूर होती जा रही है। हम लोगों में स्वच्छन्दता की वृत्ति, उच्छृंखलता की भावना घर करती जा रही है।

अतएवं मैं आपसे कहता हूँ कि आप जहाँ कही भी रहें, आपको प्रण करना चाहिए कि आप नैतिकता से रहेंगे। आपके सम्पूर्ण जीवन में कहीं भी अनैतिकता नहीं होनी चाहिए। धर्मस्थानों में आने पर तो मन और भी अधिक शुद्ध रहना चाहिए, पूर्ण रूपेण सादगी आपके जीवन में होनी चाहिए। इस स्थान पर आकर आपके हृदय में प्रेम और समभाव का उदय होना चाहिए। चाहे कोई गरीब हो या अमीर सभी मनुष्यों के प्रति आपके हृदय में ऐसे आदर और सहानुभूति की भावना होनी चाहिए। यह स्थल तो पवित्र वनाने वाला है, शुद्ध

करने वाला है। इस स्थल पर आकर मन के समस्त विकार धुल जाने चाहिए, जीवन के सभी पाप धुल जाने चाहिए। जीवन की परिभाषा को हमें समझना चाहिए। जीवन की कला हमें सीखना चाहिए। जीवन परिमार्जित होना चाहिए। नीतिकारों ने कहा है कि-

"अन्य स्थाने कृतं पापं धर्म स्थाने विमुच्यते।"

अन्य स्थान पर हो गये पाप को भी व्यक्ति धर्म स्थान पर आकर छोड़ देता है और अपनी भूल का प्रायश्चित करता है। किन्तु यदि धर्मस्थान पर आकर भी पाप किया गया तो वह तो वज्रपेल हो जाता है। अतः इससे बचने का प्रयत्न कीजिये। ऐसे क्षेत्र में आकर सादगी धारण कीजिए, हृदय को शुद्ध बनाइये। ऐसा करने से ही आप सवको शान्ति मिल सकेगी तथा मध्यम वर्ग की स्थिति में सुधार आ सकेगा। विचार कीजिए कि स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज का जीवन कितना सुन्दर, सादगीमय और आदर्श रूप था। उनकी जन्म-तिथि के दिवस हमें उनके इन गुणों का स्मरण करते हुए अपने जीवन को भी वैसा ही वनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

मैं अभी उदयपुर से आ रहा हूँ। उस नगर में मुझे एक विशेषता दिखाई पड़ी। वह विशेषता इस नगर में भी आनी चाहिए। उदयपुर में बहुत से भाई बहिन व्याख्यान में आते हैं, तपस्या करने वाले भी आते है। वे सब पहिले दया पाल लेते है। और फिर या तो पहिले या वाद में तपस्या पचख लेते है। व्याख्यान के बीच में कोई अवरोध उपस्थित नहीं होता। वहाँ स्वयं श्रावक बोल देते हैं कि किसी को उपवास पचखना हो तो खड़े हो जायेंगे। तो या तो व्याख्यान से पूर्व अथवा व्याख्यान के पश्चात् उनको तपस्या पचखवा देता हूँ। यहाँ के लोग यदि व्याख्यान के वीच-वीच में तपस्या के लिए कहेंगे या हम पचखाएँगे और मंगलपाठ सुनेंगे तो विक्षेप होगा। ज्ञान का व्यवधान होगा। इससे ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध होगा। अस्तु, यहाँ के भाई भी इस वात को ध्यान में रखेंगे तो उचित होगा।

यदि व्यक्ति अपने जीवन को शान्त तथा दोष रहित बनाएगा तो उसका पारिवारिक जीवन भी उन्नत होगा, सामाजिक जीवन भी आनन्दमय बनेगा तथा राष्ट्रीय जीवन भी उच्च वनेगा। किन्तु आज तो हम लोगों के जीवन में हिंसा बढ़ती जा रही है। शान्त जीवन को हम भूलाते चले जा रहे है। हिंसा जीवन को अत्यन्त

कष्टमय बना देती है। हिंसा का एक रूप तो प्रकट हिंसा का रूप होता है तथा एक सभ्य हिंसा होती है। प्रकट हिंसा अथवा असभ्य हिंसा वह होती है जिसमें कोई तलवार लेकर जाता है और किसी को मार देता है। दूसरी सभ्य हिंसा वह होती है जिसमें कोई किसी को प्रकट रूप में मारता हुआ तो प्रतीत नहीं होता, किन्तु भीतर ही भीतर ऐसी स्थिति बना देता है कि जिससे हिंसा होती है। ऐसी हिंसा भी कम पापमय नहीं है। यदि एक व्यापारी अनाज को इकट्ठा करके बैठ जाता है तथा लोग भूखे मरते हैं तो वह व्यापारी हिंसक कहा जाएगा। यदि एक व्यापारी खाने-पीने की वस्तुओं में मिलावट करता है तथा लोगों का जीवन खतरे में डालता है तो वह भी हिंसक कहा जाएगा।

इसी प्रकार दहेज प्रथा को बढ़ाने और माँगने वाले लोग भी भारी हिंसा करते है। इस प्रथा ने समाज के जीवन को बहुत दूषित बना दिया है। यह प्रथा अनेक बार हिंसा को प्रेरित तथा उत्तेजित करती है। इस प्रसंग में मैं कभी-कभी एक घटना का जिक्र किया करता हूँ। वह दुःखद घटना इस प्रकार है-

देहली में एक अध्यापक थे। वेतन केवल ढ़ाई सौ रूपया मासिक था। पत्नी तो थी ही, तीन कन्याएँ भी थी। देहली जैसा नगर और अल्प वेतन, गुजर-बसर कठिनाई से ही होता था। किन्तु किसी भी प्रकार से, कठिनाइयाँ झेलते हुए भी उन्होंने अपनी कन्याओं को अच्छी शिक्षा दिलाई थी। अब उनके सामने यह प्रश्न आया कि उन कन्याओं को किसके सामने सुपुर्द करें? उनका विवाह किस प्रकार किया जाए? ढ़ाई सौ रूपयों में से तो कुछ बचत होने का प्रश्न था ही नहीं। अब विवाह का खर्च कहाँ से लाएँ तथा इस प्रकार घोर सामाजिक अभिशाप- दहेज- का प्रबंध कैसे करें? कन्याएँ सभी प्रकार से सुयोग्य तथा सुशिक्षित थीं, किन्तु सास-ससुर को देने के लिए, उनकी अर्थलोलुपता को सन्तुष्ट करने के लिए द्रव्य उन अध्यापक के पास नहीं था।

अतः पति-पत्नी घोर चिन्ता में डूबे रहते थे। प्रायः आपस में चर्चा किया करते थे और समस्या का कोई समाधान खोजने का प्रयत्न करते थे। किन्तु समाधान कोई होता तो निकलता। इस प्रकार दुःखी होकर वे सिर पीटकर रह जाते थे। अपनी बच्चियों की ओर देख-देखकर रोया करते थे।

एक दिन बच्चियों ने अपने माता-पिता को गहन चिंता में डूबा हुआ देखा

और उनकी वातचीत सुनी। स्वाभावित रूप से उनके कोमल हृदय पर इससे वड़ी ठेस लगी।

अव एक दिन अवसर देखकर जवकि माता-पिता दोनों ही घर से वाहर गये हुए थे, उन वच्चियों ने एक निश्चय किया और मिट्टी का तेल छिड़कर आग लगाकर वे जल मरी।

वन्धुओ! वे कोमल, निष्पाप वालिकाएँ जो यह आत्मघात करके जल मरी, यह हिंसा किसके सिर पर है? यह दायित्व किसका है?

इतना ही नहीं घटना का अन्तिम चरण यह है कि वे पति-पत्नी जव घर लौटे और उन्होंने यह दर्दनाक दृश्य देखा उनका हृदय हाहाकर कर उठा। अव उनके लिए इस जीवन का कोई अर्थ, कोई मूल्य नहीं रह गया। परिणामतः वे भी इस दुःखी जीवन से हताश-निराश होकर उसी पथ के अनुगामी वन गए जिस पथ पर उनकी पुत्रियाँ गई थी।

वन्धुओ! वालिकाओं ने सोचा कि हमारा जीवन माता-पिता के लिए आर्त-रौद्र ध्यान का विषय वन गया है। धार्मिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव में वे वेचारी आत्मघात जैसे पाप के मार्ग पर चली गई। उसी प्रकार माता-पिता भी इस दोष सहित जीवन से ऊवकर जल मरे।

आज हमारे समाज एवं देश की यह स्थिति है। कैसी विडम्वना हमारे जीवन में भर गई है? कितना दोषमय हो गया है हमारा जीवन। आज का वुद्धिवादी वर्ग भी इस चक्र में वुरी तरह पिस रहा है। यह सभ्य हिंसा हो रही है, और हम कानों में तेल डालकर आँखों पर पट्टी वाँधकर इन सामाजिक हिंसाओं को देख रहे हैं। मैं नहीं जानता कि आपके व्यावर नगर में ऐसा हो रहा है कि नहीं, किन्तु संसार में यह हो रहा है, और यह घोर चिन्ता की वात है। यदि ऐसी स्थिति चलती रही तो कौन-सा आध्यात्मिक लक्ष्य हम प्राप्त कर सकेंगे? यह एक ऐसी सामाजिक कुरीति है जिसके कारण आपका मन चंचल वना हुआ है। इसका परिमार्जन करना अत्यन्त आवश्यक है। मैं कभी-कभी आपके सामने ऊँचे आदर्श की वात कर जाता हूँ। किन्तु हमारा आदर्श ऊँचा न होगा तो हमारा जीवन ऊँचा कैसे उठेगा? जो ऊँचा पहुँचेगा वह ऐसा जघन्य कर्म नहीं करेगा। अतः अपने जीवन को शुद्ध वनाइये, लोभ और ईर्ष्या का त्याग करके ऊँचे आदर्शों को अपनाइये।

आज स्वर्गीय आचार्य श्री की जन्म तिथि है। उनके उच्च, महान, पवित्र जीवन पर पूर्णरूपेण प्रकाश डाल सकूँ इतना समय तो अब नहीं है, किन्तु उनके अनेक संस्मरण मुझे याद आते है। उन्होंने मेरे जीवन को ऐसा बनाया है कि मैं आज दो शब्द आपके सामने बोलने योग्य बन सका हूँ। इस ब्यावर नगर ने भी उन महापुरुष की बहुत सेवा की है। अब हम सबको उनके आदर्शमय जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए। उनके सदुपदेश बड़े प्रभावकारी हुआ करते थे। सुनने वाले भाई-बहिनों में कभी-कभी बड़ी जागृति होती थी। प्रायः बहिनें जीवन में श्रृंगार का त्याग कर देती थी और दहेज न लेने का प्रण भी करती थी। तो यह कितनी अच्छी बात थी? आज भी जो सामाजिक हिंसा सभ्य धरातल पर हो रही है, उसे रोकने का प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है।

आचार्य श्री ने एक बार एक घटना सुनाई थी। एक वकील साहब थे। बुद्धि से चतुर थे। उनके पास एक ऐसा मुकद्दमा आया जिसमें उनके मुवक्किल को पचास हजार रूपया देना था। यह सच्चाई थी। किन्तु मुकदमे के दौरान उन्होंने कुछ ऐसे तर्क किये और कुछ ऐसे झूठे-सच्चे गवाह पेश किये कि पचास हजार रूपये देने के बजाय उनके मुवक्किल को सामने वाले आदमी से उल्टे पचास हजार रूपये और दिलवा दिये। इस प्रकार उनके मुवक्किल को कुल मिलाकर एक लाख रूपये का लाभ हो गया। अब उसकी प्रसन्नता का क्या ठिकाना? सो एक दिन जब वकील साहब घर पर थे और भोजन कर रहे थे तब वह मुवक्किल आया और उसने चुपचाप दस हजार रूपये के नोट वकील साहब को दिये।

वकील साहब जानते थे कि यह रूपया उन्हें क्यों दिया जा रहा है। किन्तु उन्होंने सोचा कि वे जरा अपनी बुद्धि का लोहा मुवक्किल के सामने अपनी पत्नी से भी मनवालें। अतः उन्होंने सब कुछ जानते हुए भी पूछा- "क्यों भाई! यह किस बात का रूपया तुम मुझे दे रहे हो?"

मुवक्किल ने कहा- "वकील साहब! यह सब आपकी तीव्र बुद्धि का ही प्रताप है। वस्तुतः मुझे तो पचास हजार रूपये सामने वाले आदमी को देने थे। किन्तु आपने मेरा मुकद्दमा इतनी चतुराई से लड़ा कि पचास हजार रूपये देने के स्थान पर उल्टे मुझे पचास हजार और उसी से दिलवा दिए। इस प्रकार मुझे आपने एक लाख रूपये का लाभ करा दिया है। सो आपकी सेवा में मैं यह दस हजार रूपये की तुच्छ भेंट रख रहा हूँ।

वकील साहब ने सोचा कि उनकी पत्नी यह बात सुनकर खूब प्रसन्न होई होगी कि उनके पति कितने बुद्धिमान हैं। उन्होंने तिरछी दृष्टि से उसकी ओर देखा। किन्तु उनकी आशा निराशा में ही परिणत हुई। क्योंकि उन्होंने देखा कि यह बात सुनकर उनकी पत्नी प्रसन्न होने के स्थान पर आँखों से आँसू बहा रही है। वे घबरा गए और पूछने लगे-

"क्यों प्रिये! तुम्हें क्या हो गया? क्या तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है? शरीर में कहीं कोई पीड़ा है क्या?"

किन्तु वकील-पत्नी को शारीरिक पीड़ा नहीं, आत्मिक पीड़ा हो रही थी उसने उत्तर दिया-

"हाँ नाथ! मुझे पीड़ा है, और बड़ी गहरी पीड़ा है। किन्तु वह पीड़ा कोई शारीरिक नहीं, बल्कि मन की पीड़ा है। आपने मनुष्य जन्म पाया और वकालत का धन्धा सीखा। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आप निर्दोष व्यक्तियों का गला काटें। मुकदमें आपको और बहुत से मिल सकते थे। लेकिन आपने इस मुकद्दमे में घोर अन्याय किया है। जरा सोचिए कि जिस आदमी के पचास हजार रूपये वापिस दिलवाने के स्थान पर आपने उल्टे उससे पचास हजार रूपये और अपने मुवक्किल को दिलवा दिए है, उसके हृदय पर क्या बीत रही होगी? उसके भी बाल-बच्चे होंगे। पत्नी होगी। परिवार होगा। इस स्थिति में उसकी क्या दशा होगी? यह घोर अन्याय है। ऐसी पाप की कमाई मुझे नहीं चाहिए। कृपया आप यह धन्धा छोड़ दीजिए।"

वकील साहब को काटो तो खून नहीं। पत्नी की यह बात सुनकर वे बोले-

"अरी भागवान! यदि मैं यह धन्धा छोड़ दूँगा तो फिर तेरे लिए जेवर कहाँ से आएंगे? लड़कियों की शादी के लिए रूपयों की थैलियाँ कहाँ से आएँगी?"

धर्म का विचार रखने वाली और पाप से डरने वाली उस महिला ने अपने पति की इस बात का जो उत्तर दिया वह ध्यान से सुनने और विचार करने योग्य है। उसने उत्तर दिया-

"पतिदेव! अन्याय और पाप की कमाई से सुख भोग करने की बजाय मैं भूखे मर जाना, पसन्द करूँगी। जेवरों की तो बात ही क्या है? मैं आपको वचन

देती हूँ कि जीवन में कभी आपसे एक भी जेवर नहीं माँगूगी। इतना ही नहीं, मैं अपनी लड़कियों को भले ही अविवाहित रख लूँगी, उन्हें बाल ब्रह्मचारिणी बनाकर ऐसी शिक्षा दूँगी कि वे शान्तिपूर्वक धार्मिक जीवन यापन कर लें, किन्तु मैं आपको यह अधर्म नहीं करने दूँगी। आप यह धन्धा छोड़ दीजिए।"

तो बन्धुओ! एक तो वह बहिन थी जिसने कि अपनी सोने की चुड़ी टूट जाने पर घर में कलह मचा रखा था और व्याख्यान सुनने आना ही छोड़ दिया था। और एक यह बहिन भी थी जिसने अनीति के धन को प्राप्त करने की बजाय भूखों रह जाना ही श्रेष्ठ समझा और अपने पति से कहा कि वे ऐसी सामाजिक कुरीति और ऐसे धन्धे को ही छोड़ दें। इस प्रकार का ऐसी सामाजिक कुरीति और ऐसे धन्धें को ही छोड़ दें। इस प्रकार का आध्यात्मिक सुधार करने वाले कितने भाई-बहिन है?

जरा विचार कीजिए कि हमारा जीवन किधर जा रहा हैं? समाज में कितनी हिंसा हो रही है? मैंने जिस आध्यापक के परिवार के पूरे पाँचों व्यक्तियों के जीवन के नष्ट हो जाने की बात सुनाई तो कहिए कि उसमें कितनी हिंसा हुई? एक कसाई कत्ल खाने में काम करता हैं तो पाप होता है। माँस का कारखाना खोलने वाले को और अनुमोदन करने वाले को भी पाप लगता है। इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति आत्मघात करता है तो उसे घोर पाप लगता है। किन्तु वह जो हिंसा करता है, उसके पीछे उस हिंसा के भागीदार वे लोग भी है जिन्होंने ऐसी कुरीतियाँ चला रखी है। जब तक वे कुरीतियाँ तथा बुरे रिवाज समाप्त नहीं होते, तब तक सामाजिक जीवन दोषरहित कैसे बन सकता है? राष्ट्र का जीवन भी इन दोषों के रहते कभी सुखी नहीं बन सकता। यह जीवन घातक है। इसे तुरन्त त्याग देना चाहिए।

आप कहेंगे कि यह कठिन है। यदि हम ऐसा करेंगे तो सामाजिक जीवन कैसे चलेगा? यह आपका भ्रम है। जरा गुजरात की ओर दृष्टि डालिए। उस समाज के विषय में सोचिए। उन्होने अपने समाज में से ये कुरीतियाँ निकाल फेंकी है। मैं जब गुजरात में था तब मुझे बताया गया और मैंने देखा कि उस समाज में यह रिवाज नहीं है। उन्होंने कहा कि "महाराज! यह रिवाज अग्रवालों, ओसवालों में है। हमारे अन्दर नहीं है। हम तो धार्मिक जीवन देखकर लड़के-लड़कियों का

सम्बन्ध करते हैं। यदि कोई कुछ माँगता है तो हम स्पष्ट कह देते हैं कि तुम नीच हो, हम तुम्हारे साथ सम्बन्ध नही करना चाहते।"

अतः बन्धुओ! कोई कारण नहीं कि ऐसा जीवन गुजराती समाज तथा अन्य समाजों में तो चल सके और आपके समाज में नहीं चल सके। सब कुछ हो सकता है, आपका समाज भी इन घातक कुरीतियों का त्याग करके हिंसा से बच सकता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि आप अपने जीवन को थोड़ा दोष रहित बनाकर चलने का निश्चय करें।

रूकमणी-चरित हम खूब सुनते-सुनाते है। उनकी क्या विशेषताएँ हैं इस पर हमें ध्यान देना चाहिए। श्रीकृष्ण तीन खंड के अधिपति भी कहलाए और उनका जीवन भी पूर्ण शुद्ध रहा। यही उनकी विशेषता है। ऐसी ही शुद्धता हमारे जीवन में भी आनी चाहिए, तभी हमारा सामाजिक और राष्ट्रीय धरातल ऊँचा उठ सकता है। दोषरहित जीवन की परिभाषा लम्बी-चौड़ी है। मैं आपको उसका सकेंत दे रहा हूँ। आप सभी भाई चाहे यहाँ के हो अथवा बाहर से आए हों, इस बात पर विचार करें और मनन करें कि आपका जीवन कैसा है? वह दोष सहित है अथवा दोष रहित है। यदि जीवन में दोष हैं, तो उन्हें दूर करना चाहिए।

एक व्यक्ति दर्पण के सामने खड़ा होता है तो उसे अपनी शक्ल जैसी है वैसी दिखाई देती है। उसी प्रकार आप अपने जीवन में परमात्मा के रूप को देखने का प्रयत्न कीजिए। यह विचार कीजिए कि परमात्मा का शुद्ध स्वरूप आपके द्वारा मलीन तो नहीं बनाया जा रहा है? अपने गुण-दोषों का विवेचन करके विचार कीजिए कि क्या मैं जीने का अधिकारी हूँ। मेरा जीवन कैसा है?

स्वयं अपने विषय में भी मुझे विचार आता है। यह पूरा चातुर्मास ही अपना अवलोकन करने का है। मैं सोचता हूँ कि मैं साधुवेष में हूँ तो मेरा जीवन कैसा है? उसमें क्या दोष हैं, उन्हें भी मैं यही परामर्श देता हूँ कि वे अपने-अपने जीवन का अवलोकन करें। साध्वीगण से भी मैं यही कहता हूँ। इस प्रकार सभी व्यक्ति अपना-अपना अवलोकन करे तो जीवन शुद्ध बन सकता है।

मैं तो अपने जीवन के विषय में भी आपको कहता हूँ। आप ध्यान रखें कि महाराज उपदेश दे रहे हैं तो वे स्वयं साधु चर्या में चल रहे हैं या नहीं। अपने जीवन की जिम्मेदारी मैं आपको देता हूँ। यदि आप यह देखें कि मुझमें कोई दोष

सामने इस समय रख पा रहा हूँ। मधुर वचन के अतिरिक्त उनका एक विशेष गुण था लज्जाशीलता। जिसमें लज्जा होती है, उसमें संयम होता है और जिसमें संयम होता है उसमें ब्रह्मचर्य होता है। इस प्रकार एक गुण के साथ दूसरा गुण स्वयमेव ही संयुक्त होकर आता चलता है और मनुष्य की आत्मा विकसित होती चलती है। मधुरवाणी और लज्जाशीलता के साथ सत्यभामाजी का हृदय स्फटिक के समान स्वच्छ एवं शुद्ध था। इसी कारण वे किसी प्रकार का अनावश्यक भेदभाव नहीं बरतती थी।

कृष्ण का एक नाम है धनश्याम। मेघ भी ऐसे ही कृष्णवर्ण होते है। तो श्रीकृष्ण के साथ सत्यभामा जी जो कि स्फटिक के समान पवित्र और विद्युत के समान शुद्ध थीं वे कैसी शोभा पाती होंगी? उन दोनों को एक साथ देखकर निश्चय ही कवि के मन में यह कल्पना जाग्रत होती होगी कि जैसे काले-काले मेघों के साथ चपल, उंज्जवलांगी बिजली क्रीड़ा कर रही हो।

यह अवर्णनीय शोभा केवल शरीर के रंग के कारण बन जाती हो ऐसा नहीं है। इस शोभा को प्राप्त करने के लिए चाहिए आत्मा की उज्ज्वलता। इन लोगों की आत्माएँ उज्ज्वल थी, वे वीतरागदेव में पूर्ण श्रद्धा तथा आत्मनिष्ठा रखते थे। वे दान-शील-तप भावना भाते हुए शास्त्रों का समुचित पठन-पाठन रखती थी। ऐसी ही उत्तम दिनचर्या एवं आदर्श व्यवहार के कारण वे आज भी लोगों द्वारा स्मरण की जाती है। आप लोग भी अनेक प्रकार के ग्रन्थों का पठन-पाठन करते हैं, किन्तु याद रखिए कि आत्म-विकास के लिए प्रतिदिन कुछ समय के लिए शास्त्रों का पठन-पाठन भी अत्यन्त आवश्यक है।

सत्यभामा जी शास्त्रों का स्वाध्याय करती थीं। वे अन्य किसी प्रकार के अश्लील एवं निरर्थक ग्रन्थों के अध्ययन में अपना समय और जीवन विनष्ट नहीं करती थीं। आज तो देखने में आता है कि युवक एवं युवतियाँ दिन-रात सस्ते एवं अश्लील बाजारू उपन्यासों को पढ़-पढ़कर अपनी आँखें फोड़ा करती हैं और अपनी आत्मा को पतित बनाती हैं।

कतिपय गुण जो मैंने आपको सत्यभामा के चरित्र में बताये वहीं अन्त नहीं है। वे तो गुणों का समुद्र ही थीं। उनमें गुरुजनों के प्रति अपार भक्ति थी। भक्ति कोई अन्धभक्ति अथवा अन्धश्रद्धा के रूप में नहीं थी। बल्कि वे ज्ञानी

और तपस्वी गुरुओं के प्रति सच्चा आदर-भाव रखती थीं और गुरुजनों के क्या-क्या नियम हैं इसका पूरा ध्यान रखती थी।

उनके जीवन में श्रद्धा का समुचित स्थान था तथा अपने परिवार को धार्मिक शिक्षण देने का वे पूरा ध्यान रखती थीं। वे धर्म के महत्व को स्वयं जानती थी, इसलिए उनका यह प्रयत्न रहता था कि अन्य व्यक्ति भी धर्म के अनुसार चलें, ताकि उनका भी कल्याण हो। जो वस्तु अथवा बात हमें प्रिय हो, तो हमारा कर्तव्य बन जाता है कि हम अपने स्वजनों तक भी वह प्रिय एवं कल्याणकारी बात पहुँचाएँ। आपको मधुर भोजन- लड्डू, जलेबी प्रिय है। इनको जीमने का न्योता आपको मिले तो आप स्वतः ही यह चाहेंगे कि आपके बाल बच्चों को भी ये वस्तुएँ प्राप्त हो। और आप सिगरी न्यौता मिलने पर कभी अपने बाल-बच्चों और स्वजनों को छोड़कर नहीं जायेंगे।

तो बन्धुओ! यहाँ तो वीतराग-वाणी का सिगरी न्यौता दिया जा रहा है। आप विचार कीजिए एवं इस दुर्लभ अवसर का समुचित लाभ स्वयं भी उठाते हुए अपने समस्त स्वजनों को भी प्रेरित कीजिए कि इस स्वर्ण अवसर का लाभ प्राप्त करने से वे वंचित न रहें। आप लोग अपने-अपने हृदयों को टटोलिए और सोचिए कि आप अपने स्वजनों के हित का इतना ध्यान रखते हैं कि नहीं? यह दलाली आप करते हैं कि नहीं। यदि यह दलाली चल रही है तो ठीक है। किन्तु यदि आप इतना ध्यान नहीं रखते है तो मानना पड़ेगा कि वहाँ समकित नहीं है। सच्चा समकिती व्यक्ति अपने तथा अपने स्वजनों के हित के प्रति कभी ऐसा अपेक्षाभाव नहीं रख सकता।

अस्तु, समकित के विषय में इतनी व्याख्या के उपरान्त आज का समय समाप्त होता है। श्रीकृष्ण की रोचक-कथा चल रही है। आगे जाकर कैसे-कैसे महापुरुषों का उद्‌भव होगा, यह आप आगे सुनेंगे।

-इत्यलम

गुरु की शरण

शाँतिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती ....।"

भगवान शान्तिनाथ के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण चल रहा है। प्रभु शान्तिनाथ समस्त विश्व में अद्वितीय रूप से शान्ति के सागर एवं स्वामी हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से जितने भी शान्ति के आकर हैं, खजाने हैं, अर्थात् जितनी-जितनी भी आत्माएँ परम शान्ति को धारण करके चलती हैं, उन सबमें प्रभु शान्तिनाथ शीर्षस्थ स्थान पर हैं। इसी दृष्टि से उन सबको 'शान्तिनाथ' के विशेषण से सम्बोधित किया जाता है। जब हम शान्तिनाथ भगवान का स्मरण करते हैं तो उसमें समस्त भगवन्तों का स्मरण समाहित हो जाता है। किसी भी भगवान का स्वरूप उसमें से छूटता नहीं है। राग-द्वेष से रहित होकर जितने भी भगवान बने हैं, वे सब 'शान्तिनाथ' बन गए हैं।

ऐसे प्रभु शान्तिनाथ के स्वरूप को प्राप्त करने के लिए, जिस मार्ग पर चलने से वह स्वरूप प्राप्त हो सकता है, जिन सीढ़ियों पर चढ़ने से हम उस उच्च स्थिति पर पहुंच सकते हैं, उस दिशा एवं स्थिति तक ले जाने वाली पगडंडी की खोज हमें करनी है।

यह खोज कौन कर सकता है? यह खोज हमारी आत्मा ही लगा सकती है। जड़ तत्त्व ऐसा कर सकने में सर्वथा असमर्थ है। वह चैतन्य तत्त्व जिसमें ज्ञान है, जिसमें स्व और पर को पहिचानने की शक्ति है, अपने विवेक के दीपक को लेकर जो चल सकता है, वह आत्मा ही प्रभु शान्तिनाथ की मंजिल को प्राप्त कर सकता है।

ऐसा मार्ग जो हमें इस मंजिल तक पहुंचाने वाला है तभी दिखाई दे सकता है जब हमें योग्य सहयोग प्राप्त हो। वह योग्य सहयोगी हमें कहाँ मिलेगा? ऐसा योग्य सहयोगी कौन है? तो उसके लिए भगवान महावीर की वाणी के अनुसार जिस शास्त्र की गाथा का अर्थ आपके समक्ष रख रहा हूँ, उसी गाथा से हमें उसका अनुसन्धान करना है। कहा गया है-

तस्सेस मग्गो गुरु विद्ध सेवा ....

शास्त्रकारों ने कहा है कि यदि उस मार्ग को देखना है तो गुरु एवं वृद्ध पुरुषों की सेवा करना चाहिए तथा बालजनों से दूर रहना चाहिए। बालक-जन कैसे होते हैं? इसकी व्याख्या कुछ शब्दों में पहले भी की जा चुकी है और यथा प्रसंग आगे भी की जायगी। बालक की स्थिति से तात्पर्य किसी छोटे बच्चे से नहीं है। शरीर तथा वय में बड़ा होने पर भी ऐसा व्यक्ति जिसमें हित-अहित का विवेक जागृत नहीं हुआ है, जिसके जीवन में आत्मिक प्रकाश की किरण नहीं फूटी है, जो अपने मन से आत्मस्वरूप की स्थिति को पकड़ नहीं पाता है, जिसके जीवन में मिथ्यात्व, मोह, भय आदि जमकर बैठे हैं- वह बाल ही है।

अक्षर ज्ञान की दृष्टि से भी चाहे कोई व्यक्ति सारे संसार का ज्ञान रखता हो, आलिम-फाजिल-हो, किन्तु यह सारा ज्ञान होने पर भी यदि वह उस स्वरूप को नहीं पहिचानता है जो कि यह सारा ज्ञान रखने वाला है, तो वह बाल ही है। ज्ञानी होने के लिए यह जानना भी परमावश्यक है कि समग्र पदार्थों का यह ज्ञान कौन रहा है? संसार के समस्त वाह्य पदार्थो का ज्ञान हो, किन्तु इस ज्ञान को धारण करने वाले की ओर यदि ध्यान नहीं है तो वह सारा ज्ञान निरर्थक है और ऐसे ब्राह्य ज्ञान मात्र को रखने वाला व्यक्ति बाल है। क्योंकि छोटी वय वाला बालक भी अपनी स्थिति को नहीं पहिचानता है। वह ऐसे भी कार्य कर गुजरता है जिससे उसको तत्क्षण क्षति पहुँच सके। ऐसा अज्ञानी बालक खेलते-खेलते सर्प से भी खेलने लगता है, मिश्री खाते-खाते अफीम की डली भी उठा लेता है। क्योंकि उसे यह ज्ञान नहीं कि मुझे क्या वस्तु खानी चाहिए और क्या नहीं खानी चाहिए? किस वस्तु से खेलना चाहिए और किस वस्तु से दूर रहना चाहिए? अपनी बचपन की बुद्धि से वह अपने स्वरूप को ठीक नहीं जानता है और बाहरी खिलौनों में रम जाता है। तभी हम उसे व्यावहारिक दृष्टि से बालक कहते हैं।

इसी प्रकार जो व्यक्ति शरीर से बड़ा हो जाए, बड़ी-बड़ी डिग्रियां प्राप्त कर ले, नाना प्रकार के मॉडल हासिल कर ले, किन्तु आत्मस्वरूप को न जाने, उसके लिए कहा जाता है कि वह पढ़ा-लिखा बाल है, क्योंकि वह तो बाहरी खिलौनों से ही खेल रहा होता है। आप अपने विषय में भी विचार करेंगे तो पायेंगे कि आप लोग भी खिलौनों से नहीं खेलते। तो आप सोचिए कि आप जिस सोना-चाँदी रुपये, नोट, मकान, जमीन जायदाद इत्यादि से जीवन भर खेलते रहते हैं वह सब क्या है? सोना-चाँदी क्या है? नोट क्या है? ये सब वस्तुएँ भी तो उसी मिट्टी में से ही बने हैं जिसमें से एक बालक के मिट्टी के खिलौने बनते हैं। यद्यपि सांसारिक जीवन में इन वस्तुओं का प्रयोजन है, किन्तु इन्हीं को सब कुछ मानकर बैठ जाने वाले को ज्ञानी लोग बाल कहते हैं। अतः आप इनसे अपना समुचित प्रयोजन तो अवश्य सिद्ध कीजिए, किन्तु इन्हें सिर पर चढ़ाकर मत बैठ जाइये। इनसे काम लीजिए, लेकिन सिर तो सत्-चित् आनन्दघन को ही रखिए, हृदयं में उसी को धारण कीजिए। यदि आप ऐसा कर सकेंगे तो आपकी बाल-संज्ञा हट जाएगी। जब तक इनसे उचित प्रयोजन सिद्ध होता है, तब तक इनका सदुपयोग कीजिए, किन्तु इनमें आसक्त मत बनिए। अपने आत्मस्वरूप को जान लीजिए, अपनी शक्ति को पहिचान लीजिए और इस निरर्थक आसक्ति का त्याग करके ज्ञानी बन जाइये।

ज्ञानी कब बनेंगे? पहले कहा जा चुका है कि सम्यक्त्व आने पर ज्ञानी बना जाता हैं। जो समकिती बनेंगे वे ही ज्ञानी बनेंगे। तभी बाल संज्ञा हटेगी। कहा गया है कि-

"आगमधर...................... ।"

वे जो आगमधर हैं, आगम को धारण करने वाले हैं यदि समकिती हैं तो बाल-संज्ञा हट जाती हैं यह संज्ञा हट जाने के बाद जीवन मे अनेकानेक लाभ होते हैं। ज्ञात-अज्ञात रूप में, जानते-अजानते अनेक प्रकार की विकट परिस्थितियाँ, जो उनके जीवन में आती है, उनका अन्त हो जाता है। ऐसी विकट परिस्थितियाँ क्या हो सकती है? वे परिस्थितियाँ क्यों आती है? इसके उत्तर के लिए आपको कुछ गंभीरता से सोचना पड़ेगा।

कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति ने इस जीवन में कोई पाप नहीं किया।

वह शान्ति के क्षणों में बैठा विचार करता है कि मैं शान्ति की उपासना करूँ, किन्तु अचानक कोई विकट परिस्थिति आ जाती है। वह व्यक्ति सोचता है कि यह क्या हो गया? उसका मन स्वाभाविक रूप से चंचल हो उठता है, वह अधीर हो उठता हैं प्रगट में ऐसा होने का कोई कारण उसे समझ में नहीं आता, दिखाई नहीं देता। तो फिर ऐसा क्यों होता है?

बन्धुओ! इन स्थितियों के पीछे एक पूरी श्रृंखला, एक लिंक जुड़ी हुई है- अनेक जन्मों की। आत्मा ने एक नहीं, अनेक नहीं, अनन्त जन्म ग्रहण किये हैं। उन अनन्त जन्मों में उसने जिस-जिस के साथ आसक्ति की है और जिस-जिस वस्तु को पकड़कर रखा है, उसके संस्कार उस आसक्ति के कारण कार्मण शरीर में रहते हैं और इस जीवन को वे उद्वेलित करते रहते हैं। आपकी नाक, कान, आँख इत्यादि इन्द्रियों रूपी खिड़कियाँ खुली हुई हैं और इनके माध्यम से वह रज कुछ न कुछ भीतर आतीं ही रहती है। इसलिए अनन्त जन्मों की पाप की श्रृंखला से आत्मा बँधी रहती है।

इस पाप श्रृंखला को तोड़ना है। और यह श्रृंखला तब तक नहीं टूट सकती जब तक कि हम दृढ़ संकल्पपूर्वक अपने शरीर और मन की उन खिड़कियों को बन्द न कर दें जिनसे होकर वह पाप कर्म की रज हमारी आत्मा में प्रविष्ट हो रही है। उदाहरण के लिए हमारे पास एक सुन्दर बंगला है। सुखद प्राणवायु के प्रवेश हेतु उस बंगले में खिड़कियाँ तथा दरवाजे हैं। यह ठीक है, आवश्यक है। किन्तु आँधी चलने पर जब धूल और कचरे के गुबार उन दरवाजे खिड़कियों से आपके घर मे आ रहे हों तब आप क्या करेंगे? आप तुरन्त उन्हें बन्द कर देंगे।

इसी प्रकार यह जीवन रूपी बंगला अथवा कमान है। इन दरवाजे और खिड़कियों को खुला रखकर आत्मा निश्चिन्त रहता हैं किन्तु इन्हीं खुले द्वारों से कर्म प्रविष्ट होते हैं और आत्मा को सताते रहते हैं

आप कहेंगे- महाराज! हमने तो पूर्व जन्मों को देखा ही नहीं, तब वह पूर्वजन्मों की कर्म श्रृंखला इस जन्म के साथ कैसे ज़ुड़ गई? वे कर्म अब हमें इस जन्म में किस प्रकार सता रहे हैं-यह बात हमारी समझ में आ नहीं रही है।

आपके प्रश्न का समाधान में इसी जन्म का उदाहरण देकर प्रस्तुत करने

का प्रयत्न करूँगा। मान लीजिए आप किसी एक बड़ी संस्था में, फर्म में अपना हिस्सा, अपना शेयर डालते हैं। अब जब विधिपूर्वक आप एक संस्था में अपना हिस्सा डाल देते हैं, तब उस संस्था के लाभ-हानि में भी सम्मिलित रहते हैं। कोई व्यक्ति दो आना, कोई चार आना, कोई आठ आना- इस प्रकार लोग उसमें हिस्सा डालते हैं और इच्छा करते रहते हैं कि संस्था खूब फले-फूले ताकि उन्हें खूब लाभ हो। कम से कम हिस्से वाला व्यक्ति भी यह चाहेगा कि संस्था को खूब लाभ हो जिससे कि उसे भी मुनाफे का भाग मिल सके। इस प्रकार सभी हिस्सेदारों का हिस्सा उसमें चलता रहता है।

अब कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति संस्था में हिस्सा डालकर परिस्थितिवश किसी दूर, अन्य देश में चला जाता हैं वह देश हजारों मील दूर है। वहाँ उसके सामने संस्था नहीं है। संस्था से संबंधित किसी भी प्रकार की कोई प्रक्रिया भी नहीं है और वह व्यक्ति अपने व्यवसाय में, अपने कार्य में, अपने किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति में यह भी भूल जाता है कि कोई संस्था, किसी देश में ऐसी भी है, जिसमें कि किसी समय, किसी काल में, उसने कोई हिस्सा डाला था। अब वह व्यक्ति से उस संस्था के विषय में सब कुछ भूल गया। अपनी दृष्टि से उस व्यक्ति का उस संस्था से कोई संवंध ही नहीं रहा। किन्तु, बन्धुओ! स्मरण रखिए कि उस व्यक्ति ने विधिपूर्वक उस संस्था में अपना हिस्सा डाला था। अतः वह व्यक्ति चाहे कहीं भी कितनी भी दूर चला जाए, चाहे वह उस संस्था के विषय में ज्ञान रखे अथवा नहीं, लेकिन संस्था की लाभ-हानि में उसका हिस्सा बना हुआ है और वह उसे लेना-देना पड़ेगा ही।

हाँ, ऐसा हो सकता है कि उस व्यक्ति के अनुपस्थिति होने पर अन्य लोग मुनाफे की रकम बाँटकर खा जाँय। किन्तु मान लीजिए कि उस संस्था का दिवाला निकल जाता है। तब अन्य भागीदार क्या करेंगे? वे लोग हिसाब लगाकर उसके हिस्से के नुकसान की पाई-पाई उसके हिसाब में डालेंगे, उसका पता लगायेंगे, उसे पत्र देंगे कि अपने हिस्से का नुकसान अदा करो।

अब वह व्यक्ति एक बार तो बड़े विस्मय में पड़ जाएगा कि अरे! यह क्या मामला है? यह कौनसी संस्था है? मुझे तो कुछ ध्यान नहीं, कुछ ज्ञान नहीं, कुछ स्मरण नहीं। मेरा तो उस संस्था से कोई संवंध नहीं। तो क्या उसके ऐसा सोचने से और ऐसा उत्तर देने से काम चल जाएगा? नहीं चलेगा।

इसी प्रकार आप अपनी स्थिति को समझिए। पूर्वजन्म के कर्म को, उस पूरे जन्म को आप भूल चुके हैं, आप ऐसा सोचते हैं कि न कोई जन्म था, न मैंने ऐसा कोई कर्म किया। किन्तु आपके ज्ञान में आज वह बात न होने से काम चलने वाला नहीं है। आपको ज्ञान और ध्यान नहीं है, तो यह आपका दोष है, लेकिन वह कर्म तो है-दूसरे प्रसंग में वह फर्म तो है-आप उसके भागीदार हैं और, आपको जवाब देना है, अर्थात् आपको अपने पूर्वजन्म के सभी कर्मों का फल भोगना है, चाहे वह फल अच्छा है चाहे बुरा।

अस्तु, उस व्यक्ति के, जिसने कि एक फर्म में अपना हिस्सा डाला था, यह लिख देने से छुटकारा नहीं होने वाला कि उसे उस संस्था के विषय में कुछ ध्यान नहीं है जिसमें कि नुकसान हो गया है। उसके अन्य भागीदार उस दूसरे देश की सरकार से संपर्क कायम करेंगे और अन्ततः उस व्यक्ति को नुकसान का अपना हिस्सा अदा करना ही पड़ेगा और वह अदायगी तब तक चलेगी जब तक कि वह हिस्सा पूरा अदा नहीं हो जाता।

बन्धुओ! अब तो आप इस स्थिति को समझ ही गए होंगे। इस आत्मा रूपी सेठ ने जिस जीवन मे भी यह रहा है, अनेक संस्थाओं में अपना हिस्सा डाला है। वह हिस्सा उस आत्मा का है और उसे वह स्वीकार करना ही पड़ेगा।

आप एक और कल्पना कीजिए मान लीजिए कि आपने एक बहुत बड़ी हवेली बनाई और यह सोचकर बनाई कि आपके बाल-बच्चे उसमें सुख से रहेंगे। पांचों इन्द्रियों का भोग करते हुए वे लोग इस हवेली में आराम पाएँगे। प्रत्येक गृहस्थ की ऐसी ही भावना रहती है किन्तु आगे आने वाले लोग-आपके बाल-बच्चे, आत्मा परमात्मा का कोई ज्ञान नहीं रखते और मात्र भौतिक एवं ऐन्द्रिक सुखों में ही वे लिप्त हो जाते हैं तथा इस प्रकार पाप-कर्म करते हैं। तो आपकी आत्मा ने तो उसमें अपना हिस्सा डाल दिया। आपके बाल-बच्चे आपकी बनाई हवेली में जो कुछ भी पाप कर्म कर रहे हैं। उसमें आपका भी हिस्सा है। क्योंकि आप उसमें पाप की प्रक्रिया करने कराने तथा अनुमोदन करने वाले बन जाते हैं।

तो बन्धुओ! कथन का अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति ऐसी व्यवस्था करके जाता है, ऐसी हवेली बनाकर जाता है, जिसमें कि कोई पाप कर्म होता है,

तो उसे उस कर्म का अपना भाग भोगना ही पड़ता है। एक तो बात यह है कि चाहे उस व्यक्ति का दूसरा लोक हो गया, किन्तु आत्मा तो वही थी जिसने कि हवेली बनाई और जिसकी आशक्ति उस हवेली में बनी रही। दूसरा उसके स्वयं ने चाहे कभी सोचा भी न हो, किन्तुं यदि उस हवेली में भविष्य में कोई वेश्या आकर रहने या कोई कत्लखााना उसमें खुल गया-अर्थात् उसमें पापकर्म चालू हो गए तो जो-जो पाप उसमें होंगे, उसका हिस्सा उस व्यक्ति को भी पहुँचेगा। इस प्रकार श्रृंखला जन्म जन्मान्तर तक पहुँचती है।

इस पाप कर्म की श्रृंखला से बचने का उपाय यही है कि सर्वप्रथम स्वयं किसी भी प्रकार के पाप करने से बचे तथा सांसारिक वस्तुओं के मोहजाल से दूर रहे। इसी के साथ वह अपने मकान से तथा अपने परिवार के सदस्यों से भी ममत्व तोड़कर आध्यात्म जीवन के मार्ग पर अग्रसर हो। देखने में ऐसा आता है कि अन्तिम समय आने पर भी व्यक्ति का ममत्व छूटता नहीं है। उस समय भी आत्मा नहीं चाहती कि मैंने इनको छोड़कर जीवन में जाऊँ। वह नहीं चाहती कि परिवार के सदस्य छूट जाऐं, बढ़िया हवेली छूट जाऐं। किन्तु उसके ऐसा चाहने से कुछ नहीं होता। विवश होकर यमराज के हवाले होना ही पड़ता है, मृत्यु के मुख में जाना ही पड़ता है। आत्मा स्वयं अपनी इच्छा से आगे बढ़े और ममत्व के बंधन तोड़ दे तो बहुत अच्छा हो। लेकिन ऐसी आत्माएँ विरली ही होती है। जहां पुण्य का भाव होता है, त्याग का भाव होता है, वहाँ इस धार्मिक भावना के कारण ममत्व भाव समाप्त होता है और जाने वाली आत्मा पाप की श्रृंखला से बची रह सकती है।

इसके विपरीत जो आत्माएँ स्वेच्छा से ऐसा त्याग नहीं करती वे उक्त पाप श्रृंखला से बद्ध बनी रहती हैं। अन्तिम समय में संथारा कराया जाता है और कहा जाता है कि भाई, अब तो भगवान का नाम लो, तो वह व्यक्ति कहता है-भगवान नामक आसामी से इतने रूपये लेने हैं, वह ले लेना। कहा जाता है कि भाई, अन्त समय है, अब तो राम-राम कहो। तो वह कहता है-राम की तो डिग्री करा दी है तो कुर्क क़रा लेना। कथन का अभिप्राय यह है कि अन्तिम क्षण तक उस व्यक्ति का ममत्व छूटता ही नहीं और वह अपनी आत्मा के कल्याण की ओर से सतत आंखे मूँदे रहता है। ऐसे व्यक्ति का कल्याण किस प्रकार से सम्भव है? कहा गया

है कि-''अन्तिम मति सो गति''-इस कथन पर विचार करते हुए अपनी आत्मा के संस्कार को शुद्ध करने पर हम सब लोगों का ध्यान रहना ही चाहिए, क्योंकि अन्तिम समय में जैसी मति होगी, जैसे संस्कार आत्मा के होंगे, वैसी ही गति हो जाती है। अस्तु, अनन्त जन्मों के संस्कार आत्मा के साथ चलते हैं, अनन्त जन्मों की क्रियाओं के परिणाम उसे भोगने पड़ते हैं। उन क्रियाओं के परिणाम स्वरूप ही वह आगे आने वालों भवों में सताई जाती है। इस समय आप शान्ति से बैठे हैं और सोचते हैं कि आपने तो कोई पाप कर्म नहीं किया, किन्तु आपका मन अपने पूर्व जन्मों के कर्म के परिणाम स्वरूप उद्वेलित हो सकता है।

बन्धुओ! इस प्रकार की पाप की प्रक्रियाओं का विधिवत् खाता उस समय बनता है जिस समय वह आत्मा अपने आपको नहीं पहचानता है। परन्तु उसके पाप का लेखा-जोखा तभी टूटेगा जबकि वह विधिवत् उसे तोड़ेगा। जिस प्रकार एक गृहस्थ किसी संस्था के खाते को तोड़ना चाहे तो उसे वकील के पास जाना पड़ता है और वकील उसे खाते को तोड़ने की विधि बताता है कि इस-इस प्रकार से बोलना, ऐसे-ऐसे करना। वकील के कहे अनुसार करने से ही वह खाता टूटता है। उसी प्रकार संवर की आराधना करने से अनन्त जीवन पाप की क्रियाओं पर ब्रेक लग जाता है, अर्थात् वे क्रियाएँ अवरूद्ध हो जाती हैं उस पापधारा के आने का मार्ग बन्द हो जाता है। ऐसा होने पर पहिले के जमा हुए कचरे को साफ किया जा सकता है। यदि हम एक बंगले को साफ करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम हमें उसके दरवाजे खिड़कियाँ बन्द करनी पड़ेंगी, ताकि उनमें से और कचरा न आए तथा हम भीतर के कचरे को साफ कर सकें। यदि हम झाडू देकर भीतर का कचरा बाहर निकालते रहें और बाहर से आने वाले कचरे को न रोके, तो फिर कितनी भी सफाई करो मकान साफ होने वाला नहीं है। उसमें तो प्रतिक्षण नया कचरा आता ही रहता है।

इसी प्रकार से आत्मा के जन्म-जन्मान्तर के पापों को परिमार्जित करने के लिए आगमधर समकिती गुरु से ज्ञान प्राप्त कर उनकी शरण में जाकर ब्रेक लगवाना चाहिए। जो व्यक्ति समकिती बन जाता है उसके मन में यह भावना जाग जाती है कि अनन्त जन्मों के पापों को ब्रेक लगे तथा भविष्य के लिए भी उज्जवल बनें। वह व्यक्ति यह विचार करने लगता है कि संसार में जितने भी हेय, ज्ञेय,

उपादेय के पेटे में पदार्थ हैं, जितने भी भौतिक तत्व कृत्रिम रूप से, मेरे सामने हैं तथा जिस परिवार के मोह में पड़ा हूँ तथा अशुभ सम्पर्क करने से जो मैं जीवन का ह्रास कर रहा हूँ.- वह सब समाप्त हो, अब एक दिन शीघ्र ही ऐसा आए जबकि मैं इन सबका प्रत्याख्यान करके शान्त, दांत और क्षमाशील बनूँ एवं जो इन्द्रियों का दमन करने वाले हैं उनके पास प्रवज्या लेकर अणगार अर्थात् घर से रहित होकर तथा सभी जीवो को अपना ही परिवार मानकर चलूँ। ऐसी दृढ़ संकल्प की भावना जिसमें उत्पन्न होती है वह समकिती बन जाता है। वही आगे की सीढ़ी चढ़ता है। विचार के क्षेत्र से आगे बढ़कर वह क्रिया के क्षेत्र में उतरता है तथा अपनी भावना के अनुसार आचरण भी करता हैं वह व्यक्ति शुभ दृष्टि से एक नवकारसी भी करता है। आधी रात के समय से सूर्योदय से अड़तालीस मिनट तक मैं किसी भी वस्तु को अपने मुख में नहीं डालूँगा, ऐसा त्याग वह करता है तो जो अव्रत की प्रक्रिया है, वह रूक जाती है। अर्थात् संमकित के कारण अव्रत की प्रक्रिया रूकी। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जो अव्रत की क्रिया इस जीवन में लग रही थी वह नवकारसी से कट जाती है।

आप आश्चर्य करेगे तथा पूछेगे कि यह क्रिंया कैसे रुक जाती है? तो मैं आपको सीधी सी बात बताता हूँ। मान लजिए कि एक व्यक्ति ने तपस्या चालू की। तपस्या आप लोग भी करते ही रहतें हैं। यह नया शहर हैं, यहाँ काम धीरे-धीरे होते हैं, किन्तु तपस्या आप भी करतें हैं, माताएँ भी करती हैं। माताएँ कुछ आगे रहती हैं। खैर, कल्पना कीजिए कि तपस्या आगे बढ़ी तीस दिन की तपस्या हो गई। अब इकतीसवे दिन वह व्यक्ति विचार करता हैं कि अब मुझें पारणा कर लेना हैं, अर्थात् भोजन ग्रहण कर लेना हैं तो तीसवें दिन यह विचार बना रहता हैं कल के सूर्य उदय होने पर मैं खाली हो जाता हूँ और मै तपस्या का पारणा कर लूँगा। तो अब उसकी भावना यह बनती हैं कि तपस्या आरम्भ करने से पूर्व मैं जितना भोजन करता था उतना ही भोजन करुगाँ। तो इतनी तीव्र भावना कें साथ तीस की रात पूरी होने पर और इकतीसवें दिन वह भोजन करता हैं और वह एक चवनी भर दूध या रस लेता है। दूसरे दिन इससे कुछ अधिक और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहता हैं। जठराग्नि मन्द पड़ जाने के कारण एक साथ वह उतना भोजन नहीं कर सकता जितना कि वह चाहता हैं। किन्तु उसकी भावना उतना

ही भोजन करने की बनी हुई हैं। तो ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति तपस्वी कहलाएगा अथवा भोजन प्रेमी?

इसी प्रकार अनादिकाल से इस आत्मा के साथ इस अव्रत की, तपस्याव्रत नहीं करने की समस्या चल रही हैं। किन्तु जब व्यक्ति सच्चा समकिती बन जाता हैं तब वह सोचता हैं कि मुझे, समग्र विश्व कि पदार्थो की आशक्ति का त्याग करना हैं और अपनें जीवन में जितना हो सके अधिकाधिक त्याग को लेकर चलना है। तो उस धरातल पर वह एक नवकारसी करता हैं तो वहाँ फिर उसे अव्रत की क्रिया नहीं लगती। इस प्रकार उसके अव्रत रूक जातें हैं। दूसरे शब्दों में समुद्र के बराबर आतें हुए पाप रूक जातें हैं और धीरे-धीरे वह आगे बढ़ता हैं और उसका जीवन मंगलमय बन जाता हैं।

बन्धुओ! प्रत्येक इन्सान को उसी धरातल पर सोचना चाहिए कि मै शान्ति के सोपान पर चढ़ सकूँ। दूसरी सीढी पर चढ़ने के लिए इसी तरह सारे व्रतों का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार बालकजनों से दूर रहने तथा व्रतों को धारण करनें का जो व्यक्ति ध्यान रखता है, वही इस सीढ़ी पर चढ़ता है वही समकिती बनता हैं विचार के साथ जब क्रिया आरम्भ होती हैं, तभी शन्ति के दूसरे सोपान का प्रारम्भ होता हैं। आप इस बात को ध्यान में रखेगें तो आप भी निश्चय ही मंगल के अधिकारी बनेगें।

भाइयों! द्वारिका नगरी का वर्णन चल रहा है। इस नगरी का समग्र रूप अभी में आपके सामने नहीं रखूँगा। संदर्भ के अनुसार वह वर्णन आपके सामने आता रहेगा। इस समय तो संक्षिप्त में नमूने के तौर पर ही उसका वर्णन कर रहा हूँ। उस नगरी की स्थिति आपके सामने आ रही हैं। सौराष्ट्र देश में स्थित इस द्वारिका नगरी में श्रीकृष्ण महाराज राज्य कर रहें हैं, जिनके जीवन का वृतांत कुछ आपके सामने आया हैं। सत्यभामा जैसी उनकी पटरानी हैं। उनका जीवन कैसा हैं? वे धार्मिकता से ओत-प्रोत हैं और उनके हृदय में निर्मल भावना चल रही हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण महाराज के अन्य परिवार की भी स्थिति हैं, जिसका जिक्र किया गया हैं। नेमिनाथ भगवान, जो बाईसवें तीर्थंकर हुए है।, और बलभद्र जो बलदाउ जी के नाम से पुकारे जातें हैं- इन दोनों का नाम प्रसिद्ध हैं परन्तु और भी भाई बहुतेरे थे। उन भाइयों का निर्देश कविता में किया गया हैं। वे भाई कलियुग के भाइयों की तरह नहीं थें। वें तो एक दूसरे के प्राणों के आधार थें। एक-दूसरे

को देखे विना उन्हे चैन नही मिलता था। वे एक दूसरे से ईर्ष्या नहीं करतें थें और एक दूसरे को लूटने पर तत्पर नही रहतें थें।

आज, इस कलियुग में, भाइयों की क्या दशा हैं? आज तों भाई एक-दूसरें को हड़पनें की ताक लगाए बैठे रहतें हैं। एक दूसरे को नीचा गिरानें, एक दूसरे का शोषण करनें के लिए तैयार रहतें हैं। एक पड़ौसी भी दूसरे पड़ौसीं से प्रेम रखता हैं। किन्तु आजकल भाई-भाई तो ऐसा व्यवहार करतें हैं जैसे वे जन्मजात वैरी हो। इसी प्रकार वे आपस में लड़तें रहतें है। वें चाहतें हैं कि भाई की सारी सम्पति किसी न किसी प्रकार सें, नीति सें अथवा अनीति सें, मेरे ही पास आ जाए। यहाँ तक कि वे यह चाहतें हैं कि भलें ही दूसरे लोग लूट कर ले जाएँ, किन्तु भाई के पास तों वह सम्पति रहनी ही नहीं चाहिए।

बन्धुओं! इस कथा भाग को सुनकर आप अपने जीवन को मोड़ दें और सोचें कि मैं किन भौतिक खिलौनों में आसक्त हो रहा हूँ। .और इस आसक्ति का कितना भीषण परिणाम मेरी आत्मा को भोगना पड़ेगा?

आचार्य श्री जी के मुख से मैने सुना हैं कि बम्बई में जब दो भाइयों का वँटवारा हुआ वँटवारा हुआ तब अन्य सब वस्तुओं का तों बँटवारा कर लिया गया किन्तु एक सुपारी का पेड़ शेष रहा तों उसके लिए विवाद चला। एक भाई कहनें लगा यह मेरी सीमा में हैं, अतः इसें मैं लूँगा, इसके लिए मैं इतनी कीमत दे सकता हूँ। दूसरा भी इसी वात पर अड़ गया कि इस वृक्ष को तों मै लूँगा, इसकी इतनी कीमत मैं देने के लिए तैयार हूँ।

दोनो सगे भाई। एक मामूली सा सुपारी का पेड़। किसी के पास धन की, जमीन की कोई कमी नहीं। कमी यदि थी, तो वह भ्रातृ प्रेम की। वे यदि चाहतें तों अपनी-अपनी जमीन में एक के स्थान पर अनेंक सुपारी के पेड़ लगवा सकतें थें। किन्तु इतनी समझ कहाँ? इतनी सहिष्णुता किसके पास? इतना धीरज किसे? भाई के लिए तनिक भी प्रेम किसके हृदय में? यह तों वम्बई नगरी हैं, कोई द्वारिका नगरी तों हैं नहीं। और ये जो भाई हैं सो कलियुग के भाई हैं, कोई श्री कृष्ण महाराज और उनके भाई तों हैं नही।

अस्तु, दोनो भाई अपनी-अपनी जिद पर अड़े हैं- चाहे कितनी भी कीमत देनी पड़े चाहे कुछ भी हो जाय, सुपारी का पेड़ तो मैं ही लूँगा।

समझौते की कोई सूरत नहीं थी समझौता नहीं हुआ। परिणामतः मामला कोर्ट में चला गया। बम्बई में वकीलों की भला क्या कमी? एक से एक बढ़कर वकील दोनों भाइयों की तरफ से कर लिए गए। बन्धुओ! वकीलों को और क्या चाहिए? मुहावरे की भाषा में कहूँ तो कह सकतें हैं कि अन्धा क्या माँगें?-दो आँखे। सो वकीलों को तो मुकदमा लड़नें वाले चाहिए। उनका तो यह व्यवसाय ही हैं। कहिए, वकीलों को पैदा कौन करतें है? स्वयं तो वे झगड़ा कराने जातें नहीं। भाई लोग ही यह पैदा करतें हैं। वे जब लड़तें हैं तो वकीलों को बीच में आना पड़ता हैं। एक वकील कहता हैं कि तुम्हारा पक्ष मजबूत हैं, लड़े जाओं, तुम जीतोगे। और दूसरा कहता हैं कि भाई तुम्हारा पक्ष अविजेय हैं, लड़े जाओ, जीत, तुम्हारी ही होगी।

एक ओर मुहावरा इस स्थान पर सहज ही याद आता हैं- चढ़जा बेटा, सूली पर, भली करेगे राम। तो यह वकील लोग तो यही चाहेगे। भला सोने की चिड़िया को कौन अपने जाल मे नहीं पकड़ना चाहेगा? अथवा सोने का अंडा देने वाली मुर्गी को कौन छोडेगा?

तो दोनों पक्ष के वकीलों ने दोनो भाइयों को खूब लड़ाया और उनसें खूव धन खीचा। आप जानतें हैं कि एक बार जब आदमी मुकदमें में फँस जाता हैं तो फिर वह पीछे हटना चाहे भी तों हट नही पाता। इसमें उसे अपनी हेठी मालूम पड़ती हैं। अपनी बात रखने के लिए, या अपनी झूठी जिद और झूठी शान रखने के लिए वह अपना सब कुछ लुटाने के लिए तैयार रहता हैं।

इस प्रकार उन दोनों भाइयों के रूपयें पानी की तरह बह गए। तब कहीं जाकर न्यायाधीश के सामनें मुकदमा आया। वे दोनों वकील तगड़े थें। न्यायाधीश यह बात जानतें थें। वे उँची भावना रखने वाले थें। उन्होंने जान लिया कि ये वकील दोनों भाइयों को लड़ाकर अपना घर भर रहें हैं। अतः उच्च भावना रखनें के कारण उन्होनें शीघ्र ही फैसला दे दिया।

फैसला हुआ- सुपारी का वृक्ष ही जो झगड़े की जड़ है, उसे कटवा दिया जाए और दोनों भाइयों में आधा-आधा बाँट दिया जाए।

न्यायाधीश के आदेश का पालन होना ही था। वृक्ष कटवा दिया गया। जड़-मूल से वह [illegible]

बन्धुओं! आप सोचिए कि इस झगड़े से किसका, क्या हित हुआ? यदि वह वृक्ष किसी एक भाई के पास रह जाता और उसें थोड़ी-बहुत आमदनी अधिक हो जाती तों क्या अन्तर पड़ता? या वह वृक्ष दूसरे भाई के हिस्सें में चला जाता तों पहलें भाई को क्या हानि हो जाती ? कुछ भी अन्तर किसी भाई को पड़नें वाला नहीं था। किन्तु व्यर्थ की जिद के कारण दोनों भाइयों के लाखों रूपयें बरबाद हुए और हाथ किसी कुछ भी नहीं लगा, उल्टा एक सुन्दर और हरा-भरा वृक्ष अपनी मूक जिन्दगी से चला गया।

अस्तु, यह दयनीय दशा इस कलयुग के भाइयों की हैं। ये लोग आपस में लडतें झगड़तें हैं और पता नहीं कैसे-कैसे अकरणीय पापकर्म करतें हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि वह कैसा खेल खेल रहें हैं। मैं तो कहूँगा कि वे घोर बाल-अज्ञानी हैं।

किन्तु श्री कृष्ण के भाई आपसे में लड़नें वाले नहीं थें। वे एक दूसरे से स्नेह करतें थें। आगे वर्णन आएगा कि अपनें छोटे भाई गजसुकुमाल के प्रति उन्होने कैसा प्रेम और आदर्श दिखाया। उसका वर्णन आगे होगा। यहाँ वर्णन आया हैं कि जो अन्य जन थे उनके लिए वे हितकारी थे। और सज्जनों के लिए तो वे हित की दृष्टि से आँखों की पुतली थें, नेत्रों के डोरे थें। अपने राज्य की व्यवस्था वे सुव्यवस्थित रूप से कर रहें थें।

राज्य की व्यवस्था के लिए त्रिखंडाधिपति वासुदेव कितनें सजग ओर तत्पर थें, इसका लेखा-जोखा तो वहाँ की स्थिति का अध्ययन करके ही किया जा सकता हैं। बन्धुओ! राज्य की व्यवस्था किस प्रकार की जाए, वह व्यवस्था किस प्रकार की हो, कौन सी राज्य व्यवस्था स्थायी हो सकती हैं तथा जनता के लिए हितकर हो सकती हैं ये सारी वातें कोई समकिती व्यक्ति ही सोच सकता हैं इसके विपरीत जिसका जीवन विषम हैं, ऐसा व्यक्ति कभी सच नहीं कह सकता। केवल ढिढोरा पीटने से कुछ नहीं हो सकता कि हम जनता के लिए यह कर रहें हैं या वह कर रहें हैं। स्वयं अपनें जीवन का अवलोकन करना चाहिए और देखना चाहिए और देखना चाहिए कि वहाँ काले धब्बे तो नहीं है। जो अपने जीवन को नहीं देखता है और अपने स्वरूप को नहीं देखता हैं तथा समकिती नहीं वनता हैं, वह थोड़े दिन भलें ही सब्जवाग दिखा जाए, किन्तु वह राज्य व्यवस्था कभी

स्थायी नहीं बना सकता, कभी जनता का वास्तविक हित नहीं कर सकता।

कृष्णमुरारी ने स्थायी, हितकारी राज्य व्यवस्था बनाई थी। उसका कारण था कि वे समकिती थें। वे अपनें जीवन के साथ सम स्वरूप समझने के साथ राज्य व्यवस्था करते थें। वहाँ कुछ लेना देना नही था। जो भी विवाद व्यवस्था थी,उसे हटाकर वे लोक व्यवहार कर रहे थें। फिर भी सुन्दर राज्य व्यवस्था हो जाने के बाद भी जब बहुत से दुर्मति राजा लोग-दुर्योधन, जरासन्ध आदि ऐसे जो उपद्रव कर रहे थे, जिससे कि जनता की स्थिति डांवाडोल हो रही थी, जनता कष्ट पाती थी, तो उसको ठीक जमाने के लिए लोक-व्यवहार के साथ वे धार्मिक दृष्टि भी रखतें थे। जनता को जब फुरसत होती तो जीवन के उत्थान आध्यात्मिक चर्चा भी किया करतें थे।

आज के युग में यदि अपनें व्यवसाय से कुछ समय मिल जाए तो क्या करतें हैं? वें या तो सिनेमा की चर्चा करेगे,या इधर-उधर की एक दूसरे बुराई की चर्चा करेगें कि इसने यह किया और उसने वह किया। किन्हीं व्यक्ति की मित्रता होगी तों सोचेगे कि उनकी मित्रता कैसे तुड़ाई जाए? इसके घर में हो रहा हैं और उसके धर में ऐसा किया जा रहा हैं- इन्ही सब बातों में अपना सारा समय नष्ट कर देतें हैं।

बन्धुओं! मैं आपसें कहता हूँ कि क्यों अपना अमूल्य समय नष्ट कर हो? क्यों अपनी अमूल्य शक्ति को व्यर्थ गँवा रहें हों? दो चार रूपयें खो जाएं आप विचार करतें और उन्हें खोजतें हैं किन्तु आप इस अनमोल जिह को व्यर्थ में क्यों खो रहे हैं? इसमें कर्मबंधन के सिवाय कुछ भी हाथ नहीं आने हैं। तेरा-मेरा करतें सारा जीवन चला जा रहा है। जबकि चाहिए तो यह व्यवसाय से उठो तो कुछ आध्यात्मिक चर्चा करो जिससे कि यह जीवन बन जाए। यदि गन्दगी ही गन्दगी फैलाई जाए तो शान्ति का सोपान नहीं पाओगे।

यह तो हुई बाजार की बात। किन्तु देखने में आता हैं कि धर्मस्थ भी वही की वही बातें होती हैं। ये माताएँ बहुतेरी बातें सुनाती हैं। मात समकिती होगी, तभी शान्ति से सुन रही हैं। इन माताओं के भीतर लगन हैं तीव्र अभिलाषा हैं। किन्तु थोड़ा सा संशोधन कर लिया जाए तो स्वर्ण में आ जाए।

वह संशोधन क्या करना हैं ? मैं आशा करता हूँ कि यहाँ की बहिनों में वह बात नहीं होगी। किन्तु यदि हो, तो अब ध्यान रखना हैं कि धर्मस्थान पर हम लड़ाई झगड़े की बातें, एक दूसरे का माथा फुड़ानें की बाते, एक दूसरे की चुगली खाने की बातें नहीं करेगें। ऐसी बातें क्यों होती है, इस चर्चा में मैं अभी नहीं पड़ूँगा। अभी तों मैं इतना कहूगाँ कि हम अपनें आत्मिक स्वरूप को पहिचानने के लिए क्रिया और संवर की साधना करें। यदि हम सब लोग इस प्रकार प्रण कर लें तो धर्मस्थान का वायुमण्डल भी कितना अच्छा, कितना पवित्र, कैसा मंगलमय बन जाए।

ऐसा सुन्दर वातावरण एवं वायुमण्डल बनाने की विशेष जिम्मेदारी इन सतियों जी पर हैं। एक दिन नानूजी सती कह रही थी। कि-प्रतिक्रमण में ये बहिनें ऐसा कर रही थी और मैनें कहा तो चुप हो गई। तो यह कुछ भी नहीं हैं। यह तों वर्णमाला हैं। आपंको तो शान्ति के सोपान पर बहुत आगे चढ़ना हैं। सभी भाइयों को समझाना हैं कि आप भी धर्मस्थान पर पर पहुँचें तो प्रण करलें और मौन धारण करलें। इस स्थान पर आकर हम आध्यात्मिक खोज करें और आत्मा की शान्ति का सोपान प्राप्त करनें का प्रयत्न करें। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के लिए कोई कठोर वचन न निकालें।

भाइयों! मनुष्य गलतियों का भाजन हैं। भूल हो जाना स्वाभाविक हैं। भूल हो जाने पर एक तो प्रेम से समझाया जा सकता हैं और दूसरा कठोर वचनों से डाँटा-फटकारा जा सकता हैं। तरीका यह हैं कि किसी व्यक्ति का कार्य यदि पसन्द नहीं हैं और उसको बदलना हैं तो बड़ों का कर्तव्य हैं कि प्रेम और स्नेह के साथ आदरपूर्वक समझाकर कार्य करें। संक्षेप में कहा जा सकता हैं कि हमें अपने वचनों का सदुपयोग करना चाहिए, न कि दुरूपयोग। यदि आप ऐसा करेगें तो इससे जो स्थिति बनेगी उसका आनन्द भी आप लेगें तभी जानेगें। आप ऐसा करके देखिए तों सही।

एक समय कृष्ण की राजधानी में राज्य सभा जुड़ी हुई थी। राज्य सभा में धार्मिक आध्यत्मिक चर्चाएँ चल रही थी। उस समय एक अद्भूत दृश्य बना-

सभा में सुन्दर आध्यात्मिक चर्चा चल रही थी कि अचानक सबकी दृष्टि आकाश की ओर खिंच गई। उस न्याय नीति की वार्ता में भी भंग हो गया। सब

देखनें लगे कि यह क्या हो गया? यह तेजपुंज आकाश से किसका आ रहा हैं? सभी सभासद आकुल व्याकुल हो गए। एक मात्र त्रिखंडाधिपति जैसे थें वैसे ही स्थिर रहें, वे तनिक भी व्याकुल नही हुए। उन्होने कहा-

"आकुल या अधीर होने की कोई बात नहीं। ऐसा करने से कोई लाभ भी नहीं होता। यह तेजपुंज कौन हैं, क्या है, इसका पता धैर्य के साथ लगाना हैं।"

यह कथन सुनकर जनता कहने लगी-

"नाथ! हम व्याकुल न हो तो क्या हों? अग्नि का स्वभाव उर्ध्वगमन का हैं तथा आकाश की ओर बढ़नें का उसका स्वभाव हैं, किन्तु हम तो इसके विपरीत दृश्य देख रहें कि यह प्रकाश पुंज तो नीचे की ओर आ रहा हैं। तो यह आग का गोला तों नहीं हो सकता। हे दीनानाथ!"

यह 'दीनानाथ सम्बोधन कुष्ण के लिए भी अपयुक्त था क्योंकि वे दीनो के नाथ थें और दूसरा सूर्य के लिए भी उपयुक्त था, क्योंकि 'दिन-नाथ' होतें हैं। लेकिन सूर्य का गमन भी तिरछा होता हैं।

इस प्रकार सभासद लोग असमंजस और विस्मय में पड़ें हुए थें। किन्तु जैसे-जैसे वह प्रकाशपुञ्ज नीचे की ओर आया, वैसे वैसे जनसुमदाय की आशंका का निवारण होता चला गया।

एक विमान उतरा। उसमें से नारद जी नीचे उतरें। यह देखकर सब आनन्द विभोर हो गयें। सबं कहनें लगें- अरें, ये तो नारद बाबा हैं। अलौकिक लीलाओं वाले नारद को देखकर सब आश्वस्त एवं अह्लादित हो गयें।

नारद बाबा ब्रह्मचारी हैं। सभ्यक्दृष्टि वालें हैं। इनके जीवन में आत्मा-परमात्मा के विषय में भाव हैं। ये परिभ्रमण करतें रहतें हैं ये राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारों के पास भी जातें हैं। परन्तु विचित्र क्रिया थी।

अस्तु, ज्योंही उन्होने सभा में प्रवेश किया तो उन्हें सम्मान देने के लिए सत्कार देने के लिए सब के साथ त्रिखण्डाधिपति उठ खड़े हुए। सब उन्हें सम्मान देतें हैं। तत्पश्चात् उन्हें वें उचित आसन प्रदान करतें हैं। इस प्रकार अभिवादन एवं आसन प्रदान करनें के पश्चात् कृष्ण उनसें पूछतें हैं-

"बाबाजी! आपकी यात्रा सफल, सानन्द तो हुई?"

नारद जी ने उतर दिया- "कृष्ण! मैं आनन्दपूर्वक विचरण करता हुआ यहाँ आ रहा हूँ। आप तो कुशल क्षेम से है न?" कृष्ण उतर देते हैं- "जहाँ नारद

जी की कृपा हो, वहाँ कुशल-क्षेम क्यों न हो?''

इस प्रकार परस्पर उचित शिष्टाचार का निर्वाह कर लेने के उपरान्त कृष्ण कहतें हैं-

''बाबाजी! आज न सभासदों का, इस द्वारिका नगरी का और राजभवन का धन्य भाग्य हैं कि आप जैसे सम्यक् दृष्टि वाले, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अरिहन्त भगवान की उपासना करने वाले ऐसे शीलवंत पुरुष यहाँ पधारें। इससे यह राजभवन भी धन्य हो गया, पवित्र हो गया।''

श्रीकृष्ण नारद जी की इस प्रकार से अभ्यर्थना करने के बाद सारे नगर निवासियों ने भी इसी प्रकार उन मंगलमय पुरुष की उपासना की। ठीक भी हैं, बड़े पुरुष जिस प्रकार का आचरण करतें हैं- वैसा ही आचरण छोटे पुरुष भी करतें हैं। बड़ों का अनुकरण छोटे करतें ही हैं। यदि बड़ें पुरुष अपनी अपनी स्थिति से जनता को सम्मानित कंरतें हैं तो जनता भी अपने स्वामी का सम्मान करती हैं। यदि बड़े अभिमान से रहतें हैं। तो छोटे भी अभिमान से रहना सीख जातें हैं। यदि बड़े जन सत्कार नहीं करेगें तो पीछें के लोग भी सत्कार नहीं करेगें। समदृष्टि आत्मा जब किसी से मिलती है तो आनन्द विभोर हो जाती हैं और उनके बाल बच्चे भी आनन्द विभोर हो जाते हैं।

आपनें अनुभव किया होगा कि जब सन्तों का आगमन होता हैं तो बच्चें-वच्ची भी अपनें अभिभावकों के साथ दो चार मील तक पैदल चले जातें हैं। वे यह तो नही जानतें कि ये कौन सन्त हैं। किन्तु माता-पिता का अनुकरण करके बालक उछलने लगतें हैं। त्रिखण्डाधिपति सुंसस्कारों से संस्कारित थें। सम्यक् दृष्टि होने के कारण जव उनका जीवन और लोगो के वीच रहता, तो वे और लोग भी उनसे प्रभावित होतें थें और उनका जीवन भी पवित्र बन जाता था। आप से भी मेरा यही कहना है कि आप भी सातों व्यसनों का त्याग करें। आप यदि सम्यक् दृष्टि हैं और शान्ति के सोपान पर चढ़ना चाहतें हैं तो जीवन के सभी पहलुओं पर विचार करें।

वन्धुओ! पुण्य वन्ध के नौ कारण हैं। किन्तु उनमें मन पुण्य, वचन पुण्य और काया पुण्य- इन तीन प्रकार के पुण्यों की स्थिति का जैसा निर्देश दिया गया हैं तो उनसे भी पुण्य वन्ध होता हैं। जव सम्यक् दृष्टि आत्मा सम्यक् दृष्टि से,

मधुर वचनों से और शरीर से सेवा करता हैं। तो वह मन से, वचन से और काया से पुण्य बाँध लेता है।

अस्तु, आज मैं आपको शान्ति के दूसरे सोपान पर-सीढी पर बैठाकर बात करता हैं कि-''आगमधर गुरु समकिती......................।'' उस समझ के साथ यदि आपका ध्यान जुड़ गया तो फिर आनन्द विभोर होते देर नहीं लगेगी।....

नारद बाबा पहुँच गए। वे क्या समाचार लाए हैं और कौनसी नई स्थिति उत्पन होती हैं यह आप आगे सुनेगे। अभी तो मंगलाचरण हुआ है। शुभ वार्ता हो रही हैं। आगे क्या स्थिति आएगी यह अभी भावी के गर्भ में हैं। वह स्थिति जब आएगी तब उसका वर्णन किया जाएगा।

किन्तु आज आप इस बात को अपने-अपने हृदयों में अवश्य बिठाले कि शान्ति के अमंर आनन्दमय मार्ग पर बढ़नें के लिए आपको स्वयं प्रयंन्न करना हैं और समकिती गुरु की शरण खोजनी हैं। उसके पश्चात् जब आप आत्मावलोकन के सहारे अपने आचरण में वह ज्ञान उतारने लगेगें तो अवश्य ही शान्ति-सोपान की सीढ़िया चढ़नें के अधिकारी बनेगें, वैसी योग्यता आप में स्वतः ही उद्भूत होने लगेगी।

-इत्यलम्

त्याग का महत्व

"असंखयं जीविय या पमायए............... ।"
शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना
"शान्ति जिन एक मुझ वीनती.................... ।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में, शान्ति के स्वरूप को समझनें समझानें के लिए पंक्तियों का उच्चारण किया गया हैं। प्रभु की शक्ति दिव्य शक्ति के रूप में व्यक्त हुई हैं। उनकी शान्ति सत् चित आनन्दघन के रूप में परिपूर्ण मात्रा में प्रकट हो चुकी हैं। ऐसे शान्तिनाथ भगवान के चरणों में विवेक पूर्वक तात्विक रूप को समझानें के लिए कवि आनन्दघन जी ने यहाँ सकेंत दिया हैं। वे कहतें हैं कि हैं प्रभु! मैं आपके चरणो में प्रार्थना के माध्यम से शान्ति के स्वरूप को समझानें का प्रयास करना चाहता हूँ। अर्थात, आपको में आदर्श रूप में समझूँ और अपनें इस जीवन में रहने वालें आत्मिक स्वरूप को मैं श्रद्धा दृष्टि से पहिचानँ, इस दृष्टि से पवित्र बनूगाँ। मेरे अन्तः- करण की स्थिति आपके आदर्श की पुण्य छाया में अज्ज्वलतम बनेगी। तभी मैं शान्ति के स्वरूप को धैर्यपूर्वक टिका सकूँगा।

सभी भव्य प्राणी अपनी-अपनी भावनाओं को परमात्मा के चरणों में व्यक्त कर सकतें हैं और उसके माध्यम से ही शास्त्रीय दृष्टि से उस स्वरूप को प्राप्त करके अनन्त शान्ति के झूलें में झूलें जा सकता हैं। ऐसा झूला, ऐसा सुखद हिन्डोला, जो कि सदा काल तक चलता रहे। अन्तकरण में इसी प्रकार की शान्ति की कामना जागृत होनी चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए वैसी ही साधना भी प्रत्येंक जीव को करनी चाहिए।

ऐसी दिव्य शान्ति का स्वरूप भली प्रकार समझ में आ सकें , इसके लिए भी कोई ऐसा सुयोग्य साधक होना चाहिए जो समुचित मार्गदर्शक कर सकें। उस साधक की स्थिति भी उन्नत, पवित्र एवं दीर्ध दृष्टि वाली होनी चाहिए। ऐसी उच्च स्थिति तक जो पहुँच जातें हैं वे महापुरुष के रूप में- भगवान महावीर की वाणी के अनुसार गुरु-वृद्ध के रूप में प्रकट होतें हैं। इसी हेतु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान शान्तिनाथ की चरम शान्ति की मंजिल पर पहुँचनें के लिए जो सीढ़ियों को निर्देश दिया गया हैं उसका विवेचन चल रहा हैं।

इस गाथा का उच्चारण मैं पुनः पुनः कर रहा हूँ। जिन शब्दों को अर्थ हो चुका हैं, उन्हें छोड़कर आगे के अर्थ को ग्रहण किया जा रहा हैं। वह गाथा हैं-

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा...................।"

भाई, यदि तुम उस मार्ग को प्राप्त करना चाहते हो, तो गुरु और वृद्ध जन की सेवा करो।

इस स्थान पर यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यहाँ 'वृद्ध' शब्द से अभिप्राय केवल वय की , उम्र की वृद्धता से नही हैं। अवस्था की दृष्टि से वृद्ध होना ही पर्याप्त नहीं हैं। अवस्था तो वृद्धत्व की भी हो सकती हैं और तरूणाई की भी। किन्तु जो अनुभव एवं ज्ञान की दृष्टि से आगे बढ़ें हुए हैं तथा जिनकी आन्तरिक दृष्टि दीर्धकालीन हैं, जो वस्तु के परछोर को देखनें में समर्थ हैं, वे ही वृद्ध की संज्ञा पा सकतें हैं , फिर चाहे उनकी उम्र तरूणाई की हो अथवा वृद्धत्व की।

शास्त्रों में स्थविरों का वर्णन जहाँ आया हैं वहाँ कहा गया हैं कि साठ वर्ष की वय जिनकी हो जाए वह वयःस्थविर हैं। जिसकी दीक्षा पर्याय बीस वर्ष की हो जाए वह दीक्षा स्थविर हैं। तथा आचारांग, सूयडांग, ठाणागं, समवायांग इत्यादि शास्त्रों का जिन्हें समुचित ज्ञान हो जाए वह शास्त्र-स्थविर कहलाता हैं।

अब यदि कोई व्यक्ति उम्र की दृष्टि से भी, दीक्षा की दृष्टि से भी तथा ज्ञान की दृष्टि से भी इन तीनों दृष्टियों से 'वृद्ध' की संज्ञा पा सके तब तो सोने में सुगन्ध जैसी बात हो जाए। ऐसे महापुरुषों की सेवा करने से ही शान्ति का सोपान प्राप्त हो सकता हैं।

त्याग का महत्व

"असंखयं जीविय या पमायए..............।"

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती...................।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में, शान्ति के स्वरूप को समझनें समझानें के लिए पंक्तियों का उच्चारण किया गया हैं। प्रभु की शक्ति दिव्य शक्ति के रूप में व्यक्त हुई हैं। उनकी शान्ति सत् चित आनन्दघन के रूप में परिपूर्ण मात्रा में प्रकट हो चुकी हैं। ऐसे शान्तिनाथ भगवान के चरणों में विवेक पूर्वक तात्विक रूप को समझानें के लिए कवि आनन्दघन जी ने यहाँ सकेंत दिया हैं। वे कहतें हैं कि हैं प्रभु! मैं आपके चरणो में प्रार्थना के माध्यम से शान्ति के स्वरूप को समझानें का प्रयास करना चाहता हूँ। अर्थात, आपको मैं आदर्श रूप में समझूँ और अपनें इस जीवन में रहने वालें आत्मिक स्वरूप को मैं श्रद्धा दृष्टि से पहिचानँ, इस दृष्टि से पवित्र बनूगाँ। मेरे अन्तः- करण की स्थिति आपके आदर्श की पुण्य छाया में अज्ज्वलतम बनेगी। तभी मैं शान्ति के स्वरूप को धैर्यपूर्वक टिका सकूँगा।

सभी भव्य प्राणी अपनी-अपनी भावनाओं को परमात्मा के चरणों में व्यक्त कर सकतें हैं और उसके माध्यम से ही शास्त्रीय दृष्टि से उस स्वरूप को प्राप्त करके अनन्त शान्ति के झूलें में झूलें जा सकता हैं। ऐसा झूला, ऐसा सुखद हिन्डोला, जो कि सदा काल तक चलता रहे। अन्तकरण में इसी प्रकार की शान्ति की कामना जागृत होनी चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए वैसी ही साधना भी प्रत्येंक जीव को करनी चाहिए।

ऐसी दिव्य शान्ति का स्वरूप भली प्रकार समझ में आ सकें , इसके लिए भी कोई ऐसा सुयोग्य साधक होना चाहिए जो समुचित मार्गदर्शक कर सकें। उस साधक की स्थिति भी उन्नत, पवित्र एवं दीर्घ दृष्टि वाली होनी चाहिए। ऐसी उच्च स्थिति तक जो पहुँच जातें हैं वे महापुरुष के रूप में- भगवान महावीर की वाणी के अनुसार गुरु-वृद्ध के रूप में प्रकट होतें हैं। इसी हेतु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान शान्तिनाथ की चरम शान्ति की मंजिल पर पहुँचनें के लिए जो सीढ़ियों को निर्देश दिया गया हैं उसका विवेचन चल रहा हैं।

इस गाथा का उच्चारण मैं पुनः पुनः कर रहा हूँ। जिन शब्दों को अर्थ हो चुका हैं, उन्हें छोड़कर आगे के अर्थ को ग्रहण किया जा रहा हैं। वह गाथा हैं-

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा....................।"

भाई, यदि तुम उस मार्ग को प्राप्त करना चाहते हो, तो गुरु और वृद्ध जन की सेवा करो।

इस स्थान पर यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि यहाँ 'वृद्ध' शब्द से अभिप्राय केवल वय की , उम्र की वृद्धता से नही हैं। अवस्था की दृष्टि से वृद्ध होना ही पर्याप्त नहीं हैं। अवस्था तो वृद्धत्व की भी हो सकती हैं और तरूणाई की भी। किन्तु जो अनुभव एवं ज्ञान की दृष्टि से आगे बढ़ें हुए हैं तथा जिनकी आन्तरिक दृष्टि दीर्घकालीन हैं, जो वस्तु के परछोर को देखनें में समर्थ हैं, वे ही वृद्ध की संज्ञा पा सकतें हैं , फिर चाहे उनकी उम्र तरूणाई की हो अथवा वृद्धत्व की।

शास्त्रों में स्थविरों का वर्णन जहाँ आया हैं वहाँ कहा गया हैं कि साठ वर्ष की वय जिनकी हो जाए वह वयःस्थविर हैं। जिसकी दीक्षा पर्याय बीस वर्ष की हो जाए वह दीक्षा स्थविर हैं। तथा आचारांग, सूयडांग, ठाणागं, समवायांग इत्यादि शास्त्रों का जिन्हें समुचित ज्ञान हो जाए वह शास्त्र-स्थविर कहलाता हैं।

अब यदि कोई व्यक्ति उम्र की दृष्टि से भी, दीक्षा की दृष्टि से भी तथा ज्ञान की दृष्टि से भी इन तीनों दृष्टियों से 'वृद्ध' की संज्ञा पा सके तब तो सोने में सुगन्ध जैसी बात हो जाए। ऐसे महापुरुषों की सेवा करने से ही शान्ति का सोपान प्राप्त हो सकता हैं।

उपरोक्त शास्त्रीय दृष्टि का कविता में भी थोड़ा संकेत दिया गया हैं और कहा गया है-

"आगमधर गुरु समकिती...................।"

उतराध्ययन सूत्र में जो गुरु का लक्षण बताया गया हैं उसका कुछ भाव इस कविता की गाथा में भी जुड़ गया हैं। जब कोई एक लक्ष्य स्थिर हो जाएगा तब फिर उन्नति का मार्ग बतानें वालें के मिलने का संयोग भी बैठे जाएगा। तों यहाँ बताया गया हैं कि इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु जिसका संयोग लिया जाए वह आगमधर हो- गुरु स्थविर हो। गुरु शब्द की व्याख्या पहलें की जा चुकी हैं। वह समकिती हों, इसका भी विश्लेषण मैने पहलें कर दिया हैं।

अब "क्रिया संवर सार"- यदि इस कथन का सम्बन्ध पूर्व की इन व्याख्याओं के साथ जोड़ दिया जाए, अर्थात जीवन में जितनी भी क्रियाएँ हो रही हैं उनमें यदि संवर की प्रधानता रहें, तो शान्ति का मार्ग शीध्रतापूर्वक एवं सरलता से तय हो जाएगा।

इस स्थान पर यह बात फिर से अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि संवर का तात्पर्य क्या हैं तथा क्रिया की प्रक्रिया क्या है।

वैसे तो क्रिया का सामान्य अभिप्राय यह हैं कि जिसके द्धारा कुछ किया जाए या कुछ करना क्रिया हैं। हिलना-चलना भी क्रिया हैं। परिस्पंदन भी क्रिया हैं। हाथ पैर के हिलनें डुलने, हृदय के धड़कतें रहनें.आदि को क्रिया की संज्ञा दी गई हैं। यह सारा व्यापार मानव शरीर में स्वाभाविक रूप सें चलता ही रहता हैं। मानव इन क्रियाओं से सम्पन हैं ही तथा इन क्रियाओं को कोई नए सिरे से निर्माण करनें की आवश्यकता नहीं हैं। इन्सान अपनी आवश्यकतानुसार स्वाभाविक रूप से उठता, बैठता, चलता, खाता-पीता रहता हैं। वार्तालाप भी करता हैं, भय से प्रकंपित होता हैं। संक्षेप में शरीर सम्बन्धी सभी चेष्टाएँ व्यक्ति की चालू हैं। कोई भी प्राणी इस प्रकार की चेष्टाओं से शून्य नहीं हैं। क्रिया जड़ के भीतर भी बनती हैं,, यद्यपि वह स्वतः रूप से वैसी व्यवस्थित नहीं बनती जैसी कि चेतन की क्रिया स्वतः व्यवस्थित रहती हैं। उदाहरण के लिए आपने अपने स्थान पर बैठे हुए विचार किया कि चलो, यहाँ बैठे-बैठे क्या करेगे, थोड़ी देर के लिए चलकर महाराज का प्रवचन ही सुन आएँ। ऐसी आपके भीतर भावना आपके भीतर जागृत हुई।

यह विचार आपके मन में उदित हुआ कि सन्तों के समीप जाने से कुछ ना कुछ अच्छें संस्कार ही हमारें चंचल मन पर पड़ेगे। कुछ भगवतवाणी सुनने को मिलेगी।

यह भावना जागृत होते ही आपके शरीर में रहने वाले अधिष्ठाता ने क्रिया करने का आदेश दिया। यह आदेश प्राप्त होतें ही शरीर मे व्यापार की शक्ति उत्पन हुई और यह शरीर पिण्ड ब्यावर के बाजार में होते हुए बिरद भवन की ओर बढ़ा। मार्ग में आपको कुछ व्यक्ति भी मिले, कुछ वाहन भी मिलें। आपको किसी से कोई टक्कर नही हुई। रास्तें में घुमाव भी आयें, दीवारें भी आई, किन्तु उन सबसे बचाते बचाते आप यहाँ पहुँच गए।

दूसरी ओर धूलि को लीजिए, जो कि जड़ है। पवन के सहारे धूलि उड़ने लगती हैं जिधर भी हवा का रूख होता हैं उधर ही धूलि के कण उड़ जाते हैं। सामने यदि दीवार आ जाए तो उसी से टकरा कर वे वहीं गिर पड़तें हैं। तो क्रिया तो आप में भी हुई और धूलि में भी हुई। किन्तु धूलि की क्रिया स्वतः व्यवस्थित नही है। जबकि आप में होने वाली क्रिया स्वतः व्यवस्थित हैं। इसीलिए आप सभी बाधाओं और रूकावटों को पार करते हुए सुरक्षित यहाँ पहुँचे जबकि धूलि के साथ ऐसा नहीं हुआ।

तो यह व्यवस्थित क्रिया-व्यापार करने वाला कौन है?

क्या आपने कभी इस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार क्रिया है? क्या कभी उसे पहिचानने का प्रयास आप करतें है? यह व्यवस्थित व्यापार करने वाला कर्ता है- चेतन आत्मा। धूलि के कण इधर उधर बिखर जातें है, टकरा कर छिटक पड़तें हैं। क्योंकि वे जड़ है उनका कोई व्यवस्थित क्रिया व्यापार नही हैं। किन्तु चैतन्य की क्रियाएँ व्यवस्थित होती हैं। उन्हें और भी सुव्यवस्थित, सुनियोजित करने की आवश्यकता है। उनमें संवर लाने की जरूरत हैं। संवर का तात्पर्य हैं सवंरण करना, रोकना। आत्मा की ओर आते हुए पापों को रोकना संवर का ही कार्य है, अभिप्राय है। हमारी क्रियाएँ यदि सवंर के साथ हो तों पापबंध रूक जाए। हमें अपनी समस्त क्रियाओं को संवर का आश्रम लेकर धार्मिक क्रियाओं की ओर मोड़ देना चाहिए। यदि हम ऐसा करेगे तो हमारा सोना उठना, चलना-फिरना इत्यादि सभी क्रियाएँ हमें शान्ति के सोपान की ओर ले जाने वाली बन जाएँगी।

मनुष्य-जीवन अमूल्य है। महान् है। हमें इसे और भी भव्य बनाना चाहिए। यदि हमारी क्रियाओं में संवर का संशोधन आ जाएगा तो हमारा आपसी

व्यवहार भी निश्चय ही भव्य बनेगा। संवर ऐसा चमत्कारिक हैं कि क्रिया के साथ मिलाकर वह मनुष्य को आत्मिक शान्ति की ओर शीघ्रता से ले जाता हैं। और मनुष्य में सच्ची मानवता को प्रस्फुटित कर देता हैं।

मनुष्य जब संवर के साथ क्रिया करना आरम्भ कर देता हैं तो शान्ति की मंजिल उसके लिए व्यवस्थित बन जाती हैं। सरल बन जाती हैं। उससे पापों का परित्याग होता हैं। और धर्म का मधुर रस प्राप्त होने लगता हैं जो भी व्यक्ति संवर की आराधना करतें हुए क्रिया करेगा, वह क्रिया उसकी मोक्ष मार्ग की ओर होगी। पवित्र मोक्ष-मार्ग में जो भी बाधाएँ और विपतियाँ हैं संवर सहित क्रिया करने से उन सबका परित्याग होगा।

हमारी जो भी क्रियाएं संवर के साथ जुड़े, वे त्याग के साथ जुड़नी चाहिए। संवर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। त्यागपूर्वक क्रिया का संवर के साथ जुड़ना स्वर्ण में सुगन्ध के समान हैं, बल्कि वही क्रिया सार होती हैं। त्याग के साथ जब इन्सान चलता हैं तों जीवन में सारा कार्यक्रम व्यवस्थित बन जाता हैं। अतः त्याग की भावना के पूर्ण महत्व को भी अच्छी तरह से समझ लेना चहिए।

कभी-कभी मेरे भाई अपने मन की स्थिति व्यक्त करने के लिए कहतें है। कि महाराज! हम मन में त्याग करलें, मन में त्याग आ जाना चाहिए, तब फिर प्रतिज्ञा करने क्यों खड़ें हो? वचन से त्याग क्यों करे? मैं इस शंका का निवारण यह कहकर करना चाहूँगा कि मन से भी त्याग हो, परन्तु केवल मन से ही त्याग हो , ऐसा नही होना चाहिए। उसमें से 'ही' को निकाल कर 'भी' लगा लेना चाहिए। अर्थात मन से प्रारम्भ करिए, वह तो परमावश्यक हैं ही, किन्तु मन में उठने वाले उस त्याग भावना के प्रवाह को इतना प्रबल बनाओं कि वह वाणी के रूप में प्रगट हो जाए। और फिर इससे भी आगे यह प्रवाह इतना तीव्र बनना चाहिए कि वह काया के अणु-अणु में प्रवाहित हो जाए। क्योंकि यदि काया के अन्दर- हाथ पैरों में वे संस्कार नहीं आए तो मन का त्याग केवल मन तक ही सीमित रह जाता है, जिसका कि कोई विशेष मूल्य नहीं रह जाता। दूसरे ही क्षण वह त्याग भूख के रूप में परिणत हो जाता हैं। वहाँ कोई बंदिश नहीं रहती हैं। संवर की क्रिया के स्तर रूप में वह त्याग जुड़ता है तभी वह वास्तव जीवन बनता है।

कभी-कभी कोई मनुष्य ऐसी भी सोचता हैं कि त्याग करने से क्या लाभ,

पाप करने आप ही किसी दिन छूट जाएगा। यदि मन में ज्ञान की मात्रा पर्याप्त होगी तो पाप क्रिया स्वतः ही छूट जाएगी। इस विचार दें में मैं यह संशोधन दूँगा कि छूट जाना एक बात है, और स्वंय अपनी ओर से छोड़ देना दूसरी बात है। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रक्रियाएँ करता हैं और वे छूटती भी रहती है। ऐसा प्रत्येक के साथ होता है। किन्तु स्वयं उन प्रक्रियाओं को छोड़ना बिरले ही लोगो के साथ होता हैं। त्याग प्रत्येक व्यक्ति नहीं कर सकता, किन्तु त्यागना तो प्रत्येक व्यक्ति को पड़ेगा ही।

आज मनुष्य संवर के महत्व को समझ नहीं रहा हैं। वह संवर के रूप में क्रिया नहीं कर रहा हैं। इसीलिए वह शान्ति का अनुभव नही कर रहा हैं। वह समकित को नहीं जानता, संवर किसे कहते हैं और उसका जीवन में कितना महत्व हैं यह भी उसे पता नहीं। परिणामतः वह त्याग से कोसों दूर है।

कौन नहीं जानता कि जीवन क्षणभंगुर है? कौन नहीं जानता कि एक न एक दिन इस जीवन का अन्त सुनिश्चित है? किसें यह ज्ञात नहीं कि ये मकान, ये हवेलियाँ, ये परिवार आदि सब कुछ यहीं छूट जाने वाला है।

कोई स्वीकार करें अथवा न करें, किन्तु सभी लोग यह जानतें है। फिर भी कितनें लोग है कि जो स्वयं अपनी ओर से इन्हें त्यागने के लिए प्रस्तुत हो जातें है? बहुत कम, बिरले ही लोग ऐसी तैयारी पहले से, अपनी ओर से करके रखते है।

किन्तु कोई छोड़ना चाहे अथवा न चाहे, उसे यह सब छोड़ना तो पड़ता ही हैं। परलोक को जब मनुष्य रवाना होता हैं तो परिवार, सम्पति आदि सब यहीं छूट जातें हैं। अर्थात् इनका त्याग उसे करना पड़ता हैं। वह त्याग हो जाता हैं, वह त्याग अनिवार्य हैं। तो बंधुओ! जो हो जाता हैं वह तो मुर्दे में, और जो किया जाता हैं वह जीवित में। अतः जानदार, जीवित, चैतन्य,प्रबुद्ध मनुष्य वही हैं जो स्वंय स्वेच्छा से , ज्ञानपूर्वक, प्रसनता से यह त्याग करता हैं। शेष व्यक्तियों की गिनती तो जानदार मनुष्य में की जानी कठिन ही है।

आपके पास कोई वस्तु हैं। आज उसे अपने से दूर नहीं करना चाहतें। उसका त्याग करने की तनिक भी भावना आपके मन में नहीं है। लेकिन कोई आप से अधिक समर्थ एवं बलवान व्यक्ति आप से वह वस्तु छीनकर ले जाता

हैं। तब आप यदि ऐसा कहें कि आपने उस वस्तु का त्याग कर दिया, तो आपका यह कथन मिथ्या हैं स्वयं को धोखा देना हैं। जब उस वस्तु को ग्रहण करने की आपकी तीव्र इच्छा थी, भावना थी किन्तु जबरदस्ती वह आपसे छीन ली गई, तो वह त्याग नहीं हैं।

त्याग स्वेच्छा से होता हैं। ''इदं न मम''- अर्थात् , ' यह मेरा नहीं '- इस प्रकार संकल्प करके जो व्यक्ति किसी वस्तु का त्याग करता हैं तों वह सच्चा त्याग कहलाता हैं। अब वह त्याग चाहे किसी छोटी सी वस्तु का ही हो, चाहे एक कोड़ी या दमड़ी का ही हो, किन्तु चूँकि उसके पीछे सच्ची त्याग भावना हैं इसलिए ऐसा त्याग करने वाला व्यक्ति जीवन में आनन्द का अनुभव अवश्य करेगा। संवर पूर्वक, स्वेच्छा से किया गया ऐसा त्याग सचमुच परम सुखदायी होता है।

इसके विपरीत अनिच्छापूर्वक रो-रो कर किए जाने वालें त्याग कां कोई वास्तविक मूल्य नहीं हैं। छूटना है, वह तो छूटेगा ही। छूटने की प्रक्रिया तो होनी ही हैं। पाप के जो कर्म बंधे हैं वे भी समय पाकर छूटेंगे ही, किन्तु संवर का आश्रय लेकर स्वेच्छा से शीध्रातिशीध्र उन पाप के संस्कारों को रोकने और नष्ट करने में ही मानव की विशेषता निहित हैं।

एक वृक्ष खड़ा हैं। समय आने पर वह एक दिन अवश्य ढह पड़ेगा। इसी प्रकार पाप के संस्कार भी एक दिन छूटेंगे। किन्तु इसमें विशेषता नहीं हैं। अपने इरादें से, प्रयत्न से, उन्हें छोड़ा जाए इसी में विशेषता है।

एक ओर बात यहाँ समझ लेनी चाहिए। जब भी त्याग का समय आए, तब त्याग तो करनी ही, हैं, किन्तु उसमें अभिमान की वृति कदापि नहीं आने देना चाहिए। कभी भी ऐसा नहीं सोचना अथवा करना चाहिए कि मैने यह त्याग किया। यदि ऐसा अहम् भाव आ गया तो मानना पड़ेगा कि एक भूत को घर से निकाला तो उसके स्थान पर दूसरा भूत आ गया।

मनुष्य के पास सम्पति होती हैं, सत्ता भी होती हैं। तो उसमें यह अभिमान नहीं होना चाहिए कि मेरे पास इतनी सम्पति हैं, इतनी सत्ता हैं। अब वह व्यक्ति जब उसमें से कोई सम्पति या सत्ता छोड़ता हैं, तो उस समय भी उसके मन में भी यह अभिमान नही आना चाहिए कि मैं इस सम्पति या सत्ता का त्याग

कर रहा हूँ। क्योंकि जो त्याग किया जा रहा है वह आत्मा के परिमार्जन के लिए संतोष तथा शान्ति प्राप्त करने के लिए ही किया जा रहा हैं। अब यदि वह त्याग करतें हुए भी मन में अभिमान बना रहा हैं तो उस व्यक्ति को सच्चा सन्तोष और शान्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकेगी।

हाँ, वस्तु के कथन को दृष्टि से कोई बात कही जा सकती हैं। किन्तु उसमें लक्ष्य वस्तु के कथन का ही होना चाहिए, न कि अपनी सम्पति या सत्ता अथवा बड़प्पन की प्रगट करने का। यदि कोई व्यक्ति कोई त्याग करता हैं तो वह दूसरों को भी समझाने तथा शुभ कार्य में प्रेरित करने हेतु कह सकता कि भाई, मैंने ऐसा किया हैं तुम भी ऐसा करो तो अच्छा होगा। ऐसी बात निरंहकार रूप से, अन्य जन के हित की भावना से कहने में हानि नहीं हैं। किन्तु अहंकार एवं आत्मदर्शन की भावना से कोई ऐसी बात कहना उचित नहीं हैं। आप बड़े हो सकतें और त्याग कर सकतें हैं, किन्तु अपने बड़प्पन और त्याग का प्रदर्शन दूसरों को नीचा दिखाने के लिए कभी मत करिए। ऐसा करना क्रिया में संवरसार की 'भावना के विपरीत है।

एक रूपक सामनें प्रस्तुत करतें हुए इस बात की और भी सरल रूप से समझानें का प्रयत्न करता हूँ। एक आदमी अपनी पीपी में असली गाय का घी लेना चाहता हैं। वह इस उदेश्य से दुकानदार के पास पहुँचता हैं और असली घी की मांग करता हैं। दुकानदार बेजीटेबल घी नहीं रखता, हमेशा शुद्ध, असली घी रखता हैं और बेचता हैं। वह पूछता हैं कि घी किस बर्तन में दूँ? तब खरीददार अपनी घासलेट की पीपी सामने करके कहता हैं कि लो मुझें घी इस पीपी में दे दों।

अब बेचारा दुकानदार सोचता हैं कि यह तो घासलेट की पीपी हैं। इसमें थोड़ा घासलेट भी हैं। यदि इसमें असली घी दे दिया जाए तो वह तों घासलेट के साथ मिलकर जहर बन जाएगा। तब वह खरीददार से कहता हैं कि भाई इस पीपी में घी लेना हो तो पहले इसे घासलेट से खाली कर दो। वह आदमी घासलेट निकाल लेता हैं और पीपी फिर दुकादार के सामने रख देता हैं। उस पीपी में घासलेट की बदबू अभी भरी हुई हैं। यह देखकर वह व्यापारी फिर कहता हैं- भाई, इसमें अभी घासलेट की बू भरी हैं। घी खराब हो जाएगा। तुम्हें खानें में आनन्द नही आएगा, और मेरी दुकान की बदनामी होगी सो अलग। मैं हमेशा अच्छा घी बेचता हूँ , किन्तु तुम्हारी गन्दी पीपी के कारण मुझे व्यर्थ बदनाम होना पड़ेगा।

अब दुकानदार के यह सव वात स्पष्ट कर देने के बाद भी यदि खरीदने वाला उसी प्रकार के गन्दी पीपी में घी ले जाए तों दोष किसका? दोष तो खरीदने वाले का ही रहेगा न? क्योंकि व्यापारी ने कर्तव्य दृष्टि से सब बात यथास्थिति कह दी।

इस रूपक का अभिप्राय यह हैं कि शुद्ध घी लेना हैं उसमें किसी प्रकार की बदबू नहीं चाहिए तो पीपी को साफ करना होगा, इसकी पहले की बदबू उड़ानी पड़ेगी। यदि एक व्यक्ति सत्ता और सम्पति से युक्त रहे, पाँचों इन्द्रियों के भोगो में लिप्त रहे और भोगता हुआ सोचे कि मैं मन से त्यागी रहूँगा और मन से मोक्ष हो जाएगा। तो क्या ऐसा होना संभव? वहाँ तो ऐसा ही होगा कि घासलेट के पीपी में घी ले रहा है। अव्बल तो उसमें घी आएगा ही नही, क्योंकि उसमें घासलेट भरा हैं, मान लो कि आ भी गया तो सब रापट-रोला हो जाएगा, गुड़ गोबर हो जाएगा।

हाँ दुर्गुणों रूपी घासलेट को निकालकर फिर त्याग का शुद्ध घी लीजिए। इतना ही नहीं, उसमें से त्याग के अभिमान की घासलेट बदबू निकालना आवश्यक हैं। यदि वह सम्पति और सत्ता के त्याग की बदबू भी आपको आत्मा रूपी पीपी में रह गई तो फिर 'सवंर-सार' का धृत भी आपके लिए विष के ही समान रहेगा।

अतः त्याग के साथ-साथ अहंकार को भी हटा दीजिए। अहंकार को हटाए बिना बदबू मिटने वाली नहीं हैं। संवर और क्रिया के विषय में सोचिए और सोचकर प्रण कीजिए। प्रण किये बिना कोई भी बात चरितार्थ होने वाली नहीं हैं। यदि आपके मन में त्याग की सच्ची भावना हैं तो उसे मूर्त रूप दीजिए! प्रण कीजिए और उसका निर्वाह कीजिए। ऐसा प्रण सबके सामने कीजिए, उसमें कोई बुराई नहीं हैं। यदि आपके मन में अहंकार नहीं हैं, तो उससे दूसरो का हित ही होगा, दूसरों का उससे प्रेरणा मिलेगी।

किन्तु आप ऐसा कोई त्याग कर नहीं रहें हैं। सबके सामने ऐसा कोई प्रण ले नही रहे हैं। इसका क्या कारण हैं? कारण है?-आपके हृदय की कमजोरी।

आखिर आप प्रतिज्ञा क्यों नही ले रहें हैं? इसीलिए न कि आप सोचते कि यदि मैने प्रतिज्ञा ले ली और वह भंग हो गई तो क्या होगा? इसका अर्थ यही हैं कि आपके मन में कमजोरी , आपके संकल्प में दृढता नहीं हैं और दूसरे अर्थ

में आप के मन में त्याग की वास्तविक भावना हैं ही नहीं। यदि त्याग की सच्ची और पक्की भावना हो, तो फिर प्रतिज्ञा करने में कोई हिचकिचाहट होनी ही नहीं चाहिए। आप प्रत्याख्यान नहीं ले रहे है, बाहर प्रण नहीं ले रहें है, तो आप में मानसिक कमजोरी व्याप्त हो रहीं है। जितनी मात्रा में यह कमजोरी है, उतनी मात्रा में यह कहा जा सकता हैं कि आप में से घासलेट की बदबू आ रहीं हैं, अभी आपका मन रूपी पात्र पूर्ण स्वच्छ नहीं हुआ है। यदि पूर्ण स्वच्छता होती तो आप सबके सामने त्याग करने की प्रतिज्ञा लेते।

व्यावहारिक क्रिया का एक उदाहरण आपको देता हूँ। अभी अभी कुछ दिन पूर्व राजस्थान के मुख्यमंत्री सुखाड़ियाजी ने मुख्यमंत्री पद से त्याग पत्र दिया था। तो यदि वे केवल मन से ही सोच लेते कि मेरे मन मे त्यागपत्र देने की भावना है, अब इसे जाहिर करने से क्या फायदा? यदि वे अपने मन के इस दृढ़ संकल्प को अपने मन तक ही रखते और सोच बैठतें कि मैने त्याग पत्र दे दिया, तो क्यां इतना सोच लेना पर्याप्त होता। क्या उनका त्यागपत्र वैधानिक माना जा सकता था?

नहीं! जनता कहती कि आप त्यागपत्र देना चाहते है तो लिखित रूप में क्यों नहीं देते? यदि लिखित रूप में नही देते, तो इसका अर्थ हैं कि आपके मन मे अभी मुख्यमंत्री पद की लालसा बनी हुई हैं। अब चाहे वे कितनी भी शपथ खाकर यह कहते कि मैं त्यागपत्र देना चाहता हूँ तो कोई इस बात को स्वीकार नहीं करता। वह बात तो सत्य और स्वीकार्य तभी हुई जब उन्होंने वैघानिक रूप में लिखित त्यागपत्र प्रस्तुत किया।

इस पूरी प्रक्रिया को आप समझें। मन की बात को उन्होने वाणी उच्चारण किया और फिर उसकी क्रियान्विति के रूप में लिखित त्यागपत्र दिया। तभी वह त्यागपत्र स्वीकृत हुआ।

अतः इसे दूसरे रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि मन का कितना भी दृढ़ संकल्प हो, किन्तु विधिवत् प्रक्रिया जब तक नहीं होती है, तब तक वहाँ जीवन की स्थिति में त्याग नहीं होता है।

इसी बात को एक अन्य उदाहरण देकर भी आपके सामने स्पष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ , ताकि यह अत्यन्त महत्वपर्ण बात आप लोगों को परी तरह से समझ में आ जाए।

देश में चुनाव होतें हैं। राज्यों में विधान सभाएँ बन जाती है। और केन्द्र में संसद का निर्माण हो जाता है, जिसके कि राज्य सभा तथा लोक सभा, ये दो सदन होते है। अब इन विधान सभाओं तथा संसद के प्रतिनिधि मिलकर राष्ट्रपति का चुनाव करतें है। तो राष्ट्रपति का चुनाव पूर्ण जनतान्त्रिक प्रणाली से हो जाता हैं। इतनी प्रक्रिया पूर्ण हो गई। राष्ट्रपति जो चुने गये, उनका भी पूर्ण एवं शुद्ध संकल्प है कि मैं इस पद पर रहकर देश की सेवा करूँ। किन्तु इतने मात्र से वे राष्ट्रपति नहीं मान लिए जाते और उनके चुनाव की प्रक्रिया पूर्ण नहीं मान ली जाती, यद्यपि वे बाकायदा चुनकर इस पद पर आये हैं पूर्णरूप से राष्ट्रपति पद का अधिकार और भार सम्हालने से पूर्व उन्हें सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा उस पद के कर्तव्य को निर्वाह करने हेतु शपथ दिलाई जाती हैं। जब यह शपथ सबके सामने ले जाती हैं तभी वे अन्तिम रूप से राष्ट्रपति माने जाते है। वह प्रक्रिया तभी पूर्ण मानी जाती हैं।

बन्धुओ! जब अन्य व्यावहारिक क्षेत्रों में ऐसी स्थिति है, तब धार्मिक क्षेत्र में भी आप उस प्रक्रिया का पालन क्यों नहीं करतें और ऐसा क्यों कहतें हैं कि जो हो गया सो गया, हमको त्याग करने की आवश्यकता नहीं है, या हमें प्रतिज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं हैं।

वास्तविकता यह हैं कि यह आपके मन की कच्ची स्थिति हैं। यह कच्ची स्थिति समाप्त होनी चाहिए और आपके इरादों में मजबूती आनी चाहिए। आपके मन के संकल्प की क्रियान्विति आपके आचरण में होनी चाहिए। आपकी तमाम क्रियाओं में संवर आना चाहिए तथा नियमितता आनी चाहिए। इस विधि से आप आगे बढ़ेगे तो परिवार, समाज तथा राष्ट्र का नाम उज्जवल करने वाले तेजस्वी पुरुष आप बन सकेगे। ऐसा तभी सम्भव हैं जबकि आप संवर और क्रिया को साथ लेकर चलेंगे।

आज का संसार बहुत अशान्त हैं मनुष्य को एक पल भी चैन और शान्ति नसीब नहीं हैं वह शान्ति के लिए इधर उधर भटक तो रहा हैं लेकिन यह जानता ही नहीं कि शान्ति किस प्रकार मिल सकती है? मैं आपसे बार-बार कहता हूँ कि यह शान्ति त्याग के बना कभी मिलने वाली नहीं हैं।

एक वन्दर कूदता-फाँदता एक हवेली की छत पर जा पहुँचा। वहाँ एक

वह शान्ति का अनुभव करेगा अथवा अशान्ति का? वह तो अशान्ति का ही अनुभव करेगा क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं रह सकेगा। हाथ की स्वतन्त्रता तभी रह सकेगी जब कि वह हलुवे का त्याग मुँह के लिए करेगा।

इसके पश्चात् मुँह सोचे कि ऐसे मीठे, मुलायम हलुवे का त्याग मैं क्यों करूँ, और वह उसे अपने में ही पकड़े रखें तो क्या होगा? वह भी अपंग हो जाएगा। बोल भी नहीं सकेगा। तो वह मुख भी इतनी भूल नहीं करता हैं और हलुवे का स्वाद लेकर उसे पेट के हवाले कर देता है।

अब यदि पेट यह सोचे कि इतने बढ़िया हलुवे को तो मैं कभी नहीं छोडूँगा तो पेट की क्या हालत होगी? और जो पेट की हालत होगी वही सारे शरीर की भी हो जाएगी। पेट जब तक मल भाग को बाहर नहीं निकालेगा, उसका त्याग नहीं करेगा तथा शेष भाग को सारे शरीर में वितरित नहीं करेगा तब तक उसे शन्ति का अनुभव नहीं होगा।

अतः बन्धुओ! त्याग से- संवर से रहित जो खाने का योग हैं वह भी दुखदायी होता हैं। इसलिए त्याग के महत्व को समझिए, और स्वयं कर्ता बनकर त्याग की ओर बढ़िए। यदि आप ऐसा करेगे तों सारी विषमताएँ मिट जायगी और आपको शान्ति का सोपान प्राप्त होगा। अन्यथा त्याग के अभाव में तो जीवन में अशान्ति ही अशान्ति है।

एक भाई ने सूचना दी हैं कि सरकार शीघ्र ही एक ऐसा कानून ला रही है जिससे कि जिस व्यक्ति के पास उसकी आवश्यकता से अधिक सम्पति अथवा भूमि हैं, उसे सरकार बिना कोई मुआवजा दिए राष्ट्र के हित में अपने कब्जे में कर लेगी। तो यदि ऐसा कानून आ जाता हैं तो अन्य व्यक्तियों की भी ठीक वहीं स्थिति हो जाती हैं जैसी कि राजाओं या जागीरदारों की हुई हैं। अब ऐसी परिस्थिति में यदि जबरदस्ती यह त्याग करना पड़ा तो फिर क्या वह त्याग कहलाएगा? नहीं! वह तो देना ही पड़ेगा, छोड़ना ही पड़ेगा, त्यागना ही पड़ेगा। अतः हमें दीर्घदृष्टि से सोच-विचारकर चलना चाहिए और त्याग करने की शान्ति और सन्तोष को प्राप्त करने का सुअवसर हाथ से नहीं निकल जाने देना चहिए।

आज मनुष्य त्याग के स्थान पर ग्रहण करने एवं संचय करने की वृति लिए हुए चारों ओर हाय-हाय करता फिर रहा हैं। सम्पति और सत्ता के झूले में

मैं शिक्षा का विरोधी नहीं हूँ। भला कोई भी व्यक्ति शिक्षा का विरोध कैसे कर सकता हैं? लेकिन यह तो देखना ही पड़ेगा कि शिक्षा जो दी जा रहीं हैं वह मनुष्य के, समाज के , मानवता के हित में हैं अथवा अहित में? आज स्कूलों और कॉलेजों का वातावरण कैसा है? वहाँ क्या शिक्षा दी जा रहीं हैं? वहाँ से पढ़कर, शिक्षित होकर निकलने वाले छात्र-छात्राएँ क्या योग्यता लेकर बाहर आ रहें हैं? जिस प्रकार की योग्यता लेकर वे हमारे समाज में आ रहे हैं उसका एक उदाहरण देखिए-

एक महिला कॉलेज से शिक्षित होकर निकली। वहाँ उसने नृत्य करना सीख लिया था। बाहर आकर अब उसे नृत्य करने और जीवन का आनन्द लेने की कामना जागी। ऐसा करने के लिए उसे पैसे की आवश्यकता थी। तों पैसा कमाना, ईमानदारी का पैसा कमाना तो कोई आसान काम है नहीं। उसके लिए दिन रात, सुबह-शाम, ऐड़ी चोटी का पसीना बहाना पड़ता हैं। किन्तु उस महिला को, जो कि आजकल की शिक्षा पद्धति से शिक्षित होकर आई थी, न मेहनत करती थी और न ईमानदारी की कोई चिन्ता थी। उसे तो केवल पैसा चाहिए था।

अतः उसने अपनी नृत्य-कला के सहारे सिनेमा आदि में जाकर पैसा कमाने की आधुनिक विधा सीख ली। यह नई विधा सीखकर उसने स्वयं को बड़े ठाट-बाट से सजाया, सुन्दर वस्त्र पहने और अप-टू-डेट मेमसाहब बनकर एक अस्पताल में पहुँची।

अस्पताल में वह डॉक्टर से मिलना चाहती थी। मरीजो की भीड़ थी। चपरासी ने कहा- मेम साहब, लाइन में अपने नम्बर से आइये। तब मेम साहब ने अपने पर्स से एक पाँच रुपये का नोट निकाला और चपरासी की मुट्ठी में थमा दिया। बस नई विधा ने काम दिखाया। चपरासी ने तुरन्त उसे अन्दर भेज दिया।

अब देवी जी डॉक्टर के पास पहुँची। डॉक्टर ने उनकी शान-बान और सजावट देखकर सोचा कि ये किसी बड़े घर की महिला है। तो अन्य सब मरीजों को हटाकर वे उनकी सेवा में हाजिर हो गये और पूछा-"कहिए श्रीमती जी! मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।"

देवी जी ने कहा "डॉक्टर साहब! मैं बहुत आवश्यक कार्य से आपके

पास आई हूँ। मेरे पति का इलाज करना हैं। आपकी बड़ी प्रशंसा सुनकर आपके पास आई हूँ अब आपका ही सहारा हैं।"

कुछ तो अपनी प्रशंसा सुनकर, और कुछ देवीजी के रूप यौवन तथा ठाट-बाट से प्रभावित होकर बड़े डॉक्टर एक दम विचलित हो गये और बोले-"कहिए! मुझे क्या करना है? आपके पति को क्या हो गया है?"

देवी जी ने चुपचाप पचास रुपये के नोट डॉक्टर के हाथ में दे दिए, जिन्हे डॉक्टर ने उसी प्रकार चुपचाप अपनी जेब के हवाले कर लिया और बोली- मेरे पतिदेव को एक मर्ज यह है कि उन्हें समय-समय पर पागलपन सवार हो जाता है और वे मुझसे कहते है कि लाओ रुपये, लाओ रुपये। अब डॉक्टर साहब आप बताइये कि मै कहाँ से लाऊँ इतने रुपये? मै बड़ी दुखी हो रही हूँ। कृपया मेरे पतिदेव का इलाज आप कर दीजिए। ये पचास रुपये जो मैने आपके दिये इन्हे तो आप भूल जाइये। आपकी फीस मै इलाज के बाद पूरी दे दूँगी, आप चिन्ता न करें, मेरे पति का इलाज आप अवश्य कर दीजिए। '

डॉक्टर साहब मान गए। देवी जी ने कहा-'डाक्टर साहब। जब मैं अपने पतिदेव को यहाँ लेकर आऊँ तब मुझे कोई रूकावट नही होनी चाहिए। और आप एक बात का और भी ध्यान रक्खें कि मेरे पतिदेव को तो पागलपन सवार होता रहता है। वे तो आपके पास भी आकर यही रट लगाऐंगे कि लाओ रुपये, लाओ रुपये। तो आप उनका इलाज करके, उन्हें देखकर, उन्हें पचास रुपये दे दीजिएगा ताकि उनका रोग अधिक न बढ़े।

ऐसा कहकर देवी ने पचास रुपये डॉक्टर को और दे दिये। डॉक्टर ने कहा-'सब ठीक है मै समझ गया। आप कोई चिंता न करें। मै आपके पति का इलाज कर दूंगा। ऐसा कहकर उन्होंने अपने चपरासी से कहा- 'देखोजी, ये देवी जी अपने पति को लेकर आऐंगी। उनके साथ कोई रोक टोक मत करना। '

इतनी व्यवस्था करके वह महिला सीधी अपने घर गई और एक बढिया सा तांगा किराए पर लेकर बाजार में उस स्थान पर गई जहां पर बड़े बड़े जौहरियो की दुकानें थी। हाथ में शानदार पर्स लटकाए, सजी-धजी, देवी जी एक बड़े जौहरी की दुकान में गई। दुकान के मालिक ने समझा किसी बड़े रईस घराने

मै शिक्षा का विरोधी नहीं हूँ। भला कोई भी व्यक्ति शिक्षा का विरोध कैसे कर सकता हैं? लेकिन यह तो देखना ही पड़ेगा कि शिक्षा जो दी जा रहीं हैं वह मनुष्य के, समान के , मानवता के हित में हैं अथवा अहित में? आज स्कूलों और कॉलेजों का वातावरण कैसा है? वहाँ क्या शिक्षा दी जा रहीं हैं? वहाँ से पढ़कर, शिक्षित होकर निकलने वाले छात्र-छात्राएँ क्या योग्यता लेकर बाहर आ रहें हैं? जिस प्रकार की योग्यता लेकर वे हमारे समाज में आ रहे हैं उसका एक उदाहरण देखिए-

एक महिला कॉलेज से शिक्षित होकर निकली। वहाँ उसने नृत्य करना सीख लिया था। वाहर आकर अब उसे नृत्य करने और जीवन का आनन्द लेने की कामना जागी। ऐसा करने के लिए उसे पैसे की आवश्यकता थी। तों पैसा कमाना, हेमानदारी का पैसा कमाना तो कोई आसान काम है नहीं। उसके लिए दिन रात, सुवंह-शाम, ऐड़ी चोटी का पसीना बहाना पड़ता हैं। किन्तु उंस महिला को, जो कि आजकल की शिक्षा पद्धति से शिक्षित होकर आई थी, न मेहनत करती थी और न ईमानदारी की कोई चिन्ता थी। उसे तो केवल पैसा चाहिए था।

अतः उसने अपनी नृत्य-कला के सहारे सिनेमा आदि में जाकर पैसा कमाने की आधुनिक विधा सीख ली। यह नई विधा सीखकर उसने स्वयं को बड़े ठाट-वाट से सजाया, सुन्दर वस्त्र पहने और अप-टू-डेट मेमसाहव वनकर एक अस्पताल में पहुँची।

अस्पताल में वह डॉक्टर से मिलना चाहती थी। मरीजो की भीड़ थी। चपरासी ने कहा- मेम साहव, लाइन में अपने नम्वर से आइये। तव मेम साहव ने अपने पर्स से एक पाँच रुपये का नोट निकाला और चपरासी की मुट्ठी में थमा दिया। वस नई विद्या ने काम दिखाया। चपरासी ने तुरन्त उसे अन्दर भेज दिया।

अव देवी जी डॉक्टर के पास पहुँची। डॉक्टर ने उनकी शान-वान और सजावट देखकर सोचा कि ये किसी बड़े घर की महिला है। तो अन्य सव मरीजों को हटाकर वे उनकी सेवा में हाजिर हो गये और पूछा-"कहिए श्रीमती जी! मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ।"

देवी जी ने कहा-"डॉक्टर साहव! मैं वहुत आवश्यक कार्य में आपके

पास आई हूँ। मेरे पति का इलाज करना हैं। आपकी वड़ी प्रशंसा सुनकर आपके पास आई हूँ अब आपका ही सहारा हैं।"

कुछ तो अपनी प्रशंसा सुनकर, और कुछ देवीजी के रूप यौवन तथा ठाट-बाट से प्रभावित होकर बड़े डॉक्टर एक दम विचलित हो गये और वोले-"कहिए! मुझे क्या करना है? आपके पति को क्या हो गया है?"

देवी जी ने चुपचाप पचास रुपये के नोट डॉक्टर के हाथ में दे दिए. [illegible] डॉक्टर ने उसी प्रकार चुपचाप अपनी जेब के हवाले कर लिया और बोले- [illegible] पतिदेव को एक मर्ज यह है कि उन्हें समय-समय पर पागलपन [illegible] है और वे मुझसे कहते है कि लाओ रुपये, लाओ रुपये। अब डॉक्टर [illegible] बताइये कि मै कहाँ से लाऊँ इतने रुपये? मै वड़ी दुखी हो रही हूँ। [illegible] पतिदेव का इलाज आप कर दीजिए। ये पचास रुपये तो [illegible] तो आप भूल जाइये। आपकी फीस मै इलाज के बाद [illegible] करें, मेरे पति का इलाज आप अवश्य कर दीजिए।"

डॉक्टर साहव मान गए। देवी जी ने कहा- डॉक्टर साहब [illegible] पतिदेव को यहाँ लेकर आऊँ तव मुझे कोई [illegible] एक बात का और भी ध्यान रखें कि [illegible] रहता है। वे तो आपके पास भी [illegible] रुपये। तो आप उनका इलाज करके, [illegible] ताकि उनका रोग अधिक न बढ़े।

ऐसा कहकर देवी ने [illegible] डॉक्टर को [illegible] दिये। डॉक्टर ने कहा-'सव ठीक है मै समझ गया। आप कोई चिंता न करें। मै आपके पति का इलाज कर दूंगा। ऐसा कहकर उन्होंने अपने [illegible] से कहा- 'देखोजी, ये देवी जी अपने पति को लेकर आऐंगी। उनके साथ कोई रोक टोक मत करना।'

इतनी व्यवस्था करके वह महिला सीधी अपने घर गई और एक वढिया सा तांगा किराए पर लेकर बाजार में उस स्थान पर गई जहां पर बड़े बड़े जौहरियो की दुकानें थी। हाथ में शानदार पर्स लटकाए, सजी-धजी, देवी जी एक वड़े जौहरी की दुकान में गई। दुकान के मालिक ने समझा किसी बड़े रईस घराने

की कोई महिला जवाहरात खरीदने आई है सो उसने बड़े तपाक से उसका स्वागत किया और अनेक प्रकार के मूल्यवान आभूषण उसे दिखाने लगा। देवी जी उनमें से बहुत से अच्छे- अच्छे अपनी पसन्द के आभूषण लिए। वे कुल पच्चास हजार रुपयों के हुए। देवी ने जौहरी से कहा- ' यह आभूषण मैं खरीद रही हूँ। आप अपने मुनीम जी को मेरे साथ भेज दीजिए मेरे पति अस्पताल में बड़े डॉक्टर है वहां चलकर मुनिम जी रुपये लें लेंगे।

जौहरी ने मुनीम जी को आदेश दिया और मुनीम जी महिला के साथ वे आभूषण लेकर चल पड़े। महिला ने आभूषण बैग में रख लिए। वे लोग सीधे अस्पताल पहुंचे। वहां पहुंचकर देवी जी ने सीधी डॉक्टर के पास पहुंची- 'और बोली डॉक्टर साहब! मैं अपने पति को ले आई हूँ। कृपया उनकी जाँच कर लीजिए। डॉक्टर ने पूछा- 'वे कहाँ है '? महिला ने कहा बाहर खड़े है।

डॉक्टर ने चपरासी को भेजकर मुनीम जी को भीतर बुलाया। महिला भीतर चली गयी। मुनीम जी बेचारें ने सोचा कि देवी जी अपने डॉक्टर पति से मुझे रुपये देने के लिए कह दिया होगा।। वे भीतर चले गये।

अब तमाशा आरम्भ हुआ। मुनीम जी के आते ही डॉक्टर साहब ने अपने औजार संभाले एक यन्त्र वे मुनीम जी के मस्तिष्क पर फीट करने लगे। मुनीम बेचारा घबराया और बोला- "अरे-अरे डॉक्टर साहब, यह क्या करते हो लाओं रुपये जल्दी से, मैं खोटी हो रहा हूँ "।

डॉक्टर ने सोचा कि इसे पागलपन का दौरा चढ गया है। तो वह जल्दी-जल्दी उसकी जांच करने का प्रयत्न करने लगे। उधर मुनीम बेचारा चिल्लाने लगा- 'लाओं रुपये, लाओं रुपये। बड़ी गड़बड़ हुई। डॉक्टर मुनीम जी का निरीक्षण करना चाहता था तथा मुनिम जी बोले- 'डॉक्टर साहब! मुझे पच्चास हजार रुपये दीजिए। जल्दी से यह बकवास बन्द कीजिए। यह सुनकर डॉक्टर उसे पच्चास रुपये देने लगा तो मुनीम ने कहां-' पच्चास रुपयों से क्या होगा? आपकी पत्नी ने पच्चास हजार रुपयों के आभूषण मेरी दुकान से खरीदें। भरोसा न हो तो पूछ लीजियें उनसे.............।"

यह सब बात सुनकर डॉक्टर साहब का माथा ठनका। उनसे पूछा- ' क्या बात है जी? आपको तो पागल पन का दौरा आता है। आपकी पत्नी ऐसा

कह रह थी।" मुनीम ने कहा कौनसी पत्नी? अजी महाराज, मैं तो फलाँ दुकान का मुनीम हूँ। आपकी पत्नी ने अभी पच्चास हजार रुपये के जेवर खरीदें है मुझे रुपये दीजिए।" तब डॉक्टर ने कहा कौनसी पत्नी? कैसे रुपये? वह औरत तो कहती है कि आप उसके पति है और आपको पागलपन का दौरा आता है..। "

कैसा पागलपन? अरें डॉक्टर साहब मालूम पड़ता है कि वह हम दोनों को पागल बनाकर वह औरत चकमा दे गयी है। दौड़ो दौड़ो उसे पकड़ो, पुलिस में रिपोर्ट करों- अरे हम तो लुट गये रे................। "

सत्य ही वह जौहरी लूट चुका था, डॉक्टर बेवकूफ बन चुका था और चिड़िया उड़ गयी थी।

तो बन्धुओं! आप देखिए इन विषयों को गृहण करने वाली और आधुनिक शिक्षा को प्राप्त करने वाली हमारी बहिनें ही चारित्रिक पतन के किस गर्त में पड़ जाती है।

यदि इस पतन के प्रवाह को रोकना है तो हमारे जीवन में त्यागपूर्वक संवर आना चाहिए। संवर की स्थिति से चलने से जीवन में समानता आती है। शांति सोपान को प्राप्त करने का यही एक मात्र मार्ग है।

-इत्यलम्!

क्रिया और संवर

"असंखयं जीविय मा परमायए............................।"

शांतिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शांति जिन एक मुझ वीनती..............................।"

प्रभु शांतिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण हुआ है। इन कड़ियों के सहारे हम अपने जीवन की उलझी हुई कड़ियो को सुलझाने का प्रयत्न करें। हमारा वर्तमान जीवन अशांति के झंझावातों से घिरा हुआ है और इन भीषण झंझावातों ने हमारें अस्तित्व को बुरी तरह झकझोर कर रख दिया है। जीवन में चारों और विषम परिस्थितियॉं घिरी हुई है जो हमारे जीवन को अशान्त और दुःखमय बनाए हुए है। मनुष्य इन विषम परिस्थितियों को हटाने का प्रयत्न कर रहा है और सोचता है कि मैं एक धक्का लगाकर इन सारी विकट-विषम स्थितियों को अपने से दूर हटा दूँ। मनुष्य के लिए ऐसी आकांक्षा करना स्वाभाविक ही है।

किन्तु बन्धुओं! स्थूल तत्त्व बाहर की परिस्थितियों से हट सकते है, लेकिन जहॉं सूक्ष्म स्थिति का प्रसंग हो वहा किसी भी सूक्ष्म शक्ति का विश्लेषण एवं निवारण सूक्षम शक्ति द्वारा ही किया जा सकता है। मनुष्य का जीवन कोई उपर से दिखाई देने वाला ढेला अथवा पिण्ड ही नहीं है। यह जो मनुष्याकृति दिखाई देती है, काया और उसका एक आकार दिखाई देता है, जीवन केवल वही और उतना ही नही है। वास्तविक मानव जीवन तो इसके भीतर है, सूक्ष्म है।

इस भीतरी और यथार्थ मानव जीवन के महत्वपूर्ण तत्त्व पर ही विचार करना चाहिए। यदि ऐसा किया जाए तो मानव की वर्तमान स्थिति, भूत-कालीन

परिस्थिति एवं भविष्य के उज्जवल विकास को अपने भीतर देखा जा सकता है। भीतर की साधना को तीव्र बनाने के लिए परमात्मा के स्वरूप को व्यक्त करना पड़ता है। प्रभु के विशाल एवं विराट् जीवन को यदि हम अपने सामने रखे और वैसी ही खोज अपने भीतर करने में जुट पड़े तो हमारा जीवन भी उस चरम शांति के बिन्दु तक पहुँच सकता है। इस दृष्टि से कवि ने संकेत दिया है कि- हे भगवन! मै शांति के स्वरूप को कैसे समझूँ। मै अपने मन का परीक्षण किस प्रकार करूं? इन दोनों तत्वों के लिए शास्त्रीय दृष्टिकोण भी आपके सामने आ रहा है। यदि प्रार्थना की कड़ियों का जो सम्बंध जोड़ रहे है, वह सम्बंध हम अंदर से जोड़ लें तथा शास्त्रों के अंतरंग का अर्थ भी अपने जीवन में उतार लें तो हम ज़ीवन की गहरायों तक उतर सकते है। इसीलिए उस गहराई में पहुंचाने वालों की आवश्यकता हैं। इसके लिए भगवान ने निर्देश दिया है-

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा......................।"

इस गाथा का अर्थ आपके सामने चल रहा है। इस गाथा में आये हुए शब्दों का अर्थ हम केवल वाचन दृष्टि से ही न करें उसके अर्थ को केवल कानों से ही सुनकर वहीं तक सीमित न करें, बल्कि उसें अंतकरण के कणो से सुने, अंतकरण की जीह्रा से उसे व्यक्त करें तथा अन्तर के स्वरूप में परिणत कर दें। यदि यह प्रक्रिया इस शरीर में आत्मा ही बन जाय तो फिर शांति का जो दूसरा सोपान आपके सामने रखा जा रहा है या उसे शांति की दूसरी सीढ़ी कह दीजिये- अथवा और भी बड़े रूप में कहें तो शांति की दूसरी मंजिल- उस पर हम पहुंच सकते है।

मूल गाथा की जो वाक्यावाली है उसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए शांति नाथ भगवान की प्रार्थना की कड़ियों मे शक्ति है। वह गुरु जो हमें अन्तर तक पहुंचाता है वह कैसा हो? तो इसके लिए निर्देश है कि-

"आगमधर गुरु समकिती..........................।"

ऐसा गुरु क्रिया और संवर का स्त्रोत हो। क्रिया और संवर की व्याख्या थोड़े शब्दों में कल आपके सामने आ चुकी हैं पाप का विरोध करने के लिए संवर की आवश्यकता हैं पाप दो प्रकार से मनुष्य के जीवन में प्रवेश करता हैं एक तो आवश्यकतानुसार जरूरी कार्य करतें हुए लाचारीवश पाप की प्रवृति बनती है

और दूसरे फिजूल, बिना प्रयोजन के पाप का सम्बन्ध आत्मा के साथ जुड़ता हैं। गृहस्थ अवस्था में रहनेवाले व्यक्ति के लिए पारिवारिक जीवन की जिम्मेदारी होने के कारण वह ग्रहस्थ कतिपय सूक्ष्म पाप की प्रक्रियाओं का त्याग नहीं कर सकता हैं। वह उसमें संवर का समावेश नहीं कर पाता हैं। किन्तु अनावश्यक- अनर्थ दण्ड, जिसका जीवन में कोई प्रयोजन नहीं- ऐसे अनर्थ दण्ड का परित्याग तो मनुष्य चाहे तो कर सकता हैं। वह अनर्थ दण्ड क्या हैं, यह व्यर्थ का, निष्प्रयोजन पाप जो अपने सिर पर लाद लेना है, सो कैसे हैं और वह किस प्रकार त्यागा जा सकता हैं इस वारे में आपको जान लेना चाहिए।

इस समय आप इस सभास्थल पर वैठे हैं। यह धार्मिक स्थल है, पवित्र स्थान हैं शान्त भूमि हैं। इस स्थान पर आप व्याख्यान की समाप्ति तक वैठते हैं। किन्तु ऐसे शान्त और पवित्र स्थल पर भी अपने पाप के दरवाजों को खुला रखकर बैठतें है। भला सोचिए कि जितने समय तक आप यहाँ वैठते हैं-उतने समय तक के लिए भी यदि पापों पर प्रतिवन्ध लगादें तो उसमें क्या वाधा आ सकती है? कोई भी बाधा नहीं आने वाली हैं। न आपके खाने पीने में वाधा आ सकती हैं, न आपका व्यापार रूक सकता हैं और न ही परिवार सम्बन्धी कोई वाधा आ सकती है। केवल थोड़ी सी चाबी मरोड़ने की आवश्यकता है, अर्थात थोड़ा सा अपने मन पर अधिकार रखने, मन को केंन्द्रित और संयमित रखने की आवश्यकता है।

मनुष्य को जब प्रकाश की आवश्यकता होती हैं तो वह बटन को दबाकर प्रकाश प्राप्त कर सकता हैं और जब वह आवश्यकता न हो तब उसी बिजली के बटन को बन्द करके प्रकाश को भी बन्द कर सकता हैं। उसी प्रकार आप व्याख्यान के समय तो अपने पाप के दरवाजों का बन्द करके बैठ ही सकतें है। यदि आप ऐसा करतें है- तो वह व्यर्थ का पाप रूक जाता हैं और संवर हो जाता हैं। इस प्रकार आप सन्नद्ध हो जातें हैं तथा अपने जीवन के लिए कतिपय ऐसे नियम ले सकते है- जिनका आपके वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं, फिर भी व्यर्थ के पाप संग्रह से बचा जा सकता हैं।

सोचिए, क्या आप इस समय अमेरिका से कुछ खाना मँगवाकर खा रहें है? या रूस के किसी होटल में जा रहें है? नहीं,आप विलायत में कहीं नहीं जा रहें हैं आप इसी देश में, पवित्र भारत देश में, इस पुण्य धर्म-स्थान पर

मैं भी मुझसे बने उतरा प्रत्याघात करूँ। प्रत्येक संसारी मनुष्य की यह भावना रहती हैं। और वह अपने मन के अन्दर अपनी जो भी शक्ति हैं उसे संचित करता हैं। बदले की भावना के विषाक्त परमाणु उसके हृदय से विकीर्ण होते हैं। तो बलवान आदमी को ऐसा नही सोचना चाहिए कि वह हमेशा से ही बलवान बना रहेगा और कमजोर की सताना रहेगा। उसे इस स्थिति से नही चलना चाहिए। सताये जाने वाले व्यक्ति की प्रतिक्रिया भी उसके साथ लम्बी हो जाती हैं। मानसिक द्वेष का प्रभाव मन पर, वचनों का प्रभाव वचन तक और काया का असर काया तक रहता हैं। उनकी ये भीतरी प्रकियाएँ एक दूसरें तक चलती रहती हैं।

इस स्थितियों को हमें समझना चाहिए। यदि मनुष्य यह समझ ले और कम से कम उन प्राणियों को अभयदान देदे, कि जो पदार्थ प्रयोजन में नही आ रहें हैं तो इसमे उसकी क्या हानि हो? अनावश्यक रूप से पाप बंध करने का आंखिर क्या लाभ है? जितने साधन आवश्यक रूप से प्रयोजन में आ रहे हैं। उन्हे खुले रखकर शेष सारी प्रक्रियाओं की रूकावट कर देना तो सर्वथा उचित ही है। उसमें कोई हानि नहीं हैं उल्टे लाभ ही हैं। तो जो व्यक्ति ऐसा करें उन्हें शान्ति का दूसरा सोपान मिल सकता हैं।

संवर की क्रिया करना गृहस्थ के लिए भी आवश्यक हैं किन्तु जो गुरु पद में रहता हैं उसके लिए संवर की क्रिया तो नितानं रूप से आवश्यक हैं। क्यों कि वह गंभीर गुरू पद पर आसीन हैं। उसके लिए अनिवार्य हैं कि वह अपने जीवन में संवर की पुट रखे, सवंर में चले। वह साधू जीवन के व्रत ग्रहण करता हैं। साधु वृति में वह सभी प्राणियों को अभयदान देता हैं। जो प्रथम महाव्रत को प्राप्त होता हैं तो उसमें-''सव्वाओ पाणाइवायाओ..........।'' अर्थात सब प्रकार की हिंसा से मै हटता हूँ- ऐसी उसकी भावना होती हैं प्रण होता हैं वृति होती हैं। ऐसा वह साधु सबके लिए हितकारी होकर चलता हैं और इस प्रकार उसका जीवन संवर में रहता हैं। उसके शरीर के जर्रे-जर्रे से, अणु-अणु से, रोम-रोम से, श्वास श्वास से अहिंसा की सुरभि बिखरा करती हैं अहिंसा की शुभ, पवित्र झलक झिलमिलाया करती हैं।

गुरु का जीवन संवर और क्रिया से सम्बन्धित होता हैं, इससे परिपूर्ण रहता हैं तथा इसके बहुत से नियम होते हैं। मेरी इच्छा है कि वे सभी नियम

उपनियम आपको यथासमय बता दूँ ताकि आप सभी लोग यह जान सकें कि गुरु पद किस प्रकार का होता हैं, उसका कितना महत्व है। तथा आप यह भी अच्छी तरह समझ लें कि ये सवंर और क्रिया के साथ चलने वाले महात्मा हैं। मेरा अनुमान हैं कि इस प्रकार का ज्ञान होने से आपके जीवन में एक नई प्रेरणा जाग सकती हैं तथा आप अपने जीवन में नया प्रकाश प्राप्त करने के प्रयत्न में दृढसंकल्प के साथ प्रवृत हो सकतें हैं

उपरोक्त लक्षण आप सबके समक्ष रखने की मेरी भावना थी। प्रसंग चल रहा था, और यदि वे लक्षण आपके समक्ष आज ही मैं रख पाता तो श्रेष्ठ होता। मेरा अनुमान था कि व्याख्यान की स्थिति घण्टे भर चलेगी। किन्तु अन्तराय कर्म का प्रसंग हैं- वह आ जाता हैं। कम समय तथा कुछ शारीरिक दृष्टि से यह सम्बन्ध है, किन्तु कोई विशेष बात नहीं। यह शरीर तो एक यन्त्र के तुल्य बना हुआ हूँ। यह शरीर एंक पुतला हैं। इस शरीर के साथ कोई विशेष स्थिति नंहीं रखनी चाहिए। मैं आपकी भावना को दृष्टि में रखतें हुए आया अवश्य और थोड़ा ही बोल रहा हूँ। तो मैं कह रहा था कि आप अपने जीवन की स्थिति को ठीक तरह से लेकर चले और संवर के साथ क्रिया को रखकर चलें। जो आवश्यक स्थिति हैं उसी का, केवल उसी का साथ करें और अनावश्यक के साथ उदासीन रहें। खेद की बात यही हैं कि अनावश्यक के साथ भी मनुष्य का मन संलग्न हो जाता हैं और अपने मन पर उसका पूरा और ठीक तरह से नियंत्रण नहीं रह पाता है। इस कारण से संवर की प्रक्रिया नही रह पाती हैं। तो इस विषय में सभी को विचार करना चाहिए और जीवन में संवर की क्रिया रहे, ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

-इत्यलम्।

****

शब्द और अर्थ

"असंखयं जीविय मा पमायए

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्तिजिन एक मुझ विनती................."

प्रभु शान्तिनाथ के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का गायन के रूप में उच्चारण हुआ हैं। ये प्रार्थना की कड़ियों कई दिन से चल रहीं हैं तथा जिन कड़ियों का अर्थ हो गया हैं, उनहें छोड़कर आगे की कड़ियों ली जा रहीं हैं। प्रश्न उठ सकता हैं कि परमात्मा की प्रार्थना किस रूप में की जावे।

वैसे तो चौबीस तीर्थकर अनन्त सिद्ध हो चुके हैं। और ऐसे अवसर्पिणी उत्सर्पिणी की दृष्टि से देखा जाए तो अनन्त तीर्थकर हो चुके हैं। यदि हम उनकी प्रार्थना एवं स्तुति अनन्त के रूप में करें तो न तो हमारे पास उतना समय है, न शक्ति हैं और न ही उतने शब्द ही हमारें पास हैं कि किसी कविता में बद्ध करके उन अन्नत तीर्थकरों की प्रार्थना की जा सके। इतना ही नहीं, इतने नाम भी हमारें मस्तिक में नही आ सकतें, क्योंकि अनन्त भगवान हैं और उनके नाम भी अनन्त हैं। एक भगवान के नाम भी अनन्त हैं। उस एक-एक नाम की व्याख्या की जाए तो अनन्त दिन बीत जाये तो भी उनके गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता है।

यह जो शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना चल रही हैं यह तो प्रार्थना का एक माध्यम हैं। आचार्य श्री जी महाराज जो प्रार्थना की विधि आरम्भ कर गये है उस दृष्टि से मैं भी प्रार्थना की कुछ कड़ियों का उच्चारण कर लेता हूँ। किन्तु हमें इन कड़ियों तक ही सीमित नहीं रहना हैं। चाहे मैं अलग-अलग भगवान का नाम

लेकर प्रार्थना करूँ या शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना करूँ , पर भगवान का स्वरूप तो एक ही सरीखा सब में आयेगा। आप चाहे तो नाम का परिर्वतन कर सकतें है, कड़ियों का भी परिर्वतन कर सकतें हैं। किन्तु इस समय हमारें बीच शान्ति का एक सिल सिलेवार विचार चल रहा हैं तथा शान्तिनाथ भगवान की इस प्रार्थना में जन्म के प्रारभ्भ से लेकर आध्यत्मिक जीवन की दृष्टि से चतुर्थ गुणस्थान से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक का थोड़ा-सा संकेत हैं। यह संकेत प्रत्येक प्रार्थना में नही हैं। इसके अतिरिक्त इधर शास्त्र की दृष्टि से उतराध्ययन सूत्र के बतीसवें अध्ययन का जो थोड़ा सा विवेचन आरभ्भ किया वह विवेचन भी इसी प्रार्थना के साथ सम्बन्धित सा हैं। अतः इन्ही सम्बन्धों के कारण मैं इस प्रार्थना का प्रतिदिन कुछ न कुछ उच्चारण कर रहा है।

हाँ, मैं यह जानता हूँ कि मानव-स्वभाव परिवर्तन का इच्छुक रहता है। वह चाहता हैं कि नयें नये भगवान के नाम अधिक से अधिक आये। एक ही प्रार्थना का प्रतिदिन क्या गाना? प्रार्थना तो प्रतिदिन नई-नई होनी चाहिए। किन्तु मैं सोचता हूँ कि अलग अलग प्रार्थना के गाने से क्या भगवान का स्वरूप बदल जाता हैं? भगवान का स्वरूप तो वही, एक ही रहने वाला है। यह ठीक है कि मनुष्य की परिवर्तन प्रेमी रूचि के अनुसार बीच बीच में नाम का परिवर्तन कर दिया जाता है। जिस प्रकार घी मनुंष्य के लिए पौष्टिक पदार्थ के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। ये माताएँ अपने परिवार के सदस्यों को घी खिलाना चाहती हैं और घर में सदैव एक ही प्रकार का भोजन नही बनाती हैं। भोजन में भी परिवर्तन होता रहता है। यथा-कभी हलुवा बनाया जाता हैं। तो कभी चूरमा बाटी और कभी कोई अन्य व्यजंन। किन्तु उसमें अन्ततः अथवा मूलतः क्या वस्तु हैं। सब में आटा घी और शक्कर ही तो हैं। आप अपने मन को बहलाने के लिए अलग अलग प्रकार से इनका प्रयोग कर लों, लेकिन मूल वस्तु तो वही रहेगी।

इसी प्रकार आज पहली,, कल दूसरी, परसों तीसरी प्रार्थना की जा सकती हैं। किन्तु उससे कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला हैं। मुख्य और महत्व की बात तो यह है कि हमें उसके अन्तर के रस को ग्रहण करना चाहिए। जव तक हम ऐसा नहीं करतें, तब तक शान्ति का संचार हमारे अन्तःकरण में नही हो सकता।

ऐसी शान्ति जिन्हें प्राप्त हो गई हैं और जो चरमसीमा पर पहुँच गये हैं उन्हें शान्ति की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जिनको जोरों का भूख हैं और शान्ति की प्यास हैं, वे तो शान्ति-शान्ति की रट लगाये ही रहेगे। एक भूखा मनुष्य अन्न के लिए और प्यासा मनुष्य पानी के लिए पुकार लगाता ही रहेगा। उसे सब तरफ पानी ही पानी दिखाई देता है। पानी ही पानी की ध्वनि सुनाई देती है। स्पप्न में भी उसे पानी ही दिखाई देता है।

कभी आप चउविहार उपवास कर लेते और गर्मी का मौसम हो, तो दिन का समय तो उपवास में निकल जाता हैं किन्तु रात्रि में पानी का ही स्वप्न दिखाई देता है। कहने का अभिप्राय यह हैं कि यदि हम अपने जीवन में वास्तविक दृष्टि से देखे तो उस स्थायी शान्ति की जिज्ञासा हमारे भीतर जबरदस्त होनी चाहिए।

मैं यह प्रयास कर रहा हूँ कि ऐसी जिज्ञासा आपके हृदय मे जगें और आपको वह शान्ति प्राप्त हो। इस एक प्रार्थना की प्रक्रिया की कड़ियों का आधार लेकर ही मेरा यह प्रयत्न चल रहा है। शास्त्र में पाठ आया-आय संधर्मास्वामी ने अपने शिष्य आर्यजम्बू से कह कि- "तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था।" अर्थात्- उस काल और उस समय में राजगृह नाम का नगर था।

तो विचार कीजिए, जिस समय सुधर्मास्वामी जम्बू को उपदेश दे रहे थे उस समय राजगृह नाम का नगर मौजूद था। तो व्याकरण की दृष्टि से वहाँ "तेणं कालेणं तेणं संमएणं रायगिहे नामं नयरें होत्था"- यह क्रिया दी गई- तो साधारण व्यक्ति इस क्रिया को लेकर उलझन में पड़ सकता हैं। और सोच सकता हैं कि क्या सुधर्मास्वामी को व्याकरण का ज्ञान भी नहीं था? और वाक्य की शुद्धि का ज्ञान भी नही था? वर्तमान में होता है। तो भूतकाल का प्रयोग कैसे हुआ? वर्तमान में जो मौजूद हैं, तो उसके लिए 'था' ऐसा प्रयोग क्यों किया जा रहा है।

विचार का स्थल यही हैं। जो व्यक्ति व्याकरण, न्याय नय, निक्षेप- इन तत्त्वों को जानता है और इन तत्त्वों के साथ व्याख्या करने की सामर्थ्य रखता हैं तो वह शास्त्र के मर्म को भी समझ सकता हैं तथा सुधर्मा स्वामी के कथन में भूल निकालने की भूल वह नहीं करेगा। क्योंकि पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से शब्द नय का जहाँ प्रयोग होता हैं उसमें वर्तमान की स्थिति ही मुख्य रहती है, और वर्तमान की स्थिति के साथ-साथ जो पर्याय का कथन होता है- उस समय की दृष्टि से शब्द निर्देश करते है।

आप पाएंगे कि इस स्तम्भ में से अनन्त परमाणु निकल रहें हैं और अनन्त परमाणु इसमें प्रवेश भी कर रहे हैं। स्थायी स्तम्भ की दृष्टि से स्तम्भ (खभां) हैं, परन्तु परिवर्तन हो रहा हैं। आज आपके पास वह यन्त्र नहीं हैं , किन्तु अनुमान की दृष्टि से देखिए और सोचिए कि इसमें से परमाणु नहीं निकलतें होते और प्रवेश भी नहीं करतें होते तो यह स्तम्भ सदा काल के लिए ऐसा एक सरीखा ही रहना चाहिए था। किन्तु बताइये कि क्या यह सदाकाल के लिए ऐसा ही रहता हैं? या अपने आप में एक दिन नष्ट हो जाता है? इसके परमाणु खिच जाते है, इसमे जंग लग जाता है? और यह नष्ट हो जाता हैं। यह जंग लग जाना क्या है? पुराने, पहले के परमाणुओं का चला जाना तथा नए, अन्य परमाणुओं का आ जाना। हाँ, एक साथ यह प्रक्रिया नहीं होती, लेकिन धीरे धीरे होती है।

इसी प्रकार, शास्त्रीय दृष्टि से यह शरीर भी परिवर्तशील हैं। अधिक वर्षो तंक यह भी नही टिक सकता हैं। इसके परमाणु भी निकल जातें हैं। यही संसार का स्वरूप हैं। वैज्ञानिक दृष्टि इससे भी आगे बढ़ती हैं तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों के विषय में ज्ञान कराती हैं। किन्तु इस स्थान पर मै उस वैज्ञानिकता में नही जाऊँगा, अन्यथा आप शिकायत करेगे कि महाराज तो वैज्ञानिक बातें करते हैं। किन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि इन बातों को समझना भी आवश्यक हैं, अन्यथा जीवन को नहीं समझा जा सकेगा।

शास्त्रकारों ने कहा कि-

जे एगं जाणई से सव्वं जाणई
जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ

अर्थात- जो एक को जान लेता हैं वह समग्र को जान लेता हैं। और जो समग्र को जानता है वही एक को जान सकता हैं यह शास्त्रीय दृष्टि हैं। उसे ध्यान में रखना हैं।

भाइयों! आप सोने-चाँदी का परीक्षण करते है, रत्नों का भी परीक्षण करतें हैं किन्तु यदि आप रत्नों को पहिचान नही रखते है तो उनकी परीक्षा भी नहीं कर सकेगें। रत्न कैसे होते है, यह जानने के लिए रत्नों लक्षण जानना आवश्यक हैं। उसी के साथ आपको पत्थरों का लक्षण भी जाना चाहिए। तभी आप रत्न और पत्थर में ठीक भेद कर सकेगें अन्यथा आकार तथा रंग में तो पत्थर

तथा रत्न एक ही सरीखें से दिखाई देते हैं और देखने वाला धोखे मे पड़ सकता हैं। वास्तविकता यह हैं कि रत्नों के लक्षण पत्थरों से भिन्न है, तभी रत्न, रत्न है, और पत्थर, पत्थर। एक को हम मूल्यवान मानतें हैं और दूसरे को व्यर्थ। चतुर जौहरी को दानों के लक्षणों का ज्ञान होना चाहिए।

ठीक इसी दृष्टि से जीवन को भी परखना होता हैं। जो पदार्थ जिस रूप में है, उसे उसी रूप मे जानना समझना चाहिए उससे भिन्न रूप में नहीं। जो पदार्थ परिवर्तनशील हैं उसे उसी रूप में तथा जो स्थायी है, अपरिवर्तनशील है उसे उसी रूप में समझना चाहिए।

वस्तु में तीन बातें की जा रही हैं- "उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्। सत् उसको कहा गया है कि जिसमे उत्पति, विनाश और स्थायीपन हो। उनकी स्थिति क्या हैं? उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिए-

मान लीजिए कि आपके पास सोने की डली हैं। उसे आप सोने के पाट में से काट कर लाए हैं। तो उससे सोने की डली का आकार अभी आपके पास है। अब आप सुनार से कहते हैं कि भाई, मुझे इसकी एक जंजीर वना दो/सुनार उस सोने की डली को तोड़ता है, उसे गलाता है, फिर उसकी जंजीर वना देता है। तो कहिए, कि क्या अब सोने की डली का आकार रह गया? नहीं, वह आकार नष्ट हो गया। उस विनाश में से जंजीर का दूसरा आकार उत्पन्न हो गया हैं एक का उत्पादन हुआ और दूसरे का व्यय हुआ-नाश हुआ तो सोने की डली का हुआ और उत्पति हुई जंजीर की।

किन्तु स्वर्ण का क्या हुआ? स्वर्ण किस में है? डली में भी सोना था और जंजीर में भी सोना है। तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों साथ में चल रहे है। तो स्वर्ण की यह स्थिति बनी कि जंजीर के विषय में कहेंगे कि डली का नहीं है और डली के विषय में कहेंगे तो कहेंगे कि जंजीर नहीं है भूतकाल में डली थी, किन्तु वर्तमान में नहीं हैं वर्तमान में तो वह जंजीर है।

अस्तु, यह कथन जो है वह पर्याय की दृष्टि से होता हैं। सोने की डली थी यह प्रयोग हुआ, न कि सोने की डली 'है' ऐसा प्रयोग हुआ। तो सुधर्मास्वामी कह रहे हैं कि-"तेणं कालेणं, तेण समएण" तो यहाँ तात्पर्य यह है कि पर्याय की दृष्टि से वह राजगृही नगरी और थी और आज कुछ और है। तो उन्होने

सदाकालीन वचनों की शुद्धदृष्टि से यह कहा-ताकि कहीं उसमें असत्य की दृष्टि न आ जाऐ। अतः अपेक्षा दृष्टि हो तो ठीक तरह से चल सकते है। यदि अपेक्षा को भूलकर चलेगा तो व्यक्ति कभी-कभी भ्रम में पड़ सकता है।

कभी-कभी कोई भाई कहते हैं कि आप उपवास पचक्खातें हैं तो ''उग्गए सूरे''- हमारा पचक्खाण आरम्भ होता है- सूर्य के उदय होने बाद से। जब ऐसा पाठ है तो हम आधा धण्टा रात रहते पानी पीलें तो क्या हर्ज है?

ऐसा तर्क जो भाई देते हैं, वे पच्चक्खाण की अटकलबाजी लगातें है। कभी-कभी कोई साधक भी इसी प्रकार से कह जाते हैं। वे कहतें है कि पचक्खाण सूर्य उदय होने के बाद चालू होता हैं। तो सूर्य उदय होने पर उपवास कर लिया जाऐं और रात्रि में भोजन कर लिया जाए। भाइयों! यह तो शब्दों को पकड़ना हैं। हम शब्दों को पकड़ कर आज बैठे गये हैं तभी हमारा यह हाल हो रहा हैं। वास्तविकता यह है कि हमें शांस्त्रों के मर्म का ज्ञान नहीं हैं। हमें मर्म को ग्रहण करना चाहिए, शब्द तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए।

कोई आदमी पानी पीकर आया उपवास में और कहता हैं कि महाराज, ग्यारहवाँ पौषध करा दों। तो किस आधार पर ऐसा कर रहे हो भाई? ग्यारहवाँ पौषध करनें के लिए आपको रात्रि के बारह बजे से चउविहार की स्थिति में चलना चाहिए। लेकिन आपने पानी पी लिया जो दसवाँ पौषध होगा। और ग्यारहवाँ पौषध पचखोगे तो किस से पचखोगे? 'अशन, पान, खादिम, सादिम, से ही पचखोगे न? तो इसमें तो आहार का, पानी का सभी का त्याग हुआ। तो वे कह रहे हैं कि पानी पीने के बाद हम असण-पाण का त्याग करते हैं। यदि इस प्रकार से पहले से खा-पी ले और फिर पौषध पचखें तो फिर तो यह मुसलमानों की तरह का रोजा हो जाएगा, ग्यारहवाँ पौषघ नहीं होगा। भगवान की बात नहीं रहेगी।

अतः नवकारसी, उपवास या पौषध लेना हैं तो उससे शब्दों के पीछें नहीं रहना हैं, किन्तु अर्थ के पीछें चलना हैं। यदि इस रूप में उपवास करना हैं तो रात्रि के बारह बजें के बाद या तो चउविहार ही करना चाहिए, या ऐसी स्थिति नहीं हैं तो नवकारसी भी की जा सकती हैं। और यदि पानी पी लिया तो दसवाँ पौषघ लिया जा सकता हैं और पानी नहीं पिया हैं तो ग्यारहवाँ पौषघ लिया जा सकता हैं। यही शास्त्रीय दृष्टि से अनुकूल है।

तो मैं कह रहा था कि सूधर्मास्वामी के वाक्य ऐसे थें कि प्रभु ऐसा कह रहें हैं और शान्तिनाथ भगवान ने भी ऐसा ही कहा हैं और ऐसी ही दृष्टि से कहतें चले जा रहे हैं। तो शान्तिनाथ की प्रार्थना की कड़ियों जो कल कहीं, वे ही है, ऐसा नहीं हैं। पर्याय का परिवर्तन होता चला जा रहा हैं। हमें तो उनका अर्थ समझना चाहिए। यदि हम उस अर्थ को समझेगें तो हमें शान्तिनाथ भगवान का रस आयेगा।

मेरे मस्तिष्क में जो विषय अधिक चल रहा है, वह शांति के सोपान का है। अव उसे मनुष्य जीवन में उतारे या न उतारे यह अलग बात है। लेकिन उनका मार्ग कैसा प्रशस्त है, यह बात मैं आपके सामने रख रहा हूँ। तो शास्त्रीय पाठ चलता है कि-

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा..............।"

जो आगम का- सूत्र का प्रसंग है, उसके प्रसंग से उसमे बताया गया हैं कि वहाँ स्वाध्याय का भी निर्देश किया गया हैं। उसका तात्पर्य यह हैं कि अपने जीवन में वह आत्मिक शक्ति जागृत करने के लिए स्वाध्याय भी आवश्यक हैं। किन्तु वह स्वाध्याय शास्त्रीय तरीके से हो, मनमाने ढंग से नहीं। यदि वह स्वाध्याय मनमाने ढंग से किया गया तो वह उल्टा पर-वस्तु को भी पकड़ सकता हैं तथा जीवन में भ्रान्ति भी उत्पन कर सकता हैं इस प्रकार चलने से जीवन में शान्ति के स्थान पर अशान्ति उत्पन्न होने का भय हैं। किन्तु जो गुरु धारणा से, नय-निक्षेप के साथ अनुसंधान करतें हुए स्वाध्याय किया जाता हैं वह महत्वपूर्ण होता हैं।

स्वाध्याय का उदेश्य क्या है? ज्ञानार्जन। ज्ञान के उपार्जन के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय किया जाए और वह विचारपूर्वक किया जाऐं। सिलसिलेवार उनकी स्थिति को समझना है- उनके रहस्यों को समझना हैं कि कहाँ-कहाँ, उन-उन स्थानों पर नय-निक्षेप आया है। इस प्रकार उन नयों को लेकर चलें तव तो ठीक मार्ग पर चलना हो सकता हैं किन्तु यदि शास्त्रों को पढ़ते-पढ़ते उनके नयों को-अपेक्षाओं को, रहस्यों को नहीं समझा तो चक्कर में पड़ जायेंगे, भ्रान्ति के शिकार बन जायेगें।

शास्त्र की दृष्टि से आपको समझा दूँ कि जैसे आपको पुण्य का स्वरूप

सदाकालीन वचनों की शुद्धदृष्टि से यह कहा-ताकि कहीं उसमें असत्य की दृष्टि न आ जाऐ। अतः अपेक्षा दृष्टि हो तो ठीक तरह से चल सकते है। यदि अपेक्षा को भूलकर चलेगा तो व्यक्ति कभी-कभी भ्रम में पड़ सकता है।

कभी-कभी कोई भाई कहते हैं कि आप उपवास पचक्खातें हैं तो "उग्गए सूरे"- हमारा पचक्खाण आरम्भ होता है- सूर्य के उदय होने बाद से। जब ऐसा पाठ है तो हम आधा धण्टा रात रहते पानी पीलें तो क्या हर्ज है?

ऐसा तर्क जो भाई देते हैं, वे पच्चक्खाण की अटकलबाजी लगातें है। कभी-कभी कोई साधक भी इसी प्रकार से कह जाते हैं। वे कहतें है कि पचक्खाण सूर्य उदय होने के बाद चालू होता हैं। तो सूर्य उदय होने पर उपवास कर लिया जाऐं और रात्रि में भोजन कर लिया जाए। भाइयों! यह तो शब्दों को पकड़ना हैं। हम शब्दों को पकड़ कर आज बैठे गये हैं तभी हमारा यह हाल हो रहा हैं। वास्तविकता यह है कि हमें शांस्त्रों के मर्म का ज्ञान नहीं हैं। हमें मर्म को ग्रहण करना चाहिए, शब्द तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए।

कोई आदमी पानी पीकर आया उपवास में और कहता हैं कि महाराज, ग्यारहवाँ पौषध करा दों। तो किस आधार पर ऐसा कर रहे हो भाई? ग्यारहवाँ पौषध करनें के लिए आपको रात्रि के बारह बजे से चउविहार की स्थिति में चलना चाहिए। लेकिन आपने पानी पी लिया जो दसवाँ पौषध होगा। और ग्यारहवाँ पौषध पचखोगे तो किस से पचखोगे? 'अशन, पान, खादिम, सादिम, से ही पचखोगे न? तो इसमें तो आहार का, पानी का सभी का त्याग हुआ। तो वे कह रहे हैं कि पानी पीने के बाद हम असण-पाण का त्याग करते हैं। यदि इस प्रकार से पहले से खा-पी ले और फिर पौषध पचखें तो फिर तो यह मुसलमानों की तरह का रोजा हो जाएगा, ग्यारहवाँ पौषघ नहीं होगा। भगवान की बात नहीं रहेगी।

अतः नवकारसी, उपवास या पौषध लेना हैं तो उससे शब्दों के पीछें नहीं रहना हैं, किन्तु अर्थ के पीछें चलना हैं। यदि इस रूप में उपवास करना हैं तो रात्रि के बारह बजें के बाद या तो चउविहार ही करना चाहिए, या ऐसी स्थिति नहीं हैं तो नवकारसी भी की जा सकती हैं। और यदि पानी पी लिया तो दसवाँ पौषघ लिया जा सकता हैं और पानी नहीं पिया हैं तो ग्यारहवाँ पौषघ लिया जा सकता हैं। यही शास्त्रीय दृष्टि से अनुकूल है।

तो मेरी बुद्धि का कड़वापन प्रकट होगा। तो उसने उस साग को अलग रख दिया और दूसरा अच्छा साग बना लिया। सारे परिवार को उसने आनन्दपूर्वक जिमा भी दिया। अब जो पहले वाला साग था उसके विषय में सोचने लगी कि इस साग का मैं क्या करूँ? इसमें मैंने इतने मसाले डाले हैं, घी डाला है, ये सब व्यर्थ हो जाएगें। आखिर मैं इसका क्या करूँ? वह ऐसा विचार कर रही थी कि इतने में एक तपस्वी महात्मा वहां पहुँचे। नागश्री ने सोचा कि चलो, समस्या का समाधान हो गया। मैं सोच रही थी कि इस साग का क्या करूँ तो सहज में यह उखरड़ी घर में आ गई हैं तो इसको ही दे दूँ। साग भी व्यर्थ नहीं जाएगा, पुण्य भी मिल जाएगा।

तो उस वहिन ने वह साग, वह कड़वा साग उन महात्मा को दे दिया। महात्मा कहने लगे कि बहुत है, किन्तु उसने तो सारा साग उन्हें दे ही दिया। तो आंगे जाकर महात्मा का क्या हुआ यह तो आप स्वंय ही सोचिए , लेकिन मुझे यह बताइयें कि इस प्रकार से कड़वा- एक प्रकार से विषैला साग महात्मा को देने से क्या उस वहिन को पुण्य मिला? साग भी एक प्रकार का अन्न हैं। वह अन्न जो उस बहिन ने उन महात्मा को दिया, क्या उसके पीछे उस बहिन की भावना शुभ थी?,

नही! आप कहेगें कि उस बहिन की भावना शुभ नहीं थी। अतः उसे पुण्य मिलने की तो कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती, बल्कि पाप बन्ध ही हो सकता हैं। अतः जो प्रमुख बात हैं वह भावना हैं। कड़वे साग की बात जाने दीजिए, अशुभ भावना से यदि मिष्ठान भी दिया जाए तो पुण्य नहीं, पाप ही मिल सकता है। तो इन वातों को शास्त्रीय दृष्टि से सोचना-विचारना चाहिए। अर्थ और भावना पर दृष्टि रखकर चलना चाहिए।

एक अन्य उदारण भी प्रासंगिक होने से आपके सामने रखता हूॅ। शास्त्र में जहाँ न्याय आया कि ''गंगायाम् घोष'',- तो एक गुरु ने शिष्य को समझाने के लिए शब्दो का प्रयोग किया कि गंगा के अन्दर घोष हैं। अर्थात- पानी का प्रवाह वह रहा है, वह गंगा और उसमें 'घोष' यानि घास-फूस की झोपड़ी। तो यह प्रयोग सुनकर शिष्य चकित हुआ कि गंगा के प्रभाव में घास- फूल की झोपड़ी कैसे रह सकती है? उसने अपनी शंका गुरुजी के सामने रखी और कहा कि यह वाक्य तो

बताया जाता हैं, तो पुण्य के स्वरूप की दृष्टि से कितने प्रकार से पुण्य बाँधा जाता है? तो बताया जाता हैं कि नौ प्रकार से पुण्य बाँधा जाता हैं। यह नौ प्रकार का पुण्य ठाणांग सूत्र में आया हैं कि- " अन्न पुण्णें, पाण पुण्णे, लयन पुण्णें, सयण पुण्णें............।" तो अन्न पुण्य का अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ हुआ कि अन्न देने से पुण्य-बन्ध होता हैं। अब आप बताइये कि इसमें 'देना' शब्द कहाँ से आया? यह शब्द किसने जोड़ दिया? जबकि पाठ में तो केवल "अन्न पुण्णे" ही आया है। तो आपको थोड़ा सा स्वाध्याय की स्थिति की तरफ ध्यान दिलाने की दृष्टि से कहता हैं कि वहाँ देना शब्द नहीं हैं। जो भाई 'उग्गए सूरे' की स्थिति को लेकर भ्रान्ति में पड़ रहा हैं उसकी भ्रान्ति-निवारण हेतु बताता हूँ कि अन्न पुण्य में 'देना 'कहाँ है।

एक व्यक्ति के घर के अन्दर अन्न का कोठा भरा हुआ हैं तो पुण्यभरा हुआ है, टिफिन में भोजन भरा हैं तो पुण्य भरा हैं क्योंकि शास्त्र कां पाठ तो इतना ही हैं कि "अन्न पुण्णे"। किन्तु आप स्वयं कहेगें कि केवल कोठा भरा होने से ही पुण्य नहीं होता- अन्न देने से पुण्य होता हैं। जबकि मूल पाठ में 'देना' नहीं हैं। तो इसका तात्पर्य अर्थ यह हुआ कि- अन्न पुण्य नही,, परन्तु शुभ भावना से दूसरे को अन्न देना, यह पुण्य का कारण हैं। परस्पर कारण हैं। और अनन्तर कारण वह शुभ भावना हैं। शुभ भावना पूर्वक यदि अन्न दिया जा रहा हैं तो वह पुण्य होगा। इसके विपरित यदि शुभ भावना नहीं है और अन्न दिया जा रहा हैं, तो वह भी पुण्य का कारण नहीं होगा? बल्कि अशुभ भावना से दिये जाने पर वह पाप ही होगा।

आप प्रश्न करेगे- यह कैसें? तो उदाहरण सहित इस बात को समझिए-

नाग श्री ने अपने परिवार के लिए साग बनाया। उसमें बहुत बढ़िया पदार्थ उसने डालें। और बहिनों के स्वभाव के अनुसार उसने उस बनें हुए साग को चखा, कि साग ठीक बना है कि नही? कहीं इसमें किसी वस्तु की कोई कसर तो नहीं रह गई ? माताएँ प्रायः ऐसा कर लेती हैं ताकि चीज अच्छी बने और जीमने वालों को भी अच्छी लगें।

तो नाग श्री ने भी वह साग अपनी जीभ पर रखकर चख लिया। किसी कारण से वह साग कड़वा लगा। तो उसने सोचा कि यह तो गडबड़ हो गई उससे

तो मेरी वुद्धि का कड़वापन प्रकट होगा। तो उसने उस साग को अलग रख दिया और दूसरा अच्छा साग बना लिया। सारे परिवार को उसने आनन्दपूर्वक जिमा भी दिया। अब जो पहले वाला साग था उसके विषय में सोचने लगी कि इस साग का मैं क्या करूँ? इसमें मैंने इतने मसाले डाले हैं, धी डाला है, ये सब व्यर्थ हो जाएगें। आखिर मैं इसका क्या करूँ? वह ऐसा विचार कर रही थी कि इतने में एक तपस्वी महात्मा वहां पहुँचे। नागश्री ने सोचा कि चलो, समस्या का समाधान हो गया। मैं सोच रही थी कि इस साग का क्या करूँ तो सहज में यह उखरड़ी घर में आ गई हैं तो इसको ही दे दूँ। साग भी व्यर्थ नहीं जाएगा, पुण्य भी मिल जाएगा।

तो उस वहिन ने वह साग, वह कड़वा साग उन महात्मा को दे दिया। महात्मा कहने लगे कि वहुत है, किन्तु उसने तो सारा साग उन्हें दे ही दिया। तो आंगे जाकर महात्मा का क्या हुआ यह तो आप स्वंय ही सोचिए , लेकिन मुझे यह वताइयें कि इस प्रकार से कड़वा- एक प्रकार से विषैला साग महात्मा को देने से क्या उस बहिन को पुण्य मिला? साग भी एक प्रकार का अन्न हैं। वह अन्न जो उस वहिन ने उन महात्मा को दिया, क्या उसके पीछे उस बहिन की भावना शुभ थी?,

नही! आप कहेगें कि उस बहिन की भावना शुभ नहीं थी। अतः उसे पुण्य मिलने की तो कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती, बल्कि पाप बन्ध ही हो सकता हैं। अतः जो प्रमुख बात हैं वह भावना हैं। कड़वे साग की वात जाने दीजिए, अशुभ भावना से यदि मिष्ठान भी दिया जाए तो पुण्य नहीं, पाप ही मिल सकता है। तो इन वातों को शास्त्रीय दृष्टि से सोचना-विचारना चाहिए। अर्थ और भावना पर दृष्टि रखकर चलना चाहिए।

एक अन्य उदारण भी प्रासंगिक होने से आपके सामने रखता हूँ। शास्त्र में जहाँ न्याय आया कि ''गंगायाम् घोष'',- तो एक गुरु ने शिष्य को समझाने के लिए शव्दो का प्रयोग किया कि गंगा के अन्दर घोष हैं। अर्थात- पानी का प्रवाह वह रहा है, वह गंगा और उसमें 'घोष' यानि घास-फूस की झोपड़ी। तो यह प्रयोग सुनकर शिष्य चकित हुआ कि गंगा के प्रभाव में घास- फूल की झोपड़ी कैसे रह सकती है? उसने अपनी शंका गुरुजी के सामने रखी और कहा कि यह वाक्य तो

गलत हो गया। तो गुरुजी ने समझाया कि अब तक जो भी साहित्य, व्याकरण, न्याय इत्यादि तुमने पढ़ा, वह सब व्यर्थ ही गया। क्योंकि तुम शव्द को ही पकड़ कर बैठे हो। अर्थ तक तुम्हारी पहुँच अभी नही हुई हैं। अरे, मैने जो कहा उसका तात्पर्य है। कि "गंगाय" तटे घोषः।" अर्थात् गंगा के तट पर घास- फूस मिट्टी की झोपड़ी बनी हुई है। मेरे कथन का अभिप्राय यह है।

तो बन्धुओं! शास्त्र में तो परिमित शब्द होते हैं यही शास्त्रों का महत्व भी हैं। जहाँ " उग्गए सूरे" कहा जाता हैं तो वहाँ अभिप्राय रात के बारह बजे से होता है। शास्त्रों का परिमित शब्दावली में से गूढ़ार्थ को निकालने की कला होनी चाहिए, ऐसा ज्ञान होना चाहिए। जिनके पास वह कला नही हैं, वह ज्ञान विज्ञान नहीं हैं। वे शब्दों में ही उलझकर रह जाते है। तथा अर्थ का अनर्थ कर डालतें हैं। "गंगायाम् धोषः" के उदाहरण से में बता रहा था कि एक-एक शब्द से अलग-अलग अर्थो का घोतन होता हैं। उन्ही प्रासंगिक अर्थो को हमें ग्रहण करना चाहिए। एक-एक वाक्य का रहस्य लम्बा चौड़ा होता हैं, हमें उस रहस्य को जानना चाहिए।

एक पाठशाला थी। उसमें दो शिष्य सहपाठी थें। एक दिन दो गुरुजी ने अपने उन अलग-अलग शिष्यों को सूचना दी कि यह दही रखा हैं, हम स्नानादि से निवृत होकर आतें है। तब तक तुम इस दही का ध्यान रखना। यह बात उन्होंनें संस्कृत में अपने शिष्यों को कही कि-"काकेभ्यो दधि रक्ष्य ताम्" इसका अर्थ यह हुआ कि कौवों से दही की रक्षा करना। इतना कहकर वे गुरु चले गए। सुनने वाले दोनों शिष्य थे।

अब उन शिष्यों में से एक शिष्य ने सोचा कि गुरुजी ने कहा कि कि कौवों से दही की रक्षा करना। सो यह बात मन में गाँठ की तरह बाँधकर वह आकाश की ओर ताक लगाकर बैठ गया कि कोई कौवा वहाँ आकर दही को न खा जाय। उधर एक बिल्ली दही की और ताक़ लगाए बैठी थी। वह आई और आकर दही को खाने लगीं। शिष्य ने देखा, और सोचा कि गुरुजी ने दही की रक्षा कौवों से करनें के लिए कहा था, बिल्ली से नहीं। अतः उसने बिल्ली को नहीं भगाया और बिल्ली सारा दही चट कर गई।

किन्तु दूसरे शिष्य के पास जब बिल्ली पहुँची तो उसने उसे भी भगा दिया और दही की रक्षा की।

अब जब अध्यापक लौटे तो एक ने अपने शिष्य से पूछा-"दही की रक्षा की?" शिष्य ने उतर दिया-" हाँ गुरुजी! रक्षा करली।" अध्यापक ने पूछा-" कौवे आए?' तो शिष्य ने बताया कि कौवे तो नही आए बिल्ली आई थी , उससे दही की रक्षा की थी।

किन्तु जब दूसरे अध्यापक ने दूसरे शिष्य से यही बात पूछी तो उसने कहा- "मैने दही की रक्षा कौवों से तो कर ली, आपकी ऐसी ही आज्ञा थी। किन्तु विल्ली दही को खा गई। मैने उसे नहीं रोका, क्यों कि आपने कहा था-"काकेभ्यों दधि रक्ष्यताम्।" अध्यापक ने अपने शिष्य की बुद्धि पर अपना सिर पीट लिया।

तो बन्धुओ! आप समझ गये होंगे कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' कहने से अध्यापकों का अभिप्राय यह था कि प्रत्येक पशु-पक्षी से दही की रक्षा करना। किन्तु केवल शब्दों को पकड़कर बैठ जाने वाला शिष्य उनके वास्तविक अर्थ को नहीं समझ सका। इस प्रकार वह विद्यार्थी अपने अध्यापक को प्रसन्न नहीं कर सका। तो जो विद्यार्थी अपने अध्यापक को भी प्रसन्न नही कर सका वह भगवान के आशय को क्या समझ सकता है? भगवान का वचन तो अनन्त आशयों से भर हुआ है। अतः जब तक ऐसी योग्यता नहीं आती कि किसी भी बात के सही आशय को समझा जा सके, तब तक कोई भी अध्ययन या ज्ञान निरर्थक ही माना जाएगा। सुधर्मा स्वामी के वाक्य तथा उपवास के विषय में भी जो कुछ बताया गया उसी दृष्टि से सोचना चाहिए। प्रत्येक दृष्टि का ज्ञान करना चाहिए। यदि आप इस स्थिति से नहीं चलेंगे तो अपने स्वयं के स्वरूप का ज्ञान नहीं कर पाएँगे और साथ ही अपने स्वरूप की रक्षा भी नहीं कर पाएँगे।

वात चल पड़ी है तो सुनिए, कि दो मित्र कमाने के लिए विलायत गये। उनमें से एक का धंधा अच्छा चल गया तो उसने वहुत-सी सम्पत्ति अर्जित कर ली। किन्तु दुसरे मित्र ने खूब पुरुषार्थ किया, किन्तु विवेक न होने से उसका धंधा अच्छा नहीं चल सका और वह सम्पत्ति का अर्जन नहीं कर सका। तो उसने विचार किया कि इसमें तो अपने देश में रहकर जैसा जो कुछ भी चले, वैसा ही करना-कमाना अच्छा। ऐसा सोचकर उसने अपने मित्र से कहा-"भाई, तुम्हारे तो अन्तराय कर्म का क्षयोपशम हो गया तो तुमने खूब कमा लिया। किन्तु मेरे पल्ले तो कुछ नहीं पड़ा। अतः मैं देश जाना चाहता हूँ। तुम भी चाहो तो मेरे साथ चलो।"

दूसरे मित्र ने उसकी बात सुनकर कहा-"मित्र! मेरे तो इस समय बहुत फैलाव हो गया हैं इसे समेटने में बहुत समय लग जाएगा। समेटे बगैर मैं चल भी नहीं सकता। अतः तुम देश चले जाओ। मैं कुछ समय बाद में आऊँगा।" यह सुनकर पहले मित्र ने कहा कि ठीक है, जब तुम्हारी इच्छा हो तो आ जाना, मैं जाता हूँ। हाँ, घर के लिए कोई संदेश या कोई वस्तु देनी हो तो दे दो।"

दूसरे मित्र ने अपने देश जाने वाले मित्र को एक लाख रुपये का एक हीरा दिया और कहा कि यह हीरा मेरी पत्नी को दे देना। अस्तु, हीरा लेकर वह मित्र देश के लिए रवाना हो गया। घर आते-आते मार्ग में उसकी नीयत में फर्क आ गया। उसके मन में वासना जागृत हुई- पाप की वासना। उसने सोचा कि देने वाला मेरा मित्र और लेने वाला मैं। बीच में कोई साक्षी अथवा कोई लिखत-पढ़त तो है नहीं। अतः इसे आसानी से हजम करने का अवसर है। ऐसा कुविचार करके वह घर पहुँचा और हीरे को दबाकर बैठ गया। अपने मित्र की पत्नी को उसने कोई भी समाचार नहीं दिया और हीरा भी नहीं दिया।

जब उसके मित्र की पत्नी को पता लगा कि उसके पति के मित्र आये हैं, किन्तु कोई समाचार उन्होंने आकर नहीं सुनाए तब वह उनके घर गई और पूछा-"आप आ गए, किन्तु आपके मित्र नहीं आए। क्या कारण है?" तो उसने उत्तर दिया-"क्या बताऊँ, मेरे तो पुण्य का उदय था, सो जल्दी कमाई हो गई, अतः मैं जल्दी आ गया। किन्तु मेरे मित्र के अन्तराय कर्म का उदय था तो कुछ मिला नही।" तब मित्र-पत्नी ने पूछा-'क्या उन्होंने मेरे लिए कुछ भेजा भी नहीं?' तो उस व्यक्ति ने जवाब दिया कि अरे भाभी! वह तो स्वयं ही उलझन में है, वह आपके लिए क्या भेजता?'

बेचारी महिला उत्तर सुनकर चुपचाप अपने घर लौट आई। इससे अधिक वह कर भी क्या सकती थी? दुःखी और भारी मन से दिन गिन-गिन कर काटने लगी।

कुछ समय पश्चात् दूसरा मित्र अपना कारोबार समेट कर अपने घर पहुँचा और पत्नी से मिलते ही उसने पूछा कि सब कुशल तो है न? पत्नी ने नाराजगी बताते हुए कहा कि आपको किसी की कुशल-मंगल से क्या लेना-देना? आपने तो अपने मित्र में साथ दो शब्द का कोई समाचार भी नहीं भेजा, कोई वस्तु या रुपया भेजना तो दूर की बात।

पत्नी का यह रुख और यह बात सुनकर पति का बड़ा विस्मय हुआ। उसने कहा-'अरे, तुम कह क्या रही हो? क्या मेरे मित्र ने तुम्हे कोई समाचार नहीं दिया? और एक लाख रुपये का जो हीरा मैंने उसके साथ तुम्हारे लिए भेजा था, वह भी उसने तुम्हें नहीं दिया?'

पत्नी द्वारा इन्कार किए जाने पर वह समझ गया कि उसके मित्र की नीयत खराव हो गयी है और उसने उसे धोखा दे दिया है। यह सोचकर वह अपने मित्र के पास पहुँचा। उसे देखकर उस मित्र का चेहरा उतर गया। आप जानते है कि पापी की आत्मा स्वयं अपने पाप को पुकार-पुकार कर कहती है। जब उसके मित्र ने पूछा कि भाई, तुमने वह हीरा, जो मैंने तुम्हे दिया था, अपनी भाभी को क्यों नही दिया? तब उसने एक झूठ को छिपाने के लिए दूसरा झूठ बोला कि मैंने तो वह हीरा तुम्हारी पत्नी को दे दिया है। उसके मित्र ने कहा कि मित्र, सच कहो, मेरी पत्नी तो कहती है कि तुमने वह हीरा उसे नहीं दिया। तक वह कृत्रिम आश्चर्य और रोष प्रगट करता हुआ कहने लगा-'अरे मित्र, बड़ा आश्चर्य है। गजव हो गया। मैंने तो हीरा अपने हाथों से भाभी को दिया है। मैं तो समझता था कि मेरी भाभी बड़ी अच्छी है, लेकिन अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसने वह हीरा अपने किसी और सम्वन्धी को दे दिया है और अब बात को छिपा रही है।

वन्धुओ! उस पापी व्यक्ति ने एक तो चोरी की, और अब ऊपर से उसने अपने मित्र की पत्नी पर लांछन लगाने में भी हिचकिचाहट नहीं की। यह सारी बात सुनकर उसके मित्र को वहुत दुःख हुआ। उसने सोचा कि एक लाख के हीरे को तो कोई बात नहीं। जान है तो जहान है। रुपया और भी कमाया जा सकता है। किन्तु इसने तो मेरी पत्नी पर ही लांछन लगा दिया। मैं अपनी पत्नी को अच्छी तरह जानता हूँ। वह कभी ऐसा नहीं कर सकती।

अस्तु, इस कलंक से अपनी पत्नी को उवारने का निश्चय करके वह न्यायाधीश के पास पहुँचा और उनसे सारी यथास्थिति वयान कर दी। तव न्यायाधीश ने पूछा कि क्या कोई साक्षी है? या कोई लिखा-पढ़ी है? किन्तु ऐसा तो कुछ भी नहीं था। न्यायाधीश भी विचार में पड़ गए। किन्तु वे सज्जन व्यक्ति थे और उच्च विचारों वाले थे। अतः उन्होंने उसे सांत्वना देते हुए कहा कि मैं मामले की जाँच करता हूँ, तुम चिन्ता न करो।

न्यायाधीश ने उस मित्र को, बेईमान दोस्त को बुलाकर सारी बात पूछ
उसने तो वही झूठ जज के सामने भी दुहरा दिया कि हुजूर! मैंने तो वह ही
अपने मित्र की पत्नी को दे दिया हैं तब जज ने पूछा- क्या तुम्हारा कोई गव
है जिसके सामने तुमने वह हीरा अपनी भाभी (मित्र की पत्नी) को दिया? उस
द्वारा 'हाँ' कहे जाने पर न्यायाधीश ने उन गवाहों को बुलाकर लाने का आदेश दि
वह व्यक्ति अपने चार गवाहों को बुला लाया। वे चारों गवाह झूठे और नम्बरी
झूठी गवाहियाँ देना उनका पेशा था और न्यायाधीश महोदय इस बात को अच
तरह जानते थे। वे अपने मन में विचार कर रहे थे कि यह पैसा भी कैसी व
है कि इसके लालच में फँसकर आदमी हरामखोरी करना सीख जाता है।

अस्तु, न्यायाधीश महोदय ने उन चारों गवाहों को एक बैंच पर बिठाव
एक-एक गवाह को अपने कमरे में बुलाना आरम्भ किया। कमरे में एक स्था
पर उन्होंने कुछ पत्थर इकट्ठे करा लिए थे। अब उन्होंने पहले गवाह को बुलाव
कहा कि तुम कहते हो कि हीरा तुम्हारे सामने दिया गया था, तो बताओ कि व
हीरा कितना बड़ा था? जितना बड़ा वह एक लाख रुपये का हीरा था, उतना ब
पत्थर उठाकर मेरे पास लाओ।

अब एक लाख रुपये का मूल्यवान हीरा उस गवाह ने तो क्या उस
बाप-दादों ने भी कभी अपनी जिन्दगी में नहीं देखा था। वह साचने लगा कि ए
लाख हीरा तो बहुत बड़ा होता होगा। ऐसा सोचकर वह एक किलो पत्थर उ
लाया, और न्यायाधीश महोदय को दे दिया। न्यायाधीश ने उसे भी एक कोठरी
बिठा दिया। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे और चौथे गवाहों को भी बुलाया गया औ
उन्होंने क्रमशः दो किलो, तीन किलो और चार किलो के पत्थर उठा-उठा क
न्यायाधीश को दे दिये। अन्त में उस चोर-मित्र को भी न्यायाधीश ने बुलाया औ
उसे भी हीरे के बरावर पत्थर उठाकर देने के लिए कहा। उसने हीरे के बराब
पत्थर उठाकर दिया।

तव न्यायाधीश ने उसे गवाहों द्वारा उठा-उठा कर दिए गए पत्थरों व
वताया और कहा- अव भी समय है। सच-सच वताओ कि तुमने अपने मित्र व
पत्नी को वह हीरा दिया या नहीं?

वन्धुओ! पाप के पैर नहीं होते। गिड़गिड़ाते हुए वह न्यायाधीश के चरण

पर गिर गया और बोला- "हुजूर! मैं कुसूरदार हूँ। पापी हूँ। मेरी नीयत बिगड़ गयी थी। मुझे माफी दीजिए। आगे कभी ऐसा कुकर्म नहीं करूँगा हुजूर! वह हीरा मेरे घर में ही हैं अभी लाकर अपने मित्र को दे देता हूँ। मैंने बड़ा पाप किया। एक तो मित्र के साथ विश्वासघात किया और दूसरे उसकी पत्नी पर लांछन भी लगाया। मैं अपने मित्र और माता सरीखी भाभी पैरों पड़कर उनसे क्षमा माँगूंगा।

हीरा जिसका था, उसे मिल गया।

बन्धुओ! यह तो एक रूपक है। इस रूपक को आपके सामने रखने का मेरा अभिप्राय यही है कि मैं आपको बताना चाहता था कि आप इस दृष्टि से विचार करें कि जिसे हीरे और पत्थर की पहिचान ही नहीं है, वह उसकी साक्षी कैसे दे सकता है? तो हीरे की पहिचान के लिए पत्थर की भी पहिचान आवश्यक है।

भाइयो! संसार के अन्दर अनेक पदार्थ है। उनकी पहिचान आत्मा की पहिचान के साथ ही होती है। इसीलिए कहा गया हैं कि-'जे एगं जाणई से सव्वं जाणई।' अतः जो परमाणु के स्वभाव को जानता है और विभाव को पूर्णरूप से जानता है। तो वह आत्मा के स्वभाव को पूर्ण रूप से जानता है। इस दृष्टि कोण से मैं कह रहा हूँ कि आपको स्वाध्याय का महावरा बनाना चाहिए। उसके माध्यम से यदि आपको तत्वज्ञान हो गया तो आप शान्ति के स्वरूप को जान सकेंगे। तो इस प्रकार स्वाध्याय के अर्थ का तात्पर्य आपके सामने आया। जो मनुष्य आध्यात्मिक जीवन को प्रकट करने वाले शास्त्रों का स्वाध्याय विधिवत् करेगा, केवल शव्दों से ही चिपक कर नहीं रह जायेगा, वल्कि उसके भीतर के रहस्यों को भली प्रकार से समझेगा, वही शान्ति और आनन्द के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा। वैज्ञानिक दृष्टिकोण लेकर जो मनुष्य समस्याओं के हल को खोजने का प्रयत्न करेगा, वही समस्याओं का निराकरण ठीक प्रकार से कर सकेगा।

बन्धुओ! एक समस्या का हल तो नारद वावा कर रहे है, और दूसरी खोज इधर कुन्दनपुर में हो रही है। कुन्दनपुर के महाराज भीम नरेश अन्य राजाओं के समान नहीं थे। वे नीतिसम्पन्न थे। प्रजा को पुत्रवत् मानते थे और उनका संरक्षण पिता के समान ही किया करते थे। उनके पाँच पुत्र थे। एक पुत्री

थी। पुत्री का नाम रूक्मिणी था। राजा ने जिस प्रकार अपने पाँचों पुत्रों को ७२ कलाओं में निपुण कराया था, उसी प्रकार से अपनी पुत्री को भी ६४ कलाएँ सिखाई थी। इसके साथ ही उन्हें आध्यात्मिक कला से भी पूर्ण परिचित कराया था। यह भी एक प्रकार की शिक्षण पद्धति थी। यह विदर्भ देश की कथा है।

राजकुमारी जब वय की दृष्टि से तरुणाई की अवस्था में पहुँची तब राजा के लिए उसके विवाह के प्रसंग पर विचार करना आवश्यक हो गया। वे सोचने लगे कि पाँचों भाइयों में एक बहिन है, इसे मैंने सभी प्रकार की शिक्षा दी है, सभी कलाओं में निपुण किया है, तो अब इसका विवाह भी किसी योग्य वर के साथ करना चाहिए। क्योंकि आकृति की दृष्टि से तो सभी मनुष्य समान दिखाई देते हैं, किन्तु गुण एवं स्वभाव की दृष्टि से उनमें भेद रहता है। उस काल में इधर-उधर बहुत से राजकुमार विख्यात थे। किन्तु महाराज भीम नरेश किसी ऐसे राजकुमार की खोज में थे जिसमें आत्मिक गुण एवं निष्ठा भी पाए जायें। यह विचार करते हुए उन्होंने यह भी सोचा कि यद्यपि यह मेरी कन्या है और मैं इसका संरक्षक हूँ, मैं चाहूँ तो अकेला ही वर का निर्णय करके उसका विवाह कर सकता हूँ, किन्तु यह प्रसंग ऐसा है कि मुझे शीघ्रता नहीं करनी चाहिए तथा केवल अपनी ही मति से कार्य नहीं करना चाहिए। बल्कि उस विषय में मुझे परिवार के अन्य सदस्यों तथा अपने मंत्रियों आदि से भी उचित सलाह लेनी चाहिए। क्योंकि परिवार के मुखिया पर एक विशेष उत्तरदायित्व होता है और उसे उत्तरदायित्व को बड़ी गम्भीरतापूर्वक निभाना चाहिए।

राजा भीम नरेश ने इस सब बातों का पूर्ण विचार किया। आज तो बहुत से भाई इस जिम्मेदारी को ठीक से समझते नही है। सन्तान पैदा करना एक बात है और सन्तान को उचित तरीके से लालन-पालन करना तथा उन्हें जीवन-समय में आगे बढ़ने के लिए सर्वथा योग्य बना देना यह दूसरी बात है। सन्तान के भावी जीवन की चिन्ता पिता को और माता को अवश्य ही करनी चाहिए। आप देखते है कि पशु-पक्षी भी अपनी समझ तथा योग्यतानुसार इस उत्तरदायित्व का वहन करते है। वे जितना कुछ समझ तथा योग्यतानुसार इस उत्तरदायित्व का वहन करते हैं। वे जितना कुछ कर सकते हैं, वह कर गुजरते हैं। घोंसलों में रहने वाली

चिड़िया भी अपने बच्चों की सार-सम्हाल करती है तथा जब तक वे बच्चे स्वतन्त्र रूप से उड़ने वाले नहीं हो जाते तब तक उनका पालन करती है। उस चिड़िया के मस्तिष्क की स्थिति इतनी ही है, तो वह इतना ही करती है। उन्हें उड़ना सिखा देती है। किन्तु क्या मनुष्य भी इतना ही मस्तिष्क रखता है? अथवा क्या मनुष्य का भी इतना ही उत्तरदायित्व होता है? या कुछ इससे भी आगे होता है?

वन्धुओ! मनुष्य का उत्तरदायित्व इससे अधिक है। मनुष्य जीवन की कुछ विशेषताएँ हैं। केवल सन्तान को बड़ी कर देना और उन्हें व्यापार आदि में लगा देना ही पर्याप्त नही होता। केवल पेट भरने की कला सिखा देना ही काफी नहीं है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी सन्तान को पेट भरने की कला के अतिरिक्त समुचित आध्यात्मिक विज्ञान से भी परिचित कराये ताकि उनका जीवन शान्तिमय बना रहे और वे पूर्ण मुक्ति की ओर निरन्तर आगे बढ़ सकें।

तो भीम नरेश ने सर्वथा उचित विचार ही किया। वे सोचने लगे कि मेरा उत्तरदायित्व यह है कि मैं इस योग्य कन्या के लिए योग्य वर की तलाश करूँ। यह मंगलमुखी कन्या है, इसके दर्शन से लोगों के मन में आनन्द का सागर हिलोरे लेने लगता है। यदि मैं इसका सम्बन्ध केवल अपनी ही इच्छा एवं बुद्धि से कर देता हूँ तो कहीं भूल हो सकती है। अतः मुझे सब लोगों की सलाह लेकर यह देखना चाहिए कि इस कन्या का वर इसके अनुकूल हो। वह यदि नास्तिक, स्वच्छन्द और उदण्ड निकल जाए तो मेरी कन्या का जीवन ही विनष्ट हो जाए। उसके जीवन में से सुख समाप्त हो जाए तथा आर्त और रौद्र ध्यान की उसके भाग्य में शेष रह जाए। ऐसा विवेकपूर्ण विचार करके राजा ने अपने परिजनों तथा मन्त्रिगणों को बुलाया।

सभा जुड़ जाने पर राजा ने सबके सामने अपना विचार रखा- 'मंत्रीवर! राजकन्या विवाह योग्य हो गई है। उसके विवाह का गुरुतर भार हम लोगों के सामने आ गया है। मैं चाहता हूँ कि आप सब लोगों की सलाह से इसका विवाह किसी योग्य, गुणवान वर के साथ किया जाए। यह निर्णय हमें बड़ी सावधानीपूर्वक करना है ऐसा न हो कि तनिक सी असावधानी से कन्या का जीवन आर्त और रौद्र ध्यान में वह जाए। अतः आप लोग इस विषय में अपने विचार मुझे बताइये।'

राजा की बात सुनकर मन्त्री ने कहा-'महाराज! आप धन्य है। ऐसा विवेकपूर्ण विचार बहुत कम लोग किया करते हैं। आपका सोचना दीर्घकालीन है। आपने उचित ही किया कि हम लोगों को बुलाकर यह विषय प्रस्तुत किया। इस पर गम्भीरतापूर्णक विचार करके हमें वर के क्या-क्या गुण होने चाहिए इस बिन्दु पर पूर्ण निर्णय लेना चाहिए। यदि इसका चिन्तन हमने नहीं किया और सिद्धान्त की दृष्टि से हमने वर के गुणों और लक्षणों पर ध्यान नहीं दिया तो भविष्य में सुख नहीं मिल सकेगा। नीति में कहा गया है कि-

"कुलं शीलं च सनाथता च ....।"

तो सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि वर का कुल कैसा हो? उसकी जाति कैसी हो? जाति और कुल को देखकर ही उसके विषय में आगे विचार को बढ़ाना चाहिए। जाति और कुल मनुष्य के जीवन में. बहुत महत्व रखते हैं।

तो जहाँ तक जाति का प्रश्न है, जिसका मातृपक्ष शुद्ध हो, वह जातिमान् है। जिसका पितृपक्ष शुद्ध हो, वह कुलवान है। इन दोनों के शुद्ध न होने पर कभी-कभी बड़े-बड़े दुःख हो जाते है। आज के भाई इस दृष्टि से सोचेंगे अथवा नहीं, यह प्रश्न हैं। आज तो पैसा पर सब की दृष्टि ठहरी हुई है।पैसे को ही सब लोगों ने अपना परम उपास्य मान रखा है। लोग सोचते हैं कि जो जितना अधिक पैसा दे सकता है, वह उतना ही अधिक योग्य है। पैसे वाला व्यक्ति उन लोगों के लिए सर्वगुण सम्पन्न हो जाता है। कहा भी है- "सर्वेगुणा कांचनमाश्रयन्ति।"

वन्धुओ! स्वर्गीय आचार्य श्री जी महाराज जाति तथा कुल के विषय में फरमाया करते थे कि एक सेठ अपने लड़के का विवाह किसी जाति कुलवान घराने की गुणवान लड़की से करना चाहता था। किन्तु सेठानी जरा पैसे की लोभी थी। वह कहा करती थी कि अमुक सेठ की लड़की वड़ी गुणवान, रूपवान है और उनके पास पैसा भी वहुत है। अतः यदि उनके यहाँ सम्वन्ध होगा तो पैसा भी वहुत आयेगा। सेठानी की यह वात सुनकर सेठ ने कहा कि तेरी तो मति भ्रष्ट हो गई है। तू तो वस पैसे को ही देखती है। अरे पैसे से पहले जाति और कुल को देखना चाहिए। सेठ की वात सुनकर सेठानी ने कहा कि आप कैसी वातें करते हो? अरे, पैसे से सव काम चलता है। जाति-वाति में क्या रखा है? सेठ नहीं माना और

कहने लगा कि यह विचार ठीक नहीं है। सेठानी ने पूछा- 'अच्छा, बताइये कि उस लड़की में क्या दूषण है।'

सेठ बताने लगा- 'देखो, उसके कुल में तो कोई दूषण नहीं है। किन्तु जाति में दूषण है।' सेठानी द्वारा वह दूषण पूछे जाने पर सेठ ने बताया कि उस लड़की की नानी की नानी ने चूहा मारा था। यह सुनकर सेठानी ने कहा कि पतिदेव! आप भी विचित्र है। भला आप कहाँ से कहाँ पहुँच गए? उसकी नानी की नानी ने चूहा मारा तो उससे क्या हो गया? तब सेठ ने कहा कि तुम मानो अथवा न मानो। किन्तु उसके संस्कार आए बिना नहीं रहते। ये संस्कार पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक, बल्कि जन्म-जन्मान्तर तक चलते हैं।

किन्तु सेठानी भी जिद्दी थी और पैसे के लालच को सरलता से नहीं छोड़ सकती थी। भाइयो! आप लोगों को भी अनुभव होगा कि स्त्रियों का हठ बड़ा प्रबल होता है। आपके घर की कम्पनी सरकार जब कोई अल्टीमेटम दे देती है तो फिर आप भी वैसा ही नाचने लगते है। सो हुआ यह कि सेठ की इच्छा विरुद्ध उसके लड़के का विवाह उसी लड़की से कर दिया गया जिसके लिए सेठानी ने जिद्द पकड़ रखी थी।

वह कन्या यद्यपि अपने आप में अच्छी, गुणवान और चारित्र्य-सम्पन्न थी, परन्तु उसके जातीय संस्कार अच्छे नहीं थे। उसमें हिंसक वृत्ति के संस्कार थे। एक बार ऐसा प्रसंग हुआ कि बाहरी सम्बन्धियों का निमन्त्रण मिलने पर सेठ को परिवार सहित बाहर जाना था। अब वह सोचने लगा कि घर सूना करके जाना तो ठीक नहीं हैं पीछे से जाने कन्या हो? वह इसी चिन्ता में था कि उसकी यह चिन्ता देखकर नववधू ने कहा-'आप लोग सम्बन्धियों के यहाँ जाइये। मैं घर पर रह जाऊँगी। आप घर की चिन्ता न करें।'

इस प्रकार वहू ने घर की जिम्मेदारी ले ली और बाकी सब लोग बाहर चले गए। पीछे से क्या हुआ कि सेठ के कोई दूसरी सम्वन्धी उधर आ निकले। उस समय यातायात के साधन इतने सुगम और तीव्र तो थे नहीं कि जब चाहे तभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाएँ। उस समय तो पैदल या बैलगाड़ी में ही

कहने लगा कि यह विचार ठीक नहीं है। सेठानी ने पूछा- 'अच्छा, बताइये कि उस लड़की में क्या दूषण है।'

सेठ बताने लगा- 'देखो, उसके कुल में तो कोई दूषण नहीं है। किन्तु जाति में दूषण है।' सेठानी द्वारा वह दूषण पूछे जाने पर सेठ ने बताया कि उस लड़की की नानी की नानी ने चूहा मारा था। यह सुनकर सेठानी ने कहा कि पतिदेव! आप भी विचित्र है। भला आप कहाँ से कहाँ पहुँच गए? उसकी नानी की नानी ने चूहा मारा तो उससे क्या हो गया? तब सेठ ने कहा कि तुम मानो अथवा न मानो। किन्तु उसके संस्कार आए बिना नहीं रहते। ये संस्कार पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक, बल्कि जन्म-जन्मान्तर तक चलते हैं।

किन्तु सेठानी भी जिद्दी थी और पैसे के लालच को सरलता से नहीं छोड़ सकती थी। भाइयो! आप लोगों को भी अनुभव होगा कि स्त्रियों का हठ बड़ा प्रबल होता है। आपके घर की कम्पनी सरकार जब कोई अल्टीमेटम दे देती है तो फिर आप भी वैसा ही नाचने लगते है। सो हुआ यह कि सेठ की इच्छा विरुद्ध उसके लड़के का विवाह उसी लड़की से कर दिया गया जिसके लिए सेठानी ने जिद्द पकड़ रखी थी।

वह कन्या यद्यपि अपने आप में अच्छी, गुणवान और चारित्र्य-सम्पन्न थी, परन्तु उसके जातीय संस्कार अच्छे नहीं थे। उसमें हिंसक वृत्ति के संस्कार थे। एक बार ऐसा प्रसंग हुआ कि बाहरी सम्बन्धियों का निमन्त्रण मिलने पर सेठ को परिवार सहित बाहर जाना था। अब वह सोचने लगा कि घर सूना करके जाना तो ठीक नहीं हैं पीछे से जाने कन्या हो? वह इसी चिन्ता में था कि उसकी यह चिन्ता देखकर नववधू ने कहा-'आप लोग सम्बन्धियों के यहाँ जाइये। मैं घर पर रह जाऊँगी। आप घर की चिन्ता न करें।'

इस प्रकार बहू ने घर की जिम्मेदारी ले ली और बाकी सब लोग बाहर चले गए। पीछे से क्या हुआ कि सेठ के कोई दूसरी सम्बन्धी उधर आ निकले। उस समय यातायात के साधन इतने सुगम और तीव्र तो थे नहीं कि जब चाहे तभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाएँ। उस समय तो पैदल या बैलगाड़ी में ही

यात्रा करना पड़ती थी। तो उस आगन्तुक सम्बन्धी ने विचार किया कि इतनी दूसरे आया ही हूँ तो अपने सम्बन्धी सेठ से मिलता चलूँ। यह विचार करके वह सेठ से मिलने उसके घर गया। घर पर अकेली बहू थी। उसने बताया कि सब लोग तो बाहर गए हुए है। तो उस आगन्तुक ने कहा कि ठीक है, मैं मिलने आ गया था। तुम सेठजी से, जब वे आए तो सूचना दे देना। और सब कुशल-मंगल कह देना। मैं सहज ही इधर से जाते हुए मिलने आ गया था।

इतना कहकर वह जाने लगा लेकिन बहू ने देखा कि आगन्तुक सम्बन्धी आभूषणों से लदा हुआ है और आभूषण बड़े सुन्दर और मूल्यवान हैं। सो उसके मन में आभूषणों का लोभ जागा। अतः उसने कहा- 'और लोग घर पर नहीं है तो क्या हुआ, मैं तो यही हूँ। आप हमारे सम्बन्धी है। मैं आपको भोजन किए बगैर नहीं जाने दूँगी। अब थोड़ा ठहरकर भोजन करके ही जाइये।'

इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं थी। अस्तु, वह आगन्तुक सम्बन्धी भोजन के लिए ठहर गया। बहू ने बढ़िया भोजन बनाया। किन्तु उसके मन में तो विकार समा चुका था। अतः उसने मिष्ठान में विष मिला दिया। बेचारे परदेसी को इस सब बातों का क्या पता? उसने भरपेट भोजन कर लिया।

अब भोजन के बात तुरन्त ही उसकी तबियत बिगड़ने लगी, क्योंकि विष ने अपना प्रभाव दिखाना आरम्भ कर दिया था। बहू ने कहा-"आप थके हुए हैं। थोड़ा आराम कर लीजिए और कोई बात नहीं है। सो वह बेचारा बिस्तर पर लेट गया। और ऐसा लेटा कि फिर कभी नही उठ सका। उसकी यह लीला विष के कारण समाप्त हो गई।

बहू ने चुपचाप उसके सारे आभूषण उतार लिए और उन्हें छिपा लिया। उसके बाद उसने आँगन में एक गड्ढा खोदकर शव को पिटारी में बन्द करके, उसमें गाड़ दिया और ऊपर से मिट्टी वापिस बराबर कर दी।

थोड़े समय बाद सेठ भी घर लौट आया और सब काम यथावत चलने लगा।

किन्तु वह आगन्तुक और अब दिवंगत सम्बन्धी जब घर नहीं पहुँचा तो उसके परिवार वालों को चिन्ता हुई। वे उसकी खोज-बीन करने लगे। खोजते-खोजते

वे सेठ के गाँव में पहुँचे और वहाँ लोगों से उसके विषय में पूछताछ की। लोगों ने बताया कि वह यहाँ आया तो अवश्य था किन्तु जाते हुए किसी ने नहीं देखा।

तब सेठ के यहाँ पूछताछ हुई। सेठ ने अपनी बहू से पूछा कि-'बहू क्या आपने घर पर कोई आया था?' बहू ने साफ झूठ बोल दिया कि यहाँ तो कोई नहीं आया । उसे कुछ भी पता नहीं।

लेकिन भाइयो! पाप कभी छिपता नहीं। पुलिस ने खोज की। सेठ के घर के भीतर कुछ दुर्गन्ध आ रही थी। उसके आधार पर पुलिस ने लाश का पता लगा लिया, आभूषण भी सेठ के घर से बरामद कर लिए और बहू के कारनामों की सारी कलई खुल गई।

जब बहू को जेल में ले जाया जा रहा था तो सेठ ने सेठानी से कहा-"देखा तूने? मैंने पहले ही कहा था कि यह कन्या अच्छे संस्कारों वाली नहीं है। इसकी नानी की नानी ने चूंहा मारा था। वह हिंसक संस्कार इसमें भी आया कि नहीं? व्यर्थ ही तूने मेरे लड़के का जीवन बरबाद कर दिया और मेरे घर की प्रतिष्ठा पर सदा-सदा के लिए एक अमिट कलंक लगवा दिया।"

बन्धुओ! मैं आपसे कह रहा था कि ये हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के संस्कार लालच के संस्कार मातृपक्ष या पितृपक्ष में हों तो वह जातीय संस्कार अच्छे नहीं होते। उनका प्रभाव कन्या या पुत्र में आए बिना नहीं रहता। अतः जाति एवं कुल सम्पन्नता होनी चाहिए। हमें कोई भी सम्बन्ध करने से पूर्व इन सभी बातों का पूरा विचार करना चाहिए। आप अपने आध्यात्मिक धरातल की शुद्धता के लिए बैठे है तो इन सब बातों पर आपको विचार करना ही चाहिए।

आप कहेंगे कि महाराज! हम तो गृहस्थाश्रम की दृष्टि से ये सम्बन्ध करते है। तो मैं आपसे कहूँगा कि आप इन कन्याओं का सम्बन्ध तो करते हैं, किन्तु एक कन्या मैं आप सबके पास देखता हूँ, कोई भी भाई उस कन्या से रहित नहीं। क्या आप जानते है कि वह कन्या कौनसी है?-

वह कन्या है- आपकी बुद्धि। वह रुक्मिणीबाई तो कुन्दनपुर में थी, और पाँचों भाइयों के बीच में एक बहिन थी। किन्तु यह आपकी बुद्धि रूपी रुक्मिणी-

कन्या आपकी पाँच इन्द्रियों के बीच में है। कहिए, इसका सम्बन्ध आप किससे करना चाहेंगे?

भाइयो! यदि आप अपनी इस बुद्धि रूपी कन्या का सम्बन्ध आध्यात्मिक दृष्टि से करना सीख लेंगे तो आप शान्ति के सोपान को अवश्य प्राप्त कर सकेंगे। इसके विपरीत यदि आप इसका सम्बन्ध संसार के नाशमान् पदार्थों से जोड़ेंगे तो आपकी भी वही स्थिति होगी जो पैसे के लिए अपने लड़के का सम्बन्ध करने वाले सेठ की हुई। उसकी बहू को जेलखाने में जाना पड़ा। यदि आप समय रहते नहीं चेते और आपने सांसारिक पदार्थों से अपनी बुद्धि को जोड़ दिया, तो आपके लिए भी चौरासी लाख जीव योनियों का जेलखाना तैयार है।

अतः बन्धुओ! स्व और पर का ज्ञान लेकर चलिए। महाराज भीम नरेश का प्रसंग चल रहा है। आज जाति एवं कुल के विषय में विचार हुआ, आगे अन्य गुणों की चर्चा होगी। आप भी अपनी दृष्टि भीतर करिए और गुणों को पहिचानिए।

-इत्यलम

****

स्वाध्याय का महत्व

"असंखयं जीविय मा पमायए"

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना–

"शान्ति जिन एक मुझ वीनती..............।"

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी , अनन्त शान्ति के स्वामी भगवान शान्तिनाथ के चरणों में आन्तरिक भावना का धोतन इन प्रार्थना की पंक्तियों द्वारां हो रहा हैं। मनुष्य के जीवन में उतार और चढ़ाव आतें ही रहतें हैं। विचारों के झूले पर झूलता हुआ वह कभी तो आकाश की अनन्त ऊँचाइयों पर पहुंच जाता है। और कभी उसका गमन पाताल की गहराईयों में भी होता है। इस सारी गतिविधि के दौरान मानसिक स्थिति का संतुलन ठीक तरह से न होने के कारण वह शान्ति से वहुत दूर चला जाता है। वास्तविक स्थिति का ज्ञान उसकी पकड़ से छूट जाता है। वाहरी दृष्टि से सुख-सुविधा की खोज में वह कभी अपोलों में बैठकर तथाकथित चन्द्रलोक में पहुंच जाता है, कभी मंगल ग्रह की ओर प्रयाण करता है तथा कभी समुद्र की गहराइयों में भी उतर जाता है। किन्तु शांति और तुष्टि उससे फिर भी दूर बनी रहती है। क्योंकि सुख सुविधा के साधन न तो कही ऊपर के लोक में उपलव्ध है और न ही समुद्र के तल में। इस प्रकार कामनाओं की मृगतृष्णा में मानव निरन्तर इधर से उधर भटकता रहता है।

इस प्रकार शांति और सुख की खोज चल रही है। जिनके पास यन्त्रों के साधन है, वे उनकी सहायता लेकर ऊपर और नीचे चले जाते है तथा जिनको वे साधन उपलव्ध नही है, वे अपने मन के यान पर बैटकर ही कल्पना के सहारे इधर उधर जाते है किन्तु कुल मिलाकर मानव दुर्गति के चक्र में फँसा हुआ है। पर मानव जीवन यह मानव शरीर कितना महत्वपूर्ण है, इसका तनिक भी विचार

आज मनुष्य को नहीं है। यही उसकी दुर्गति का कारण है।

इस प्रकार की दुर्गति से बचने के लिए, मनुष्य अशांति से शांति की ओर जाने के लिए मनुष्य को महापुरुषो की संगति करनी चाहिए। कहा गया है-"सच्च खु भगवं" सत्य ही भगवान है। तो इस सत्य के समीप मनुष्य को ऐसे गुरु की शरण लेनी चाहिए। जो उसे इस सत्य का दिग्दर्शन करा सके। गुरु की व्याख्या करते हुए शास्त्रकार ने कहा है-

"समग्ग विवज्जना.................।"

इस गाथा का अर्थ आपके सामने कुछ समय से चल रहा है। सूक्ष्मतर अभिप्राय को छोड़कर स्थूल व्याख्या मैं आपके सामने कर रहा हूँ, ताकि आप उसे हृदयंगम कर सकें। तो इस गाथा में बताया गया है कि जो गुरु स्वाध्याय की स्थिति के साथ अपने मन, वचन और काया की स्थिति को सन्तुलित रखता है और एकान्त सेवन करता है, उसे सत्य के मार्ग की उपलब्धि होती है और वही गुरु अन्य लोगो को सन्मार्ग बता सकता है।

एकान्त सेवन का अभिप्राय यह नही है कि व्यक्ति आवश्यक रूप से किसी गुफा में जाकर ही बैठ जाए। ऐसे स्थान पर जाने के बाद भी यदि वह तन्मयता से अपने मन की स्थिति को नही टटोल सकता तो वह एकान्त निरर्थक है। उस गुफा में बैठने मात्र से उसे शांति प्राप्त नही हो सकती। इसी प्रकार से एक व्यक्ति अनेक लोगों के बीच में रहता हुआ भी एकान्त की अनुभूति कर सकता है। तो एकान्त सेवन की स्थिति स्थान की दृष्टि से नही, मन की दृष्टि से है। मन में अनेक प्रकार के विचार चला करते है। कई तूफान उठते रहते है। किन्तु व्यक्ति में यह विशेषता होनी चाहिए कि वह उन विचारों और तूफानों पर विजय प्राप्त करता हुआ अपने को जीवन सत्य की ओर लगाए रख सके। इस प्रकार से व्यक्ति बहुत से लोगों के बीच रहता हुआ भी एकान्त सेवी बन सकता है। तो यदि मनुष्य जहां कही भी रहे, अपने मन की गुफा में प्रविष्ट होकर स्थित रहने की योग्यता उत्पन्न कर ले तो उसे शांति प्राप्त हो सकती है। जो व्यक्ति सांसारिक कोलाहलों में डूब जाता है उन्हीं के साथ बह जाता है. वह अपने मन को एकाग्र नही कर पाता और शांति से वंचित रह जाता है।

लोग शिकायत करते हैं कि हम बहुत प्रयत्न ध्यान जाप या साधना करने

के लिए करते है, किन्तु हमारा मन एकाग्र नही हो पाता, हमारी साधना स्थिर नही हो पाती, हम कहीं के कहीं भटक जाते है। यह साधना का क्षेत्र किस प्रकार स्थिर वने इसका उपाय भी वे पूछते है।

इस प्रश्न के उतर में वड़ी-वड़ी वातें कही जाती है और कहीं जा सकती है। मूल वात यही है कि हमें अपने चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करना चाहिए और जीवन के इन समस्त व्यापारों में लगे हुए भी, लोगों के वीच में रहते हुए भी मन को एकाग्र वनाना चाहिए। चित तो चंचल है ही, वह तो वार वार भौतिक पदार्थो तथा विषयों की ओर भागना चाहता है, किन्तु शांति के अभिलाषी व्यक्ति को वाह्य पदार्थो के साथ अन्तर जीवन की समस्याओं को मिलाकर एकाग्रता प्राप्त करनी चाहिए।

इस प्रकार मन को एकाग्र वनाने के लिए, सांसारिक विषयों से हटकर आत्मिक समस्या के समाधान हेतु स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। लोग समंय के अभाव की दुहाई देते हैं और कहते है कि हमें समय ही नहीं मिलता। यह वात ठीक नही है। समय तो यदि हमारी भावना सच्ची हो तो अवश्य निकल सकता है। आखिर दूसरे-दूसरे कार्यो के लिए भी तो आप समय निकाल लेते है, तव थोड़े से वक्त के लिए आप स्वाध्याय क्यों नही कर सकते?

वस्तुतः आप स्वाध्याय के महत्व को समझते नही है। यदि आप इसका महत्व समझें तो आपको समय अवश्य मिलेगा। कभी-कभी आप पन्द्रह मिनट का समय स्वाध्याय हेतु वंधा लेते है, किन्तु उसमें भी कठिनाई का अनुभव करते है। तो यह वड़ी शोचनीय वात है। आप में मन को एकाग्र करने की कला तनिक भी नहीं है। उसकी ओर आपकी लगन ही नहीं है। जव आपके मन में वैसी भावना ही नहीं होगी तव मन एकाग्र कैसे होगा? मैं तो कहूँगा कि आप नियमित रूप से पुस्तक उठाइये और यदि अधिक नही तो एक पृष्ठ ही पढ़िए।किन्तु उसके साथ यह प्रण करके चलिए कि जो कुछ आप पढ़ रहें हैं, जो कुछ आपकी आँखें देख रही है। और कान सुन रहें हैं, वह आपके मन के भीतर तक उतरना चाहिए। जितना आप पढ़ें उसे मुख से उच्चारित करें और उसके भावों को अन्तस्तल तक ले जायें। जब तक एक पैराग्राफ का भाव ठीक तरह से आपके मन में न बैठ जाए, तब तक आप आगे न बढ़ें। इस प्रकार से यदि आप अभ्यास करेंगे तो अवश्य

ही सफल होगें और स्वाध्याय की ओर आपकी रूचि बढ़ेगी।

इस प्रकार के स्वाध्याय से आपको बहुत लाभ होगे। आप यह चिन्ता न करें कि पढ़कर आप सुनायेगे किसको? अरे आपकों किसी को कुछ नहीं सुनाना हैं। आपकों तो स्वयं स्वाध्याय करना है और अपने मन को ही सुनाना हैं। एक पैरेग्राफ को हृदयंगम करने के पश्चात् आप दूसरा पढ़िए और इस प्रकार आगें बढ़ते जाइये। इस प्रकार आपकी स्मरणशक्ति बहुत बड़ी बन जाएगी। छोटी छोटी व्यर्थ की बातों को आप भूल जाऐगें और जो बातें आप याद रखना चाहतें है, जो बातें आपको याद रखनी चाहिए, वे आपको याद रहने लगेगी।

इस तरह आपकी स्मरण शक्ति का भी विकास होगा और आपकी एकाग्रता भी बढ़ेगी। आप स्वयं अध्ययन करने लगेगे। और दूसरों को भी वे बाते अपनी स्मरण शक्ति से सुनाने लगेगें। इस तरह स्मरण शक्ति के बढ़ने से, तथा मन की एकाग्रता के बढ़नें से आपंकी वाचा शक्ति भी बढेगी। इसके परिणामस्वरूप आप अपने मन के भीतर भी धीरे-धीरे गहरे उतरने लगेगें और आपकी अनुभूति तीव्र बनती चली जाएगी। वह तीव्र होगी तो आप अन्य बातों को भी कह सकेंगे, अन्य अनुभवों को भी व्यक्त कर सकेगें। इस प्रकार से आपके जीवन की अन्य समस्याएँ भी हल हो जाएगी।

इस प्रकार स्वाध्याय करने का अभ्यास यदि आप डाल लेगे तो आपके मन की एकाग्रता बढ़ेगी और आप सच्चे मन से एकान्त सेवन करने लग जायेगे। ऐसी स्थिति में जब आप स्वाध्याय में रत होगे तब आपको किसी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं होगा। उस समय यदि आपके सामने से अनेकों लोग चले जाऐगे तब भी आपकी एकाग्रता भंग नही होगी और आप अपने स्वाध्याय में तल्लीन हो जाऐगे। पुस्तक पाठ के विषय में जिस व्यक्ति की रूचि बन जाती है, वह मानव फिर इधर उधर की किसी बात में उलझना पसन्द नहीं करता। उसे व्यर्थ की बातों में कोई रस नहीं रह जाता। वह तो स्वाध्याय के मधुर और शान्ति प्रदान करने वाले रस में निमग्न हो जाता है।

स्वाध्याय में रूचि जगाने तथा मन को एकाग्र बनाने के लिए ये बड़ें उपाय हैं। यदि इनको साध लिया जाए तो फिर सूक्ष्म उपाय भी और वताये जा सकते हैं। जिस प्रकार से एक वालक वर्णमाला सीखने से आरम्भ करता है और आगे

बढ़ता है उसी प्रकार से इस क्षेत्र में भी समझना चाहिए। मन की एकाग्रता साध लेने के पश्चात् आगे और भी आंतरिक अनुसन्धान की ओर बढा जा सकता है। मार्ग में आने वाली बाधाओं का हल ढूंढा जा सकता है। जो बात कठिनाई की हो, वह यदि याद न रहे तो उसे डायरी नोट किया जा सकता है। और उचित समय पर योग्य व्यक्ति से उसका समाधान ढूंढा जा सकता है।

तो मुख्य बात तो यह है कि मन में दृढ़ संकल्प होना चाहिए तथा भीतर के कोलाहल को समझना चाहिए। मन यदि संकल्पवान हो तथा एकाग्र बने तो इस कोलाहल को समझा जा सकता है। आप इस समय शांति से बैठे है किन्तु इसी समय आपके भीतर कोलाहल हो सकता है। आप उसे शांति नही कर पाते है। तो जब तक वह भीतर का कोलाहल शांत नही होता, तब तक स्वाध्याय में भी मन लग पायेगा।

भीतर का कोलाहल क्या है? यह क्यों उत्पन्न होता है? कौन इसे उत्पन्न करता है। यह किस प्रकार शांत हो सकता है। इन प्रश्नो पर विचार करना चाहिएं।

मन के भीतर इस प्रकार के कीड़े उत्पन्न हो जाते है जो आपकी आत्मा को नचाते रहते है। जिस प्रकार असंयमित खान-पान से मनुष्य के पेट के भीतर कीड़े उत्पन्न हो जाते है और वे उसकी जठराग्नि को मन्द कर देते है तथा अन्न का पचना उससे बन्द हो जाता है जोकि अनेक प्रकार के रोगों का कारण बनता है। उसी प्रकार से मानसिक स्थिति में भी गन्दे विचारों रूपी कीड़े उत्पन्न हो जाते है। वस्तुत वहा कीड़े नही होते किन्तु उपमा वाचक रूप में बुरे विचारों रूपी कीड़े वहा पैदा हो जाते है। वे कीड़े आत्मा को नचाते रहते है, भटकाते रहते है और रोगग्रस्त करके घोर कष्ट देते है। जीव को वे आत्मस्वरूप की ओर नही जाने देते।

तो जिस प्रकार के पेट में पड़े हुए कीड़ो को नष्ट करने हेतु उपचार करना पडता है। डाक्टर या वैद्य से इलाज लेना पड़ता है। उसी प्रकार मनुष्य के आत्मविकास को रोकने वाले बुरे एवं व्यर्थ के विचारों को समाप्त करने हेतु औषधि का सेवन आवश्यक है।वह औषधि है- एकान्त सेवन, एकाग्र प्रक्रिया और गुरु के समीप बैठकर उसको जीवन में साकार रूप देने का प्रयत्न करना। इस प्रकार के आचरण द्वारा वे हानिकर कीड़े नष्ट हो सकते है।

पूर्ण आरोग्य हमारा उद्देश्य है। शारीरिक आरोग्य हमें डाक्टर और वैद्य

प्रदान करते है तो मानसिक आरोग्य प्रदान करने वाले है योग्य गुरु। तथा औषधि है स्वाध्याय एवं एकान्त सेवन। इस प्रकार मानसिक आरोग्य हेतु मानसिक विकारों का शमन करने के लिए हमें अपने जीवन में उपरोक्त चिकित्सा करनी चाहिए। यदि हम यह करेंगे तो इसमें साहजिक योग साधना कार्य करेगी। यह मानसिक चिकित्सा करने के लिए भारतीय संस्कृति में हठयोग, राजयोग, कर्मयोग आदि आठ योग बताये गये है। किन्तु राजयोग, हठयोग आदि में पड़ने पर अत्यन्त सावधानी की भी आवश्यकता है। क्योंकि उसमें खतरा भी बहुत है।

शारीरिक रोग की चिकित्सा करते समय डाक्टर या वैद्य अनेक प्रकार की दवाइयाँ देते है। उनका उद्देश्य यह होता है कि शरीर को हानि करने वाले कीटाणु नष्ट हो, तथा रक्त को शुद्ध करने वाले कीटाणु बढ़े। वैद्य लोग वात-पित-कफ आदि का विचार करके उपचार करते है। तो यदि एक दवा कारगर नही होती तो दूसरी दवा दी जाती है। किन्तु यदि डाक्टर या वैद्य होशियार हो, ज्ञानी न हो, तो मरीज को खतरा भी हो जाता है। अनेक प्रकार के दूसरे रोग उसकी दवा से उत्पन्न हो सकते है।

उसी प्रकार से हठयोग राजयोग त्राटक इत्यादि में भी वही खतरें की स्थिति रहती है। जरा सी भी भूल हो तो मानसिक व्याधि दूर होने के स्थान पर अधिक बढ भी सकती है। किन्तु साहजिक योग प्रकृतिक साधना है। और साहजिक साधना स्वाध्याय और एकान्त सेवन की साधना है। इस साधना में कोई खतरा नही है। इस साधना द्वारा मानसिक झंझावातों मानसिक कोलाहलों और मानसिक कोलाहलों और मानसिक विकारों से मुक्ति पाई जा सकती है। इस प्रकार आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

जो आत्मा अपने सहज स्वरूप को प्राप्त करने में सक्षम हो जाती है, उसे इन कर्मो के विकारों की बीमारी नही लग पायेगी तथा विकारों की बीमारी जिन वैभाविक भावों की लग जाती है तो वह भी दूर हो जाती है। ऐसी स्थिति में ही मनुष्य की आत्मा शांति के क्षणों का अनुभव कर पायेगी। इन शांति के क्षणों में यदि मनुष्य चाहे तो अपना आत्म अनुसन्धान जारी रख सकता है।

इस स्थिति तक जो मनुष्य पहुँच जाता है वह सच्चा एकान्त सेवन कर सकता है। फिर चाहें वह गाजे-बाजों के बीच में बैठा हुआ हो, किन्तु उसकी

साधना वलवती होती है और शुद्ध भाव से वह एकाग्र होकर रहता है।

प्रोफेसर भंसाली का नाम आप लोगों में से बहुतों ने सुन रखा होगा। उनके मन में तीव्र जिज्ञासा जागृत हुई। उन्होनें सोचा कि शांति किस प्रकार मिले और वे शांति की खोज में चल पड़े। शांति की खोज में उन्होंनें कालेज की नौकर छोड़ी परिवार को छोड़ा और जंगल में निकल गये। अनेक बस्तियों में वे घूम फिरें। उन्होनें सोचा कि वोलने से अशांति होती है, तो उन्होने एक लोहे का ता लेकर अपने ऊपर और नीचे के दोनों होठों को सी लिया। अब उन्हें भोजन व ग्रास लेने में भी कठिनाई होने लगी। तो उन्होनें आटा, पानी साग सब इकट्ठ पीसकर काम चलाना आरम्भ किया। कई लोग उन्हें पागल समझने लगे औ उनका मजाक उड़ाने लगे। किन्तु उन्हें जो जिज्ञासा जगी थी, सो वे किसी प्रका की चिंता न करके अपने प्रयोग करते चले गये। यहां तक कि उन्होंने आट छोड़कर केवल नीम कीं पतियाँ चवाकर ही रहना प्रारम्भ कर दिया।

एक बार प्रो. भंसाली महात्मा जी के पास पहुँचे। महात्माजी ने पूछा प्रोफेसर भंसाली! तुम शांति की खोज में हो। इस प्रकार की साधना तुम कर र हो। परन्तु यह तो बताओं कि तुम्हारें मन की एकाग्रता का क्या हाल है? तव प्रो भंसाली ने उतर दिया कि- महात्माजी! मैं अपने मन को एकाग्र कर सकता हूँ जव मै अपने मन को केन्द्रित कर देता हूँ तो मेरे आस पास चाहें जितना भी शो हो, गाजे वाजे चाहे जितनी जोर से वजें लेकिन उससे मेरा ध्यान तनिक भ विचलित नही होता। तो मन की एकाग्रता तो मैंने इतनी प्राप्त कर ली, लेकिन म अभी सधा नही है।

वन्धुओं! मन की एकाग्रता की शक्ति प्राप्त होने से मन सध ही जाता ह ऐसी वात नहीं है। एकाग्रता करने वालें तो वहुत से मिल जाऐंगे, किन्तु जिनक मन पूर्णरूप से सध गया हो, ऐसे व्यक्ति वहुत कम मिलेंगे। आप लोग भी कभ कभी अपनी रूचि के विषय में जो वात हों, उसमें वहुंत एकाग्र हो जाते है औ आस-पास की दुनिया को भूल जाते है। जैसे कि रोकड खतानें का प्रसंग हो औ हिसाव वरावर मिल नही रहा हो और आपको इनकम टैक्स वालों के आने क चिन्ता हो, तो आप सव कुछ भूलकर अपनी रोकड़ में डूव जाते हो, पूर्ण रूप एकाग्र जाते हो। यदि आपको उस समय कोई आवाज भी लगाये तो आप न

सुनोगे। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि आपका मन उतना सध गया है। या आपके चित की शुद्धता हो गई है। एक डाक्टर भी ऑपरेशन करते समय एकदम एकाग्र हो जाता है और ऑपरेशन हो जाने के बाद सब कुछ भूल जाता है। किन्तु इससे ऐसा नही माना जा सकता कि उसके चित की शुद्धि हो गई है।

अस्तु, इन साधनों से मन की एकाग्रता तो साधी जा सकती है परन्तु वह एकाग्रता ही सब कुछ नही होती। वही सब कुछ बन जाएगी ऐसी नही मानना चाहिए। इस एकाग्रता की प्राप्ति करके मन के रोगों को धोने का प्रयत्न करना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति शुद्ध अवलं बन का सहारा लेता है वह अपने विकारों को धोने में सफल होता है।तथा अपनी स्थिति को वह ठीक बना सकता है। लक्ष्य स्थिर होना चाहिए। जब तक एक लक्ष्य स्थिर नहीं किया जाता, तब तक कितनी भी एकाग्रता की जाए किन्तु उससे कोई लाभ नहीं होता। उस एकाग्रता से साधन तो जुटाए जा सकते है लेकिन आत्म स्वरूप की शुद्धि उससे नही आ सकती। प्रोफेसर भंसाली ने भी महात्माजी को बताया कि एकाग्रता तो उनको प्राप्त हो गई, किन्तु जिह्वा का संयम अभी उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। मन अभी सधा नहीं। स्वाद लेने की इच्छा अभी मरी नहीं । वे संस्कार अभी दूर नहीं हुए।

अतः जब तक मन इन्द्रियों के वश में होकर चलता है, तब तक मन आत्मा के परमानन्द का स्वाद प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह तो पुदगलानदी बना हुआ है। यह बात आत्मा के लिए हितावह नहीं है। तो जब प्रो भंसाली ने कहा कि मै अपनी स्वादेन्द्रिय को जीत नहीं पाया हूँ तब महात्माजी ने कहा कि भाई आप तो नीम के पते खाते है, तब यह बात कैसे कहते है कि आपके स्वादेन्द्रियों को नही जीता? लोग तो नीम की पतियॉ खाना पसन्द नही करते। तब प्रो. भंसाली ने कहा कि मैं नीम के पते खाता अवश्य हूँ किन्तु मन में इच्छा रहती है कि कड़वे नीम के पते न मिलें और मीठे नीम के पत्ते मिलें। तो इस प्रकार एकाग्रता तो उन्हें प्राप्त हुई किन्तु स्वादेन्द्रिय पर विजय प्राप्त नहीं हुई।

बन्धुओ! मैं जब छतीसगढ़ की ओर गया तो आश्रम के बाहर ठहरने का प्रसंग आया। और जब प्रो. भंसाली को सूचना मिली तो उन्होंने संदेश भेजा कि मैं अस्वस्थ हूँ। स्वयं उपस्थित होने में असमर्थ हूँ। अतः महाराज! आप कृपा

करके दर्शन दें। तो मै वहां पहुंचा। मैंने देखा कि उनके विषय में मैंने जो-जो बातें सुन रखी थी। वे सव ठीक थीं और उनकी कथनी करनी में अन्तर नहीं था। यह एक वहुत वड़ा गुण व्यक्ति में होना चाहिए कि उसकी कथनी और करनी में अन्तर न हो।

तो मैं आपको वता रहा था कि अपने मन को साधने के लिए यदि आप एकान्त सेवन करेंगे तो आपको किसी गुफा या जंगल में जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसके लिये तो अपनी आत्मा की गुफा में प्रवेश करना चाहिए। ऐसी स्थिति में वन जाऐगी तव आप अपने मन के भीतर के कोलाहल को समझ पाएंगे और प्रयत्न करके उसे त्याग भी सकेंगे। जिस प्रकार अनाज में कंकर बीन-बीनकर फेंक दिए जाते हैं और अनाज को शुद्ध वना लिया जाता है, उसी प्रकार मन के भीतर के कोलाहल के कारणों को एक-एक कर विनष्ट किया जा सकता है। मन का धरातल इस प्रकार से शुद्ध बन जाता है।

किन्तु यह स्थिति तभी आ सकती है जबकि आपका ध्यान सद्गुणों की ओर केंद्रित हो। ऐसा सद्गुण ग्रहण का लक्ष्य जव बन जाता है तब मनुष्य चाहे गृहस्थाश्रम में हो, चाहे सामाजिक क्षेत्र में कार्य कर रहा हो अथवा राष्ट्रीय या पूर्ण विश्व स्तर पर कार्यरत हो, किन्तु लक्ष्य स्थिर हो जाने पर वह सभी स्थानों पर अपने जीवन में गुरु देखता है और आध्यात्मिक रोगों को हटाकर आत्मा को ज्योति जगाने में सफल हो जाता हैं इसके विपरीत जो व्यक्ति शिशुपाल जैसे भाव रखता है, वह अपने जीवन में आत्मज्योति जगाने में कभी सफल नहीं हो सकता। ऐसी ही वात चरित्र की दृष्टि से भी माननी चाहिए।

वन्धुओं! जो व्यक्ति ऐसा लक्ष्य स्थिर कर लेता है और अपने ध्यान को गुणों पर केन्द्रित कर देता है और उसकी प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्न करता रहता है, वह अपने जीवन की सारी विषम स्थितियों को एक ही प्रकार से समाहित कर पाता है। प्रत्येक वात का विचार उसे गुणों से ही करना चाहिए। गुणों का गज वनाकर ही प्रत्येक वस्तु को नापना चाहिए। शरीर, वस्त्राभूषण अथवा सम्पति इत्यादि की दृष्टि से विचार नहीं करना चाहिए। ये वस्तुएं तो गौण हैं, प्रमुख वस्तु तो गुण ही हैं। जो भी व्यक्ति ऐसा पैमाना वनाकर चलता हैं वह अपने जीवन में सफल होता है।

तो महाराज भीम नरेश की सभा में संसार के क्षेत्र का प्रश्न उपस्थित हुआ था तथा राजकन्या के लिए योग्य वर की खोज का प्रसंग चल रहा था। इस प्रसंग में वर में क्या-क्या गुण होने चाहिए, ऐसा विचार किया जा रहा था। राजा के मंत्री ने एक बड़ा उद्देश्य सभा के समक्ष रख दिया था कि वर में क्या-क्या गुण होने चाहिए? इसका पूर्ण विचार करके ही हमें राजकन्या के लिए वर निश्चित करना चाहिए, ताकि गुणवान पुरुष के साथ ही राज कन्या का सबंध हो और उनका जीवन, उनका लोक परलोक, आनन्दमय बने। तो कल एक श्लोक रखा गया था और उसमें से एक-दो गुणों पर ही विचार हो सका था। श्लोक इस प्रकार था-

"कुलं च शीलं च ....
वरे गुणा सप्त विलोकनीयाः।"

कुल एवं जाति के विषय में कल चर्चा हुई थी। उसके साथ ही शील के गुण भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। शील की व्याख्या आपके सामने बड़े रूप मे आ रही है। इसका संबंध सीधा ब्रह्मचर्य से अंकित किया जाता हैं जिसने ब्रह्मचर्य का व्रत लिया हुआ है वह शील के गुणवाला कहलाता है। विवाहित होने के पश्चात् भी यदि यह व्रत लिया जाता है तो वह प्रशंसनीय है तथा विवाह से पूर्व तो प्रत्येक व्यक्ति को शील व्रत धारण करके रहना ही चाहिए।

भारतवर्ष में प्राचीन समय में और अभी कुछ समय पूर्व तक गुरुकुलों में, आश्रमों में छात्रों को शिक्षा दी जाती थी। आयु के पच्चीस वर्ष तक वहां रहकर पूर्ण बह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने का प्रावधान था। वहां के शिक्षक भी शील और चरित्र में निष्ठावान होते थे और छात्र भी उनका अनुसरण पूर्ण रूपेण करते थे। तो उन गुरुकुलों से जो छात्र स्नातक होकर निकलते थे वे समाज में शुद्ध हीरों की भांति दमकते थे और उनके उज्जवल चारित्रिक प्रकाश से समाज भी आलोकित होता था। किन्तु आज इन गुरुकुलों तथा उस शिक्षा प्रणाली का नाम मात्र शेष रह गया है। अब तो स्कूल तथा कॉलेजों में जो शिक्षा प्राप्त करके छात्र और छात्राएं समाज में आते हैं, उसे देख-देखकर घोर निराशा तथा गहन आत्म-पीड़ा ही होती है।

तो बन्धुओ! हमे गुणों की तलाश है। ऐसे व्यक्तियों की तलाश है जिनमें

कि एक सच्चे मानव के गुण विद्यमान हों। महाराज भीम नरेश की कथा के आधार से हम यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि एक योग्य पुरुष अथवा महिला में, अर्थात् वर में और वधू में क्या-क्या गुण होने चाहिए। हमने विचार किया है कि सत्ता और सम्पति पर ध्यान न देकर जब वर की तलाश की जाए तो उसके गुणों पर ही ध्यान देना चाहिए। चरित्र को ही प्रमुखता देनी चाहिए। यदि उत्तम चरित्र ही नहीं है तो शेष दूसरी बातें निरर्थक और आत्मघाती है।

अतः कन्या के लिए वर का निश्चय करते समय यह देखना चाहिए कि उसका चरित्र उज्ज्वल हो। वह कुसंगति में पड़ा हुआ न हो। दृढ़ता के साथ इन गुणों को देखकर कन्या का सम्बन्ध किसी पुरुष से करना चाहिए। यदि हमारी बहिनें इस बात का निश्चय कर ले तो समाज में तथा संसार में परिवर्तन आ सकता है किन्तु ऐसा निश्चय लेकर कौन चल सकता है? यह निश्चय लेकर वही चल सकता है जिसे कि आध्यात्मिक ज्ञान है। अन्यथा भौतिकता के पीछे पड़े हुए लोग, भाई या बहिन, उस निश्चय को लेकर नहीं चल सकते। वे तो सांसारिक प्रलोभनों में पड़कर स्वयं अपना तथा अपने पुत्र-पुत्रियों का कल्याण ही करेंगे।

उदयपुर में दो बहिनों ने अपने माता-पिता से स्पष्ट कहा कि आप हमारा विवाह करें तो दहेज में एक पैसा भी न दे। कृपया भिखमंगों के घर हमें न भेंजे। हम जीवन भर कुवाँरी रहना पसन्द करेंगी, किन्तु दहेज माँगने वाले भिखारियों के घर नहीं जाएगी। बन्धुओ! यह हुआ साहस एवं संकल्प का कार्य। ऐसी वहिनें धन्य है। यदि समाज में इसी प्रकार से वहिने साहस और विवेक का परिचय दें तो समाज के सुधरने की आशा बन जाती है। उन वहिनों के पिता व्याख्यान के बाद मेरे पास आए और यह प्रसंग रखा और कहा कि मैं उन्हें दहेज लेने तथा देने का त्याग करा दूँ। तो मैंने उनसे कहा कि आप लेने का त्याग तो कर सकते हो, किन्तु दहेज देने का त्याग करके किस प्रकार चला सकेंगे? आपकी कन्याओं के विवाह के प्रसंग पर क्या स्थिति बनेगी? तो उस भाई ने कहा कि उनकी कन्याएँ अपने निश्चय में दृढ़ हैं। वे आजन्म कुमारी रह लेंगी, किन्तु दहेज लेने वाले के घर नही जाएगी।

तो यह एक अच्छी वात है, दहेज की दृष्टि से। आप सभी को ऐसा शुभ निश्चय करके चलना चाहिए जिससे समाज की हमारों और लाखों कन्याओं का

जीवन बरबाद होने से बच सके।

अब हम आगे बढ़कर विचार करें कि शील की दृष्टि ब्रह्मचर्य की दृष्टि से है। परन्तु स्वभाव भी सरल होना चाहिए। जिसका स्वभाव आध्यात्मिक दृष्टि वाला हो तो वह शील वृत्ति का है। चरित्र ठीक हो, किन्तु आध्यात्मिक स्वभाव न हो, तो वहाँ भी आगे जाकर शान्ति नहीं मिल सकती है। इसी प्रकार अपनों से बड़ों के अनुशासन में रहने का गुण भी व्यक्ति में होना चाहिए। जिसका जीवन अनुशासनबद्ध होता है वही चरित्र सम्पन्न बन सकता है। किन्तु जिसका जीवन अनुशासन में नहीं और जिसके सिर पर बड़ों का वरदहस्त न हो, उसके जीवन में उद्दंडता आ जाती है।

इसी प्रकार विद्यवान होना भी आवश्यक है। विद्या का अर्थ केवल अक्षरीय ज्ञान से नहीं हैं। अथवा पेट भरने के कला सीख लेना ही विद्यावान बन जाना नहीं है। विद्या तो आत्मा के हित के लिए होनी चाहिए। कहा गया है-

"सा विद्या या विमुक्तये।"

विद्या वही है जो मुक्त करे। अतः जब हम किसी पुरुष के गुण-दोषों पर विचार करें, तब हमें इस बात का भी ध्यान करना चाहिए।

हाँ, यह भी देखना चाहिए कि उसके पास सम्पत्ति है अथवा नहीं। किन्तु यह सम्पत्ति का देखा जाना उस दृष्टि से होना चाहिए कि वह उस सम्पत्ति का उचित और सदुपयोग करता है कि नहीं।

इसके अतिरिक्त शारीरिक स्वस्थता तथा वय की समानता भी अवश्य देखी जानी चाहिए। वय की दृष्टि से बेमेल सम्बन्ध कदापि नहीं किया जाना चाहिए। जहाँ इस प्रकार के बेमेल सम्बन्ध होते हैं वहाँ नारकीय स्थिति देखी जाती है। तथा बीमारियों के सताने पर सारा जीवन आर्त-रौद्र ध्यान में बिताना पड़ता है। अतः इन विषयों पर अवश्य की पूर्ण विचार करके ही कोई सम्बन्ध स्थिर करना चाहिए।

स्वर्गीय आचार्य श्री फरमाते थे कि एक साठ वर्ष के बुढ़े ने अपना सातवाँ विवाह करने का निश्चय किया। यह तो पैसे का, स्वार्थ का, ऐन्द्रियता का युग हैं। पैसे के बल पर मनुष्य पचासों अकरणीय कार्य करा लेता है। उस बुढ़े ने भी अपने पैसे के बल पर दलाल तैयार किए। दलालों की इस दुनिया में क्या कमी है? आपके पास पैसा होनां चाहिए। रत्नों और कोयले की दलाली करने वाले हजांरों मिल जाऐंगे। हाँ, सामायिक, पौषध व्रत आदि धर्म कार्य कराने वाले दलाल आपको नहीं मिलेंगे।

तो उस बुढ़े ने दलालों को पैंतीस हजार का ठेका दिया और लड़की ढूँढ़ने के लिए कहा। लड़की के लिए जितना भी खर्च हो उसकी कोई चिन्ता नहीं थी। दलाल एक गाँव में पहुँचे। वहाँ एक विधवा की कन्या से उस बुढ़े का सम्बन्ध उन्होंने जोड़ा और विधवा को फुसलाया कि तेरी लड़की करोड़पति के घर में चली जाएगी, जेवरों से लदी रहेगी, सुख पाएगी। बेचारी विवश विधवा इन वातों की जाल में तथा पैसे के लोभ में फँस गई।

जब यह बात गाँव के सुधारक वर्ग को मालूम हुई तो उन्होंने जाकर विधवा को वहुत समझाया किन्तु वह लोभ में पड़ चुकी थी इसलिए मानी नहीं इन सुधारक वर्ग ने कन्या को समझाया तो वह मान गई और उसने उस बुढ़े से विवाह करने से इन्कार कर दिया। सुधारक वर्ग ने उस कन्या के लिए कोई दूसरा गरीव किन्तु योग्य वर खोज दिया।

बुढ़े ने जव एक शिकार हाथ से निकल गया तो दूसरा खोजा। किसी दूसरी गरीव कन्या के सामने आभूषणों और मिठाइयों-वस्त्रों के ढेर लगा दिए और उससे विवाह कर लिया। वेचारा वह सुधारक वर्ग, वे आदर्श युवक उस भयानक सामाजिक हिंसा को नहीं रोक पाए। वन्धुओ! यह कितने दुःख कि वात है? यह कैसा अधार्मिक जीवन है? आप लोग ऐसे कार्यों का विरोध भी नहीं करते। माताएँ एक बुढ़े के विवाह में गीत गाने के लिए तैयार हो जाती हैं और जरा से वताशों के लालच में एक युवती कन्या का जीवन वरवाद होता हुआ देखती रहती है। भाई लोग वारात में जाने को तैयार हो जाते है। और थोड़े से पकवानों के लोभ को नहीं जीत सकते।

वन्धुओ! आपको सावधान हो जाना चाहिए। इस प्रकार के वेमेल विवाहों को हरगिज प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। आपको दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि जहाँ गुणवान का गुणी से सम्बन्ध हो, समानवय वालों का उचित सम्बन्ध हो, उन्हीं में आप सम्मिलित होंगे। जहाँ आध्यात्मिक दृष्टि का मेल है, उन्हीं में आप हिस्सा लेंगे। किन्तु जहाँ वेमेल स्थिति है, वहाँ आपको हरगिज नहीं जाना चाहिए और मिठाई लेकर अन्याय और अनीति को प्रेरणा नहीं देनी चाहिए।

[illegible]

उदाहरण उपस्थित करते हैं तथा आध्यात्मिक भावना को कितना अंगीकार करते हैं। समय ही बताएगा कि इनमें से आप कितना कुछ कर पाते हैं और कितना नहीं। आपको चाहिए कि मनुष्य तथा समाज के लिए जो हानिकर प्रथाएँ है उनका आप त्याग करें तथा अपने जीवन में गुणों का विचार करके आगे बढ़े। गुणों का मापदण्ड ग्रहण करके ही आप अपनी स्थितियों का मूल्यांकन करें।

रूक्मिणी का प्रसंग चल रहा है। वर की खोज में उपरोक्त सात गुणों को देखना आवश्यक है। जो संरक्षक इन गुणों पर ध्यान देते है वे ही अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, आगे तो जैसा जिसका भाग्य। किन्तु कर्तव्य का पालन हम सभी को करना चाहिए, जिससे कि हमारे जीवन का भार हल्का हो सके। मनुष्य से सम्बन्ध बड़ा महत्वपूर्ण होता है। पशुओं की भाति बिना विवेक के यह सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिए।

तो मंहाराज भीम नरेश की सभा में जब यह प्रसंग चला औंर विद्वान मंत्री ने वर के गुणों का विश्लेषण किया तो सारी सभा मंत्रमुग्ध हो गई। मंत्री ने तब राजा से कह कि राजन्! मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार जो बात है आपके समक्ष रखी है। अब आप राजकन्या के लिए किस सुयोग्य वर का निश्चय करते हैं यह बताइये। राजा ने उत्तर दिया-"मंत्रिवर!आप विवेकवान है। यह उत्तरदायित्व अकेले मेरा ही नहीं है। आप सब लोग अपने विचार बताइये कि किस पात्र में ये सब गुण-विद्यमान है और किसके साथ राजकन्या का सम्बन्ध करना उचित होगा।

तब मंत्री ने कहा कि राजन्! आप अनुभवी है। हम लोगों का दीर्घ अनुभव नहीं है। अतः आप संकोच रहित होकर बताइये कि किस पात्र को आप राजकन्या के योग्य समझते है। आप विशाल हृदय से निसंकोच होकर अपना मन्तव्य हमारे सामने रखिए। आप सरल हृदय वाले है, सरल हृदय से आप अपनी बात कह दीजिए तथा किसी प्रकार संकोच मत करिए।

बन्धुओ! गाँधी जी भी जो बात ठीक समझते थे, वह सरल और शुद्ध हृदय से लोगों के सामने रख देते थे। कभी-कभी लोगों को वह बात समझ में नहीं आती थी तो गाँधी जी अपनी बात का आग्रह नहीं करते थे और सबकी सम्मति से कार्य करते थे। फिर कुछ समय में ठोकर लगती थी तब लोगों को गाँधी जी का

वात की सचाई मालूम पड़ती थी और वे उनके कहे अनुसार व्यवहार करने लगते थे। इसी प्रकार से आप लोगों को भी अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करना चाहिए और हमेशा अपनी ही बात का आग्रह लेकर नहीं चलना चाहिए। यदि आप ऐसा दुराग्रह की स्थिति छोड़ देंगे तो समाज और राष्ट्र आगे बढ़ेगा।

तो मंत्री की बात सुनकर राजा भीम ने कहा कि भाई, सभी स्थितियों का विचार करके मैं तो द्वारकाधीश श्रीकृष्ण को अपनी कन्या के लिए योग्य वर मानता हूँ। अव मैंने अपना विचार आपके सामने रखा है। आप आगे अपने विचार कहें।

इस प्रकार से राजा ने अपनी बात कह दी। अब राजा की बात सभासदों में से किसे पसन्द आती है और किसे नहीं आती, यह आज के लिए भावी के गर्भ में रहना चाहिए।

अभी तो मैं इतना ही कहूँगा कि आप अपने जीवन में आध्यात्मिक दृष्टि लेकर चलें और अपनी बुद्धि रूपी रुक्मिणी के लिए कैसा वर ढूँढ़ना चाहते हैं यह विचार करें।

-इत्यलम्।

सूत्र, अर्थ और चिन्तन

असंख्यं जीविय या पमायए
शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना
शांति जिन एक मुझ वीनती

इस कविता के माध्यम से भगवान शान्तिनाथ के चरणों में आन्तरिक जिज्ञासा व्यक्त की गई है। वह जिज्ञासा है शान्ति के स्वरूप को समझने की। विवेकशील भक्त, ज्ञानी भक्त ज्ञान के जरिए से प्रभु की प्रार्थना करता है। उसमें अन्धश्रद्धा नहीं होती। जिसके मस्तिष्क का विवेक रूपी दीपक प्रज्वलित हो रहा है वह कभी भी अन्धश्रद्धा के योग में प्रार्थना नहीं करेगा। अपने और पर के स्वरूप को ध्यान में रखते हुए, परमात्मा की शक्ति और आत्मा की शक्ति को तुलनात्मक दृष्टि से देखता हुआ वह प्रार्थना भी करता है तो उस स्वर का द्योतक करता है कि जिससे वस्तुतः इस आत्मा का स्वरूप अभिव्यक्त हो सके।

इस प्रार्थना की कड़ियों में शान्ति के स्वरूप को पहिचानने का प्रयत्न किया गया है, न कि शान्ति के खजाने को माँगने का प्रयास। क्योंकि जो व्यक्ति शान्ति के स्वरूप को ही नहीं पहिचानेगा वह शान्ति को प्राप्त कर ही कैसे सकता है? रत्नों की परीक्षा ठीक प्रकार से कर सकने के लिए व्यक्ति को स्वयं जौहरी बनना पड़ता है। दूसरों के सहारे चलने से वह इस विद्या की गहराइयों में नहीं उतर सकता। उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से भी आध्यात्मिक दृष्टि का जौहरी स्वयं आध्यात्मिक शान्ति की याचना न करता हुआ शान्ति के वास्तविक स्वरूप को जानने का ही प्रयास करेगा। यही सीधा मार्ग है। जिन-जिन लोगों ने यह मार्ग अपनाया है वे अपनी मानसिक स्थिति से ऊपर उठे है।

रजोगुण, समोगुण और सतोगुण- इन तीनों गुणों की व्याख्या अभी आपके सामने विस्तार के साथ नहीं रख रहा हूँ, किन्तु जिसमें इन तीन गुणों का संचार है वह व्यक्ति भी इस आध्यात्मिक दृष्टि का खरा जौहरी नहीं बन सकता है। इन तीन गुणों में यद्यपि तारतम्य है- तमोगुण निकृष्ट स्थिति का है, रजोगुण इससे थोड़ा हल्का है और सतोगुण सात्विक प्रकृति का द्योतन कराने वाला है परन्तु फिर भी ये तीन गुण मन के विभाव की प्रकृतियों को द्योतन कराने वाले है। इन तीन गुणों में जो उलझा रहता है, वह शान्ति के दिव्य तेज को नहीं पा सकता है। जिन-जिन महापुरुषों ने इन गुणों की दृष्टि से मानव को कुछ संकेत दिया है उसमें भी यही निर्देश दिया है कि- "गुणातीतः भवार्जुन!"- गीता में कहा गया है कि हे अर्जुन! तू तीन गुणों में रमण मत कर, किन्तु तू तीन गुणों से ऊपर उठ। इससे तुझे ऊपर की भूमिका का ज्ञान होगा।

वीतराग देवं के मुखारविन्द से जो गाथा अभिव्यक्त हुई और गणधरों ने जिसे गाथा का रूप दिया, उसमें भी यही संकेत दिया गया है कि-"तस्सेस मग्गो .....।" इस गाथा की व्याख्या और शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना की कविता की व्याख्या जव से यहाँ आया हूँ, तभी से कुछ कर रहा हूँ। किन्तु दिव्य पुरुषों द्वारा वीतराग देव की दृष्टि में रहते हुए जो आदेश दिए है, उनमें अद्भुत खजाना भरा हुआ है। उस खजाने में से अनमोल रत्न एक अपूर्ण व्यक्ति पूरी तरह से नहीं निकाल सकता। पूर्ण ज्ञानी व्यक्ति ही इस व्याख्या को पूर्ण रूप से कर सकते हैं। लेकिन जितना सम्भव हो उतना अपनी वुद्धि का प्रसार करने का प्रयत्न हमें भी करना ही चाहिए।

एक व्यक्ति तीव्र गति से चल सकता है, दूसरा मन्द गति से। किन्तु मन्द गति से चलने वाले व्यक्ति को तीव्र गति से चलने वाले व्यक्ति को देखकर हतोत्साह नहीं होना चाहिए। उसे अपनी गति से अपनी क्रिया करते रहना चाहिए और वह यदि चलता रहेगा तो अपनी मंजिल पर अवश्य पहुँचेगा। गरुड़ पक्षी आकाश में बहुत ऊँचा उड़ता है। उसके पंखों में इतनी शक्ति है। उसकी तुलना में एक मच्छर तो कहीं भी टहर नहीं सकता। लेकिन मच्छर भी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार एक मंजिल या दो मंजिल की ऊँचाई तक उड़ता है। इसी प्रकर इन भारतीय गाथाओं का अर्थ हम उस विराट् पुरुषों के समान न कर सकें, किन्तु

अपनी शक्ति के अनुसार चिन्तन तो करना ही चाहिए। हमारा यह चिन्तन धीरे-धीरे आगे बढ़ेगा तो एक दिन शान्ति के स्वरूप को हम पहिचान सकेंगे।

कल मैंने स्वाध्याय और "एकान्त निसेवणीये" इस शास्त्रीय गाथा पर विवेचन किया था। इसकी भी लम्बी-चौड़ी व्याख्या है, किन्तु उतनी गहराई में अभी अपने श्रोताओं को नहीं ले जाऊँगा। अभी तो जितनी व्याख्या हुई है उतनी ही हृदयंगम हो जाए तो आगे का भी प्रसंग आ सकता है। आगे प्रसंग आया कि- "सुत्तट्ठ ...।" - सूत्र और अर्थ, इनका चिन्तनपूर्वक अध्ययन करके विकास किया जाए। अर्थात् सूत्र मूल रूप में है और उनके अर्थ- शब्दार्थ, भावार्थ, निर्युक्ति, भाष्य, व्याख्या आदि है- तो इनका अनुसंधान करते हुए मनुष्य को अग्रसर होना चाहिए। उससे जो बौद्धिक प्रतिभा उत्पन्न होगी, उसके सहारे वह विशाल और व्यापक स्वरूप से शान्ति के दर्शन कर पाएगा।

मनुष्य के पास जो चर्म-चक्षु है, उनकी शक्ति की सीमा है। इन चर्म-चक्षुओं से उस शान्ति के स्वरूप को नहीं देखा जा सकता। आप कितनी भी शक्ति लगाएँ, किन्तु ये चक्षु तो स्थल पदार्थों को ही देख सकते हैं, सूक्ष्म स्वरूप को देख पाना इनकी शक्ति से परे की बात है। कवि आनन्दघन जी ने अजितनाथ भगवान की स्तुति करते हुए संकेत किया है कि समग्र संसार को इन चमड़े की आँखों से देखते-देखते मनुष्य भगवान का मार्ग भूल गया है। अतः जब तक वही भीतर के नेत्रों को, अन्तश्चक्षुओं को नहीं खोलेगा तब तक वह भगवान के स्वरूप को नहीं देख सकेगा। अतः मनुष्य को दिव्य विचार रूपी अपनी अन्तदृष्टि का विकास करना चाहिए।

वह आन्तरिक दिव्यदृष्टि इन चमड़े की आँखों के रहते कैसे प्राप्त होगी? शास्त्रकारों ने उसके लिए निर्देश किया है कि सत्-शास्त्रों का अध्ययन व चिन्तन करने से ही वह विशाल एवं उन्नत दृष्टि प्राप्त होगी तथा अन्तर्नयनों के पट खुलेंगे। इन सूत्रों का गुणगान एवं व्याख्या कहाँ तक की जाए? आज के इस विषैले संसार में जो भी यत्किचित् शान्ति हमें प्राप्त हो रही है यह इन्हीं सूत्रों की बदौलत ही है। इन सूत्रों का उद्गम स्थान वीतराग दृष्टि का पुण्य स्रोत है और उसके पश्चात् लिपिबद्ध होने के बाद आचार्यों की कुशल कला के कारण धारा प्रवाह रूप में उन मूल सूत्रों की स्थिति चली आ रही है। कालक्रम के अनुसार अनेक कारणों

से उन सूत्रों का वहुत सा भाग विनष्ट भी हो गया है। उदाहरण के लिए वारह वर्षीय दुष्काल के समय में कुछ सूत्र विलुप्त हो गए, किन्तु फिर भी जितने भी सूत्र आज उपलव्ध हैं, उनमें जितनी भी सारगर्भित सामग्री है, यदि उसे ही ठीक प्रकार से हृदयंगम करके मनुष्य चले तो वह अपने जीवन को परिपूर्ण बना सकता है। अव भी ग्यारह अंग गणधरों की वाणी के रूप में, तथा मूल शास्त्रों की दृष्टि से दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों का भी सूत्र एवं अर्थ के साथ चिन्तन किया जाए तो जीवन का विकास किया जा सकता है। परिपूर्ण जीवन की प्राप्ति की जा सकती है।

आप प्रश्न कर सकते है कि महाराज! वीतराग देव ने विराट् सूत्रों के भावों की व्याख्या की, तव आप अध्ययनों के समग्र जीवन की व्याख्या करने की वात कैसे कह रहे हैं? क्या इन चार अध्ययनों में चौदह पूर्वों का सार आ गया?

वन्धुओ। आप चार यदि गहरी दृष्टि से तनिक विचार करेंगे तो यह वात समझ सकेंगे। चार अध्ययन तो वैसे भी वहुंत हैं, किन्तु कोई समझने वाला हो तो नमस्कार मंत्र के पाँच पदों में ही चौदह पूर्वों का सार निहित है। इसे देखने-समझने के लिए केन्द्रित विचार एवं बुद्धि चाहिए। एक वैद्य सैकड़ों प्रकार की जड़ी-वूटियाँ इत्यादि लेकर एक विशेष रसायन तैयार करता हैं। रोगियों के उपचार हेतु वह वैद्य उस रसायन में से आवश्यकतानुसर एक या अधिक रत्ती भर देता है। उससे रोग दूर होते है। तो आप वताइये कि उस रसायन में उन तमाम सैकड़ों जड़ी-वूटियों-औपधियों का समावेश है कि नहीं? उसी प्रकार इन पदों में उन तमाम सूत्रों का सार समाविष्ट है। उस सार को यदि हम पूरी समझदारी और विवेक से ग्रहण करलें तो हमारे उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है।

आवश्यकता इतनी ही है कि इन सूत्रों का चिन्तन सूत्र के तरीके से होना चाहिए। मन सूत्रों के सार पर ही केन्द्रित रहना चाहिए। उसे संसार के वात्याचक्रों में भ्रमित नहीं होना चाहिए। आज शास्त्रों की जो मूल स्थिति है, उस मूल स्थिति को भी ओझल करने के लिए यदि व्यक्ति कहे कि यह तो मूल वाणी प्रभु की नहीं है तो ऐसा कहना योग्य नहीं हैं। मूल सूत्रों की कसौटी यही है कि उनके सहारे व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन की समस्त प्रक्रियाएँ कर सकता है और आत्मा की स्थिति ठीक वना सकता है। वह आत्मा की स्थिति ठीक वन सके, उसी दृष्टि से मैं सूत्र, अर्थ और चिन्तन के विषय में कुछ विश्लेषण कर रहा हूँ।

सूत्रों में जो कथन हैं तथा उनका जो अर्थ किया जाता है, उसके सम्बन्ध में कभी-कभी लोग शंका खड़ी करते हैं। उदाहरण के लिए सूत्रों में यह वर्णन आया है कि जो भी शब्द हम बोलते हैं, वह समस्त ब्रह्माण्ड में- लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक- व्याप्त हो जाता है। शताब्दियों पूर्व इस सत्य को हमारे सूत्रकारों ने जान लिया था। किन्तु आज से कुछ ही समय पूर्व तक यदि यह बात जन-सामान्य को कही जाती थी तो वह, तेरे व्यक्ति इस पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं होते थे, उल्टे मजाक उड़ाने के लिए तैयार हो जाते थे। किन्तु आज जब वैज्ञानिकों ने वायरलैस आदि का आविष्कार करके यह बात सिद्ध कर दी है, तब सब लोग सहज ही इस बात पर विश्वास करने लगे है। इसी प्रकार की स्थिति अनेक शास्त्रोक्त बातों के विषय में है। अज्ञानी जन ऐसी वहुत सी बातों की हँसी उड़ाते दिखाई देते हैं जो कि उनकी स्थूल, सांसारिक, मोटी बुद्धि में नहीं समाती हैं, ग्रहण नहीं की जाती है। किन्तु किसी के द्वारा अपनी आँखे वन्द कर लेने से जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश लुप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार शास्त्रों-सूत्रों का कथन भी चिरकाल के लिए सत्य है और बना रहेगा, चाहे हमारी बुद्धि उसे स्वीकार करने की सामर्थ्य रखती हो अथवा नहीं।

अतः श्रद्धालु एवं विवेकवान जन को ऐसा मानना चाहिए कि हमारी बुद्धि अभी इतनी गहरी नहीं है कि वीतराग प्रभु ने जो वाणी रखी है, जो तथ्य उद्घाटित किए है, उन्हें पूर्ण रूप से समझ सके। तो हमें अपनी बुद्धि का विकास होना चाहिए और सूत्रों का अध्ययन तन्मयता एवं श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। जिस प्रकार से एक स्थान पर उच्चारित किये गये शब्दों को ब्रह्माण्ड में किसी भी स्थान पर और अनेक स्थानों पर एक ही साथ सुना जा सकता है, यह बात वैज्ञानिकों ने साकार कर दी है, उसी प्रकार से शास्त्रों के अन्य कथनों की सच्चाई भी हम जान सकते हैं, यदि हम अपने ज्ञान का विस्तार करते चले जाए तो।

एक उदाहरण देता हूँ। दस मन चावल पक रहे हों तो उनमें से चावल के एक दानें को देखकर यह मालूम किया जा सकता हैं कि सारे चावल पक गये हैं अथवा नहीं। इसी प्रकार सूत्रों के कथनों पर भी विचार किया जाना चाहिए और उनमें श्रद्धा रखनी चाहिए। सूत्रों की वाणी में अनेक रहस्य आज विज्ञान के द्वारा जाने तथा प्रमाणित किये जा चुके है। ज्ञान का विकास होता रहता है और होता

रहना चाहिए। शेष रहस्यों का भी उद्घाटन अवश्य होगा। आवश्यकता इतनी ही है कि इस सूत्रों और उनके अर्थ का चिन्तन हम दृढ़ श्रद्धा के साथ भीतर की वृद्धि से निर्मल वनकर करें। यदि हम ऐसा कर सकेंगे तो शान्ति के स्वरूप को समझ सकेंगे। जिन आत्माओं ने इस स्वरूप को पाया है वे अपनी वुद्धि को सार वनाकर चल रहे है। अतः हमें भी गहरी दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए।

वन्धुओ! भीम नरेश ने राजकन्या रुक्मिणी के भावी जीवन पर विचार करते हुए सभा के सामने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि मैं त्रिखंडाधिपति वासुदेव कृष्ण महाराज को अपनी पुत्री के लिए योग्यतम वर समझता हूँ। वे इस भूमण्डल पर वर के लिए आवश्यक समस्त गुणों से भी अधिक गुणवान है और एक महापुरुष है। अपने जीवन में अनीति और अन्याय का प्रतिकार करने का दृढ़ संकल्प उन्होंने धारण कर रखा है। वाल्यकाल से ही अनीति के विरुद्ध वे अग्नि के समान प्रज्वलित रहते है और उसका विनाश करके ही शान्ति प्राप्त करते हैं। वे यादव कुल के सूर्य है और यादव कुल इस भूमण्डल पर आज एक पवित्र कुल है। आयु, विद्या, विनय, कुल, जाति, शील और स्वभाव के समस्त गुण उनमें परिपूर्ण रूप से विद्यमान है।

अतः आप मेरी वात पर विचार करे। मेरा यह कोई आग्रह नहीं है। उचित-अनुचित का विचार आपको भी करना है। मैंने तो अपने अनुभव की वात आप से कही है। यदि आप लोग इससे सहमत होते है तो फिर रुक्मिणी वाई की सहमति भी आप लोग ले लें। ऐसा न हो कि उसकी सहमति के विना हम यह कार्य करें। हमारा यह कर्तव्य है कि जिस कन्या का विवाह हम करना चाहते है, उसकी सम्मति भी वर के विषय में अवश्य ही लें। क्योंकि अन्ततः उसी को उस व्यक्ति के साथ अपना शेष समस्त जीवन व्यतीत करना होता है।

यह स्थिति उस काल की थी। परिवार के व्यक्ति किसी कन्या का विवाह करने से पूर्व उसकी सम्मति जान लेते थे और फिर आगे का कदम उठाते थे। आज आप लोग क्या करते है, यह आप जानें। आप कन्या की सम्मति लेते हैं अथवा नहीं, या कि उसे एक पशु की भाँति वेच देते है, यह आप स्वयं देखिए। इसी प्रकार से जिस वर का प्रसंग हो, उसकी सम्मति भी प्रकारान्तर से ली जाती है अथवा उसे भी नीलाम कर दिया जाता है, यह आपके विचारने की वात है।

मैंने तो देखा है कि मेरे भाई चन्द चाँदी के टुकड़ों के लिए अपनी सन्तान को वेच देते हैं, नीलाम पर चढ़ा देते है। यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

प्राचीन काल में दास-दासियों के बेचे और खरीदे जाने की कुप्रथा थी। पशुओं के समान दास और दासियों का व्यापार चलता था। वह प्रथा आज कुछ समाप्त हुई है, किन्तु अत्यन्त खेद का विषय है कि अव भी कुछ स्थानों पर स्त्रियों को गिरवी रखा जाता है। मैं जब उड़ीसा प्रान्त की ओर विचरण करता हुआ गया तो मैंने देखा कि वहाँ के गरीब, अनपढ़ लोग सेटों के यहाँ अपनी स्त्रियों को गिरवी रखने के लिए विवश हो जाते है। उड़ीसा के इन आदिवासियों की स्थिति सचमुच बड़ी नाजुक और दयनीय हैं व्यापारियों को व्याज का लोभ रहता है और वे छोटी-छोटी वस्तुओं पर, छोटी-छोटी रकमों पर बहुत-सा व्याज लेते हैं एक भाई बता रहे थे कि उनतीस तारीख को यदि कोई वस्तु दस रुपये सैकड़े व्याज पर गिरवी रखी और एक तारीख को छुड़ा ली, तो भी दस रुपये ले लेते है।

यह तरीका बड़ा असभ्य है। निर्बल और दीन जन अपनी बहिनों को गिरवी रखने के लिए विवश किये जाए, ऐसी समाज की स्थिति शोचनीय है। राजा हरिश्चन्द्र और तारामती भी बिके थे, किन्तु वे सत्य की रक्षा के लिए बिके थे, उसमें एक गौरव की बात थी। दास-दासियों के व्यापार का वह असभ्य तरीका आज प्रायः समाप्त हो गया है, किन्तु आज भी सभ्य रूप में आप लोग अपनी सन्तानों के लिए बोली लगाते है। यह तरीका भी उस असभ्य तरीके के समान ही निन्दनीय है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो कह सकते हैं कि वह जो एक घाव था, सो ऊपर से तो भरने लगा है, किन्तु उस बीमारी का नाश जड़-मूल से नहीं हुआ है। जो भी व्यक्ति इस प्रकार के कार्य करते हैं, उन्हें सभ्य कहा जाए अथवा असभ्य, यह आप लोगों के विचार का विषय है। मैं तो इतना ही कहूँगा कि इस कुमार्ग पर जाने वाले लोग कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

प्रत्येक विवेकवान व्यक्ति यह विचार करता है कि उसके द्वारा किसी भी अन्य व्यक्ति के प्रति कोई अन्याय न हो। महाराज भीम नरेश ने भी यह विचार किया कि उनके द्वारा अपनी पुत्री के प्रति अन्याय न हो जाए। इसीलिए उन्होंने कहा कि मैंने अपना मंतव्य आप सबके सम्मुख प्रस्तुत किया है, आप लोग इस पर विचार करें तथा कन्या की भी सम्मति ले लें।

महाराज की बात सभा में उपस्थित सभी व्यक्तियों को रुचिकर लगी। सबके चेहरे प्रसन्नता से खिल उठे। किन्तु उस सभा में उपस्थित एक व्यक्ति को यह बात अप्रिय लगी और वह रुष्ट दिखाई दिया।

वर्षा आती है तो सभी वनस्पतियाँ लहलहा उठती हैं। उनमें नवजीवन का संचार हो जाता है। किन्तु एक वनस्पति होती है- जवासा, वह जैसे-जैसे वर्षा आती है, वैसे-वैसे ही कुम्हलाने लगती है। प्रकृति की लीला भी विचित्र है।

महाराज भी नरेश के वचन सुखद वर्षा के समान थे। सभी सभासद उन्हें सुनकर हार्दिक प्रसन्नता से खिल उठे थे। किन्तु जवासे के समान राजपुत्र रुक्मकंवर उससे मुरझा गये। वे मानसिक रोगी थे। इसका परिणाम और निदान क्या हुआ, यह आगे के प्रसगानुसार कहा जाएगा। आज के लिए यही कथन है कि आप सूत्रों के स्वाध्याय द्वारा अपने मानसिक विकारों को दूर हटाने के प्रयत्न में दृढ़ संकल्प सहित जुट जाइये।

-इत्यलम्।

आत्मवत्‌सर्वभूतेषु

असंख्यं जीविय या पमायए

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

शांति जिन एक मुझ वीनती

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण प्रतिदिन न्यूनाधिक रूप में चल रहा है। इस विश्व में प्रभु एक महान शक्ति के रूप में है। उनके ज्ञान का पुण्य प्रकाश इस विश्व के अन्तरतम तथ्यों को प्रकाशित कर रहा है। उनकी दिव्य एवं अलौकिक शक्ति जन-जन के मन को आह्लादित करने वाली है। उनका स्वरूप अद्वितीय है। वे अनन्त शक्ति सम्पन्न है। उनसे बढ़कर कोई तत्व इस सृष्टि में नहीं है। उस विश्व वन्दनीय परमात्मा का सही स्वरूप समझकर मानव अपनी हृदय-तंत्री से जिस वाणी को झंकृत करता हैं, वह उसके जीवन में एक अपूर्व आनन्द एवं उल्लास की सृष्टि कर देती है।

प्रभु का कोई भी एक नाम नहीं है। एक दृष्टि से उन्हें अनाम कहा जा सकता है। क्योंकि नाम जितने भी हैं या हो सकते हैं, वे सब सीमित हैं, जब कि प्रभु का स्वरूप असीम है, अनन्त है। भाषा की दृष्टि से मनुष्य प्रभु को अनेक नामों से पुकार सकता है। पृथ्वी पर अनेक राष्ट्र हैं, अनेक उनकी भाषाएँ हैं। अपने-अपने संस्कारों के अनुसार व्यक्ति संस्कृतं, अग्रेंजी, जर्मन, फ्रेंच, रशियन, फारसी अथवा किसी भी अन्य भाषा के माध्यम से प्रभु को याद कर सकता है। उद्देश्य प्रभु को स्मरण करना है, वही पूरा होना चाहिए, भाषा तो उसका एक माध्यम है।

मनुष्य की स्थिति अपूर्णता की है। प्रभु पूर्ण हैं। मनुष्य की इस अपूर्णता की स्थिति में परिपूर्णता आनी चाहिए। मानवता का यही लक्ष्य है। आज मानव चाहता और प्रयत्न करता है कि वह बहुत बड़ी शक्ति का स्वामी बन जाए। वह सदा तरुणाई की स्थिति में चलता रहे। सभी चाहते है कि सब लोग मेरा मान-सम्मान करें। मेरे यश का विस्तार हो। इसी प्रकार की अनेक आकांक्षाएँ एवं कल्पनाएँ उसके मस्तिष्क में चला करती है। किन्तु अपनी उन कल्पनाओं को वह कोई आधार नहीं दे पाता हैं उन पर स्थिर नहीं रह पाता है। चक्र की भांति वह अपनी कल्पनाओं को घुमा देता है और इधर से उधर भटकता फिरता हैं यदि वह संकल्पवान हो तथा अपने लक्ष्य की ओर से कभी विचलित न हो, तो इस मानव-जीवन में वह अपूर्व शक्तियों का स्वामी बन सकता है।

वह स्थिरता कैसे आए? उस लक्ष्य की ओर वह अचंचल होकर कैसे आगे बढ़े?

वह स्थिरता लाने के लिए मनुष्य को प्रभु के स्वरूप को समझना नितान्त आवश्यक है। जीवन में से उसे काम, क्रोध, मद, मत्सर इत्यादि को निकाल फेंकना होगा। इनका लवलेश भी जीवन में रहने नहीं देना होगा। जो शक्ति वह संचित करना चाहता है, उसकी ओर अपनी दृष्टि उसे सदा लगाए रखना चाहिए।

लोगों की मति भिन्न-भिन्न होती हैं कुछ लोग कह सकते हैं, और कहा भी करते हैं कि हमें ईश्वर से क्या लेना-देना? उसे हमने कभी देखा नहीं। जो हमें कभी दिखाई नहीं देता उससे हमारा क्या प्रयोजन? हमें तो जो प्रत्यक्ष है, उपलब्ध है, उसी का भोग करना है। प्राप्त को छोड़कर हम अदृश्य और अप्राप्त की ओर क्यों भागें? इस प्रकार की अनेक विचारधाराएँ भिन्न-भिन्न मनुष्यों के मन-मस्तिष्क में चला करती है। किन्तु उन विचारधाराओं के पीछे यदि मनुष्य अनुसंधान का सूत्र जोड़ दे तो वे सब विचार सही मार्ग की ओर एक श्रृंखला में जुड़कर प्रवाहित हो सकते हैं। ऐसे वे समाहित विचार एक दिन अपूर्व शक्ति के रूप में प्रगट हो सकते हैं।

वह शक्ति रहस्यमयी अवश्य है किन्तु अप्राप्य अथवा अशक्य नहीं है। हमारे केन्द्रित विचार उस शक्ति की ओर बढ़ सकते हैं शास्त्रों का कथन है कि हे मानव! उस शक्ति को समझने का प्रयत्न कर वह शक्ति आकाश का भेदन

करने से प्राप्त नहीं होगी। और न ही वह शक्ति पाताल-प्रवेश से प्राप्त होगी। वह शक्ति तो हमें कुछ जानकारी करने से, कुछ ज्ञान प्राप्त करने से मिलने वाली है।

वह जानकारी कौन-सी है? ऐसा वह कौन-सा ज्ञान है, जिसे प्राप्त किए बगैर वह शक्ति मनुष्य को छलती ही रहेगी और मनुष्य से दूर-दूर ही वनी रहेगी।

आज विश्व में बहुतेरी जानकारी हो रही है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में, भिन्न-भिन्न विषयों की जानकारी नाना प्रकार के वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से आज प्राप्त की जा रही हैं विश्वविद्यालयों में जाकर विश्व-विज्ञान के नक्शे को देखा-समझा जा सकता हैं भूगोल और खगोल के विषय में नित नई वातों का पता मनुष्य लगा रहा हैं अनेक प्रकार की डिग्रियाँ-उपाधियाँ इकट्ठी की जा रही है। इन सब जानकारियों को एकत्र करके मनुष्य सोचता है कि उसने बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया है। किन्तु ये सभी जानकारियाँ एक वस्तु की जानकारी के अभाव में अधूरी और निरर्थक हैं। यह जानकारी है- स्वयं अपने स्वरूप को जानना, आत्मज्ञान प्राप्त करना।

आत्म-स्वरूप का ज्ञान वह प्राण है, जिसके अभाव में शेष सभी जानकारियाँ निष्प्राण है। जिस प्रकार यह मानव-पिण्ड, यह मनुष्य की कंचन-काया, प्राणों के अभाव में निरर्थक है, उसे तुरन्त शमशान में पहुँचा कर भस्म कर दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञान के अभाव में मनुष्य जितनी भी भौतिक जानकारी प्राप्त करता है वह व्यर्थ रहती है और उल्टे भय का कारण बन जाती है। यह बात संसार में जो भी स्थिति है और जो घटनाएँ घटित हो रही है, उन्हें देखकर अच्छी तरह से समझी जा सकती है। भौतिक पदार्थों की यह प्राणहीन जानकारी आज मनुष्य को विनाश के अतल गर्त की ओर ले जा रही है। इन जानकारियों का प्रयोग मानव-संग्रह के लिए ही किया जा रहा है। आज मानवता संत्रस्त और उत्पीड़ित दिखाई देती है। उसका कारण यही है कि आज मानव ने बहुत-सी जानकारी प्राप्त कर ली है, किन्तु उसे जीवन में प्राणों का संचार करने वाले तत्वों की जानकारी नहीं है। आज संसार में जहाँ तक भी दृष्टि जाती है, वहाँ तक शंका, संदेह, विनाश-उत्पीड़न और अशान्ति-हाहाकार ही दृष्टिगोचार हो रहे है। परिणामतः मनुष्य आज किकर्त्तव्यविमूढ़ जैसा बनता जा रहा हैं उसे त्राण का कोई मार्ग ही दिखाई नहीं देता। चारों ओर उसे एक ऐसी अग्नि प्रज्वलित होती हुई दिखाई देती

है कि जो धीरे-धीरे उसके समूचे अस्तित्व को सुलगाकर राख की ढेरी बना देने के लिए आकुल है।

इस भयानक विनाश-लीला से त्राण पाने के लिए मनुष्य को अपने अन्तःकरण के धरातल की तरफ देखना हैं यह मानव शरीर जानकारी के लिए अवश्य है किन्तु प्राणवान जानकारी के साथ ऐसा होना चाहिए। वह प्राणवान जानकारी स्वयं अपने को समझने की है। जिस दिन व्यक्ति अपने को जान लेगा उस दिन उसकी अपनी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा तथा समस्त विश्व में से यह आपाधापी भी दूर हो जाएगी।

अपने भीतर झाँकना और स्वयं अपने को पहिचानना एक कला है, और यह नितान्त आवश्यक है। आप ऐसा मत सोचिए कि आप अपने शरीर को देख रहे हैं तो उससे आपने अपने आपको जान लिया। वास्तविकता यह है कि आप अपने भीतर के एक छोर को भी नहीं देख पाये है। आपका मन कृत्रिम वस्तुओं के विचारों से भरा हुआ हैं आपको उन्हीं से फुरसत नही हैं तो भला आप अपने आपको जानने का अवकाश कहाँ से निकालेंगे?

बन्धुओ! एक सरोवर है। उसके जल पर काई की मोटी तह जम गई है। उससे वह निर्मल जल ढक गया है। अब उस जल के भीतर रहे हुए किसी प्राणी को न तो भीतर ही कुछ स्पष्ट दिखाई दे सकता है और नह वह बाहर की किसी वस्तु को देख सकता है। किन्तु यदि उस काई या सेवाल के जाल में एक छिद्र कर दिया जाए तो उस प्राणी को उस छिद्र में से ऊपर अनन्त तक फैला हुआ नीला आकाश दृष्टिगोचर हो सकता है।

उसी प्रकार से हमारी इस आत्मा के ऊपर, हमारे इस जीवन का स्वार्थपरता, अर्थलोलुपता, सत्ता और सम्पति इत्यादि के कचरे रूपी सेवाल ने अपना जाल इस प्रकार से बिछा रखा है कि हमें अपने भीतर के विराट् विश्व के तनिक भी दर्शन नहीं हो पाते। इसी प्रकार से हमें अपने से बाहर का भी कोई तत्व दिख नहीं पड़ता।

पानी की सतह पर जमी हुई काई को हटाना अपेक्षाकृत सरल है। किन्तु मनुष्य की आत्मा पर जमती चली जाती इस काई को हटाना कुछ कठिन है। हमें यदि अपने कल्याण की आकांक्षा है, तो इस काई को दूर हटाना ही होगा। इसे दूर हटाकर हमें अपने को जानने का सिलसिला जारी करना ही चाहिए।

अतः बन्धुओ! अपने जीवन की सार्थकता की दृष्टि से तनिक ठहर कर, एकान्त में शान्ति से बैठकर, अपने मन को शान्त और एकाग्र करके विचार कीजिए कि मेरा जीवन क्या है? मेरा स्वरूप क्या है? मेरी वास्तविक शक्ति मेरी ऊर्जा क्या है? कहाँ है? वह ऊर्जा भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही ऊर्जाओं के रूप में अभिव्यक्त है। किन्तु यदि उसे केवल भौतिकता की ओर ही अग्रसर होने दिया जाएगा तो वह धोर विनाश का कारण वन सकती है।

आज समस्त विश्व के रंगमंच पर जो संहार-लीला चल रही है, उसे देखकर किस व्यक्ति का हृदय पीड़ा से कराह न उठेगा? क्या आपके मन में कभी ये दृश्य देखकर तिलमिलाहट नहीं होती? मनुष्य इस विराट् शक्ति का स्वामी है। किन्तु मति के उलट जाने से वह स्वयं अपना ही विनाश कर लेने पर तुला हुआ है। आज भाई भाई के साथ, समाज समाज के साथ, राष्ट्र राष्ट्र के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है? मनुष्य मनुष्य का गला कांटने की जैसे होड़ लगाये बैठा है। एक क्षण के लिए भी वह यह नहीं सोचता कि इस प्रकार का व्यवहार करने से उसके जीवन में शान्ति के संस्कार कभी नही आ सकते।

बन्धुओ! अपने आपको पहिचानिए। अपनी शक्ति को पहिचानिए। यह तथ्य जानिए कि आप मात्र यह जो पिण्ड ऊपर से दिखाई दे रहा है, उतने ही नहीं है। इस पिण्ड के घेरे में आपकी जो महान् आत्मा है, उसे जानिए। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक- ये तीन तत्व जो आप में अवस्थित है, उन तत्वों के साथ यदि आप उस महत्वपूर्ण तत्व को प्राप्त कर लेंगे तो सही अर्थ में आप इस व्यापक मानवता के एक सदस्य बन सकेंगे। जब तक मनुष्य में मानवता का यह धरातल तैयार नहीं होता, तब तक शुद्ध आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का धरातल भी तैयार नहीं हो सकता।

इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए चलने पर ही मनुष्य यह सोच-विचार कर सकता है कि वह अपने लिए क्या चाहता है? सुख या दुःख? शान्ति अथवा अशान्ति? यदि सुख और शान्ति वह अपने लिए चाहता है, तो उसे यह भी विचार करना पड़ेगा कि अपनी ओर से वह किसी अन्य को दुःख न दे। जिस प्रकार हमारे ऊपर प्रहार होने से हमें पीड़ा पहुँचती है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी पीड़ा पहुँचती है। उन्हें भी दुःख होता है। जिस प्रकार हम सुख चाहते हैं, उसी

प्रकार दूसरे भी सुख चाहते है। हम अपने लिए हिंसा नहीं चाहते, तो दूसरे के प्रति भी हमें अहिंसा का व्यवहार रखना चाहिए। यदि हम अपने लिए दूसरों के द्वारा सुख-सुविधा के व्यवहार की अपेक्षा रखते है, तो हमारा कर्तव्य हैं कि हम भी दूसरों की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखकर चलें।

जिस दिन ऐसी स्थिति बनेगी, जिस दिन हम एक-दूसरे के सुख का ख्याल करेंगे और एक-दूसरे के विकास में सहयोग करने की भावना लेकर आगे बढ़ेंगे, उस दिन इस संसार का स्वरूप निखरेगा। उस दिन चारों ओर दिखाई देने वाला यह विनाश-चक्र थम जायेगा और यह रोना-धोना, हाहाकार-चीत्कार आदि भी उसी दिन शान्त-शमित होंगे।

अनेक प्रकार के सामाजिक और राजनैतिक दल प्रतिदिन अनेक प्रकार की घोषणाएँ करते रहते है। वे घोषित करते हैं कि मानव की शान्ति के लिए, मानवता के विकास के लिए वे प्रयत्नशील हैं। किन्तु दुर्भाग्य की स्थिति यह है कि उनकी कथनी और करनी में बड़ा अन्तर है। वे घोषणाएँ तो कुछ करते है और कार्य कुछ और ही करते है। इसका कारण यह है कि उनमें स्वयं की समझने की कला और बुद्धि ही नहीं है। जब व्यक्ति अपने को समझकर, अपने उचित कर्तव्य को निर्धारित करके, मानवता की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिकता के भव्य-भवन को निर्माण करने का प्रयास करता है तभी वह सच्चा मानव कहलाने का अधिकारी बनता है तथा देवता भी उसकी पूजा करने को लालायित हो उठते है।

जो भी व्यक्ति अथवा दल समाज या राष्ट्र के हित का उद्देश्य लेकर कार्य करे उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने चरित्रबल को लेकर चले। ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को अपनी तुच्छ इच्छाओं से ऊपर उठना चाहिए और उन गुणों को अपने आप में विकसित करना चाहिए जिससे कि भौतिक पदार्थों की ओर से ध्यान हटकर आध्यात्मिक विकास की ओर मन केन्द्रित हो। आज मनुष्य का ध्यान भौतिकता की ओर आकृष्ट हैं। वह यह सोचने लगा है कि जो कुछ भी उसे स्थूल रूप में दिखाई दे रहा है तथा विज्ञान जिन वस्तुओं को प्रमाणित कर रहा है, केवल वे ही सत्य हैं किन्तु वास्तविकता तो ऐसी नहीं है। मैं विज्ञान का विरोधी नहीं हूँ। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि मनुष्य को विज्ञान के साथ-साथ अपने आपका ज्ञान (आत्मविज्ञान) भी प्राप्त करना आवश्यक है।

एक सीधा-सा प्रश्न है कि विज्ञान ने जो तथ्य प्रमाणित किये है, वे इनसे

अतः बन्धुओ! अपने जीवन की सार्थकता की दृष्टि से तनिक ठहर कर, एकान्त में शान्ति से बैठकर, अपने मन को शान्त और एकाग्र करके विचार कीजिए कि मेरा जीवन क्या है? मेरा स्वरूप क्या है? मेरी वास्तविक शक्ति मेरी ऊर्जा क्या है? कहाँ है? वह ऊर्जा भौतिक एवं आध्यात्मिक दोंनों ही ऊर्जाओं के रूप में अभिव्यक्त है। किन्तु यदि उसे केवल भौतिकता की ओर ही अग्रसर होने दिया जाएगा तो वह धोर विनाश का कारण वन सकती है।

आज समस्त विश्व के रंगमंच पर जो संहार-लीला चल रही है, उसे देखकर किस व्यक्ति का हृदय पीड़ा से कराह न उठेगा? क्या आपके मन में कभी ये दृश्य देखकर तिलमिलाहट नहीं होती? मनुष्य इस विराट् शक्ति का स्वामी है। किन्तु मति के उलट जाने से वह स्वयं अपना ही विनाश कर लेने पर तुला हुआ है। आज भाई भाई के साथ, समाज समाज के साथ, राष्ट्र राष्ट्र के साथ कैसा व्यवहार कर रहा है? मनुष्य मनुष्य का गला कांटने की जैसे होड़ लगाये बैठा है। एक क्षण के लिए भी वह यह नहीं सोचता कि इस प्रकार का व्यवहार करने से उसके जीवन में शान्ति के संस्कार कभी नही आ सकते।

बन्धुओ! अपने आपको पहिचानिए। अपनी शक्ति को पहिचानिए। यह तथ्य जानिए कि आप मात्र यह जो पिण्ड ऊपर से दिखाई दे रहा है, उतने ही नहीं है। इस पिण्ड के घेरे में आपकी जो महान् आत्मा है, उसे जानिए। आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक- ये तीन तत्व जो आप में अवस्थित है, उन तत्वों के साथ यदि आप उस महत्वपूर्ण तत्व को प्राप्त कर लेंगे तो सही अर्थ में आप इस व्यापक मानवता के एक सदस्य बन सकेंगे। जब तक मनुष्य में मानवता का यह धरातल तैयार नहीं होता, तब तक शुद्ध आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का धरातल भी तैयार नहीं हो सकता।

इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए चलने पर ही मनुष्य यह सोच-विचार कर सकता है कि वह अपने लिए क्या चाहता है? सुख या दुःख? शान्ति अथवा अशान्ति? यदि सुख और शान्ति वह अपने लिए चाहता है, तो उसे यह भी विचार करना पड़ेगा कि अपनी ओर से वह किसी अन्य को दुःख न दे। जिस प्रकार हमारे ऊपर प्रहार होने से हमें पीड़ा पहुँचती है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी पीड़ा पहुँचती है। उन्हें भी दुःख होता है। जिस प्रकार हम सुख चाहते हैं, उसी

प्रकार दूसरे भी सुख चाहते है। हम अपने लिए हिंसा नहीं चाहते, तो दूसरे के प्रति भी हमें अहिंसा का व्यवहार रखना चाहिए। यदि हम अपने लिए दूसरों के द्वारा सुख-सुविधा के व्यवहार की अपेक्षा रखते है, तो हमारा कर्तव्य हैं कि हम भी दूसरों की सुख-सुविधा का पूरा ध्यान रखकर चलें।

जिस दिन ऐसी स्थिति बनेगी, जिस दिन हम एक-दूसरे के सुख का ख्याल करेंगे और एक-दूसरे के विकास में सहयोग करने की भावना लेकर आगे बढ़ेंगे, उस दिन इस संसार का स्वरूप निखरेगा। उस दिन चारों ओर दिखाई देने वाला यह विनाश-चक्र थम जायेगा और यह रोना-धोना, हाहाकार-चीत्कार आदि भी उसी दिन शान्त-शमित होंगे।

अनेक प्रकार के सामाजिक और राजनैतिक दल प्रतिदिन अनेक प्रकार की घोषणाएँ करते रहते है। वे घोषित करते हैं कि मानव की शान्ति के लिए, मानवता के विकास के लिए वे प्रयत्नशील हैं। किन्तु दुर्भाग्य की स्थिति यह है कि उनकी कथनी और करनी में बड़ा अन्तर है। वे घोषणाएँ तो कुछ करते है और कार्य कुछ और ही करते है। इसका कारण यह है कि उनमें स्वयं की समझने की कला और बुद्धि ही नहीं है। जब व्यक्ति अपने को समझकर, अपने उचित कर्तव्य को निर्धारित करके, मानवता की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिकता के भव्य-भवन को निर्माण करने का प्रयास करता है तभी वह सच्चा मानव कहलाने का अधिकारी बनता है तथा देवता भी उसकी पूजा करने को लालायित हो उठते है।

जो भी व्यक्ति अथवा दल समाज या राष्ट्र के हित का उद्देश्य लेकर कार्य करे उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने चरित्रबल को लेकर चले। ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह को अपनी तुच्छ इच्छाओं से ऊपर उठना चाहिए और उन गुणों को अपने आप में विकसित करना चाहिए जिससे कि भौतिक पदार्थों की ओर से ध्यान हटकर आध्यात्मिक विकास की ओर मन केन्द्रित हो। आज मनुष्य का ध्यान भौतिकता की ओर आकृष्ट हैं। वह यह सोचने लगा है कि जो कुछ भी उसे स्थूल रूप में दिखाई दे रहा है तथा विज्ञान जिन वस्तुओं को प्रमाणित कर रहा है, केवल वे ही सत्य हैं किन्तु वास्तविकता तो ऐसी नहीं है। मैं विज्ञान का विरोधी नहीं हूँ। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूँ कि मनुष्य को विज्ञान के साथ-साथ अपने आपका ज्ञान (आत्मविज्ञान) भी प्राप्त करना आवश्यक है।

एक सीधा-सा प्रश्न है कि विज्ञान ने जो तथ्य प्रमाणित किये है, वे इससे

पूर्व अस्तित्व में थे कि नहीं? वे गतिएँ इससे पहले कहाँ थीं? सत्य तो यह है कि वे इससे पूर्व भी थीं, किन्तु विज्ञान उन्हें अब जान-पहचान सका है। वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं का अब पहले से अधिक विकास हुआ है और धीरे-धीरे वह उन सभी बातों को स्वीकार करता जा रहा है, जिनका वर्णन शास्त्रों में हमें पहले से ही प्राप्त है।

अतः हमें अपनी दृष्टि को विशाल रखकर चलना चाहिए और विज्ञान को विज्ञान तक ही सीमित रहने देना चाहिए। प्रत्येक बात का मापदण्ड विज्ञान को ही बना लेने से हमारा काम चलने वाला नहीं है। कहा गया है- "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।"- अपनी आत्मा के लिए जो प्रतिकूल पड़ता हो, वैसा आचरण दूसरों के लिए भी न करो।

जीवन में अपने व्यवहार का शुद्ध मापदण्ड यही उद्घोष वाक्य होना चाहिए। दूसरों को हम किस दृष्टि से देखें, उनके साथ कैसा व्यवहार करें यह बात इस कथन से निर्णीत की जा सकती है। हमें स्वयं अपना ही गज, अपना ही मापदण्ड लेकर चलना चाहिए और अपने भीतर झाँककर, अपने स्वरूप को पहिचान कर, दूसरों के साथ भी उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए।

आप व्यापार करते हैं, कपड़े का। वहाँ लेन-देन का साधन गज या आजकल मीटर हैं। अनाज के व्यापारी के पास किलो-क्विंटल है। सोने-चाँदी के व्यापारी के पास ग्रास आदि है। तो प्रत्येक व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न साधन और आधार है। यदि एक सोने-चाँदी का व्यापारी मीटर या किलों से तोले या नाप करने लगें तो उसका दिवाला निकल जाए या उसका काम नहीं चले। उसका काँटा भी टूट सकता हैं इसी प्रकार से आजकल हवा के दबाव और वजन को नापने के लिए भी यन्त्र है। तो ये सब भौतिक साधन है। इन साधनों से आध्यात्मिक तत्व को नहीं नापा जा सकता है।

इसीलिए मैं आपसे कहता हूँ कि जीवन में दोनों पक्षों को बड़े ध्यान से देखिए। गम्भीरता से विचार कीजिए। एक ही पक्ष के होने से जिस प्रकार से कोई पक्षी उड़ान नहीं कर सकता, उसी प्रकार यदि आप अपने जीवन के एक ही पक्ष को साधते चले जायेंगे और दूसरें पक्ष की अवहेलना कर देंगे तो आपके विकास की गति रुक जाएगी।

एक वैज्ञानिक के लिए भी यही बात अचित ठहरती हैं विज्ञान की

उपलब्धियाँ हितकर हैं, बशर्ते कि उनका उपयोग मानव-कल्याण के लिए किया जाए न कि मानवता के संहार के लिए। किन्तु एक वैज्ञानिक को भी जीवन में दूसरे पक्ष आध्यात्मिक पक्ष को नहीं भूलना चाहिए तभी सारी वैज्ञानिक उपलब्धियों को सही उपयोग हो सकता है।

वास्तविकता यह है कि ऐसा हो नहीं रहा है। मनुष्य की दृष्टि में आज केवल भौतिक सुख-सुविधाएँ ही बसी हुई हैं। अपने जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को, जो कि अधिक महत्वपूर्ण हैं, उसने भुला रखा है। इसीलिए संसार में आज स्वार्थ का बोलबाला है, लड़ाई झगड़े है।, अन्याय और अत्याचार है। यदि मनुष्य की दृष्टि में जीवन का आध्यात्मिक पक्ष भी स्पष्ट रहे, बल्कि उसी को मजबूत बनाने का उसका उद्देश्य प्रमुख रहे और वह अपनी आत्मा को पहिचान कर अन्य व्यक्तियों के साथ भी वैसा ही व्यवहार करना सीख ले जैसा कि वह स्वयं अपने साथ चाहता है, तो समस्या का समाधान हो सकता है। जो हमारे लिए हितावह है, वही दूसरों के लिए भी हितावह है, ऐसी भावना हमारी होनी चाहिए।

संसार की किसी भी भाषा के, किसी भी धर्म के साहित्य को उठाकर देख लीजिए, उसमें यही कहा गया है कि सभी प्राणियों को अपने समान समझो, किसी का दिल न दुखाओ, किसी को पीड़ा मत पहुँचाओ। शास्त्रों में आया है- "सव्वभूयप्पभूयेसु"- तथा-"आत्मवत् सर्वभूतेषु"- अपने समान ही प्रत्येक प्राणी को समझो।

इन वाक्यों को अपने जीवन का मूल मंत्र बनाकर चलना चाहिए। यदि ऐसी शुद्ध आत्मनिष्ठा व्यक्ति के जीवन में आ सके तो उसका मन-मयूर सदा ही सच्चे आनन्द से नृत्य करता रहे। किन्तु हम तो छोटी-छोटी बातों में उलझ जाते है। नगण्य-सी बातें हमें उत्तेजित कर देती है। झूठे मान-अपमान के चक्र में फँसकर हम अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को भूल जाते है।

एक स्थान पर पंचायती जाजम बिछी थी। किसी सार्वजनिक कार्य के विषय में विचार होना था और लोगों की सूची बनाई जानी थी। पंच लोग तथा अन्य प्रतिष्ठित लोग बैठे थे। केवल एक व्यक्ति वहाँ उपस्थित नहीं था। उसके आने में देर होती देखकर शेष लोगों ने सोचा कि सूची बनाने का कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। वह व्यक्ति जब आएगा तब वह भी सम्मिलित हो जाएगा।

सूची में जब लोगों के नाम लिखने का प्रसंग आया तो एक व्यक्ति ने सुझाव दिया कि अमुक सेठ का नाम सर्वप्रथम लिखना चाहिए। यह नाम उसी व्यक्ति का था जो उस समय वहाँ उपस्थित नहीं था। किसी दूसरे व्यक्ति ने इस बात का विरोध किया और कहा कि उस सेठ का नाम पहले क्यों लिखना चाहिए? दूसरे का नाम पहिले क्यों नहीं लिखा जाए? किसी दूसरे का नाम पहिले लिखिए।

तो पहला प्रस्ताव देने वाले व्यक्ति ने समझाया कि भाई अमुक सेठ का नाम पहिले लिखने के लिए मैंने इसलिए नहीं कहा कि वे बड़े सेठ हैं। मैंने उनकी सम्पति की दृष्टि से यह बात नहीं कही है। मैंने तो उनके गुणों की दृष्टि से यह बात कही है। वैसे तो यह पंचायती स्थान है, सार्वजनिक कार्य है, यहाँ सभी समान हैं। किन्तु उस व्यक्ति की कर्त्तव्यनिष्ठा, उसकी उदारता, स्व और पर को पहिचानने की योग्यता इत्यादि गुणों की दृष्टि से ही मैंने उनका नाम प्रथम लिखने का सुझाव दिया है। आगे आपकी इच्छा।

इस प्रकार से व्यर्थ का विवाद चल निकला और काम कुछ भी नहीं हुआ।

थोड़ी देर बाद वह व्यक्ति भी वहाँ आ पहुँचा जिसके नाम को लेकर यह विवाद चल रहा था। उसने सारी बात सुनी तो हँसकर बोला-'अरे, इतनी सी बात के लिए आप लोग विवाद में पड़ गए और इतना समय हो गया? मेरे नाम को सबसे नीचे लिखे देता हूँ। आप तो कार्य की ओर ध्यान दीजिए।'

ऐसा कहकर उसने कागज और कलम उठाए और नीचे ही नीचे अपना नाम लिख दिया।

यही उस व्यक्ति की सज्जनता, सरलता और महानता थी।

इस महानता को देखकर उसके विरोधी भी प्रभावित हुए और क्षमा माँगते हुए उन्होंने उसी व्यक्ति का नाम स्वयं अपने हाथ से सूची में सर्वप्रथम लिख दिया।

इस प्रकार विवाद का अन्त हुआ और कार्य आगे बढ़ा।

तो वन्धुओ! यह एक रूपक है। कथन का अभिप्राय यह है कि हमें अपने आपको पहिचानना चाहिए और झूठे, वाहरी, ऊपरी मान-अपमान पर ध्यान न देकर अपने आन्तरिक गुणों का विकास करना चाहिए। मनुष्य के आन्तरिक गुणों का प्रभाव स्वयंमेव हो अन्य लोगों पर पड़ेगा और उन्हें भी उससे उचित मार्ग निर्देश प्राप्त होगा।

अपने विचारों को ठीक बनाना, उत्तम विचार ही मस्तिष्क में लाना और उत्तम विचारों पर दृढ़ता से स्थिर रहना जीवन में सफलता के लिए बहुत आवश्यक है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह बात सत्य है कि जैसे हमारे विचार होते है, वैसा ही हमारा जीवन भी बन् जाता है। आज तमाम मानवता रोगग्रस्त दिखाई देती है। उसका कारण यही है कि मनुष्य का मन दुर्बल हो गया है। उसके मस्तिष्क के दुर्बल और तुच्छ विचार घर किए बैठे है। यदि उन तुच्छ और दुर्बल विचारों को निकाल कर महान् भावना उत्पन्न की जाए तो मनुष्य अधिक सशक्त बन सकता है, मानवता प्रगति कर सकती है।

मनुष्य के मन की शक्ति कितनी चमत्कारिक हो सकती है उसका एक उदाहरण देखिए-

एक मिनिस्टर सा. बीमार हो गए। इलाज के लिए वे अपने एक दोस्त डाक्टर के पास पहुँचे। उस समय वह डॉक्टर अपने एक मित्र-सेठ का इंलाज कर रहा था। सेठ को टी.बी. की बीमारी थी। अन्य डॉक्टरों ने सेठ जी की हालत की जाँच-पड़ताल करके उसे निराशाजनक उत्तर दे दिया था। साफ बता दिया कि आपको तीसरे दर्जे का टी.बी. हो गई है। अब यह रोग हमारे लिए असाध्य हो गया है। अतः आप अपनी आत्मा को शुद्ध करने का प्रयत्न कीजिए और नए जन्म की तैयारी में लग जाइये।

सेठ के दोस्त डॉक्टर ने जब सारी स्थिति देखी और सुनी तब उसने सेठ से कहा कि मैं दूसरे तरीके से उपचार करता हूँ और वह तल्लीनता के साथ सेठ की स्थिति का निरीक्षण-परीक्षण करने लगा।

जब मिनिस्टर उनके पास पहुँचा तो उसने उनका भी परीक्षण कर लिया और कहा कि मैंने तुम्हारा परीक्षण कर लिया है। तुम अपने कार्यालय में जाओ। मैं निदान और औषधि वही भिजवा दूँगा। मिनिस्टर चला गया।

इसी प्रकार डाक्टर ने सेठ का भी पूर्ण परीक्षण किया और उससे भी कहा कि वह घर जाये, निदान और औषधि घर पर भेज दी जाएगी।

दोनों के चले जाने पर डाक्टर ने दोनों के निदान के अनुसार नुस्खे लिखे। सेठ के लिए उसने लिखा कि मित्रवर! मुझे बड़ा खेद है कि तुम्हे तीसरे दर्जे का टी.बी. है। इसका इलाज अब नहीं हो सकता है। अन्य डॉक्टरों का

निदान और इलाज सही है। अतः आप इस भौतिक पिण्ड तक ही स्वयं को सीमित न रखें। अपने आध्यात्मिक जीवन पर अब दृष्टि डालिए और अन्तिम समय में जीवन की उज्जवलता को प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए।

अपने मिनिस्टर मित्र के लिए उस डॉक्टर ने लिखा- आपको कोई बीमारी नहीं है। मामूली सी सर्दी-खासी है। इसके लिए कोई औषधि लेने की आवश्यकता नहीं है। आप सौंठ और गुड़ का प्रयोग कीजिए।

दोनों पर्चे उसने तैयार कर लिए। उसी समय किसी एमरजैन्सी केस में डॉक्टर को किसी मरीज को देखने के लिए बुलावा आ गया। उसने शीघ्रता से वहाँ जाने की तैयारी की और अपने कम्पाउण्डर को हिदायत कर दी कि वह दोनों पर्चियाँ सेठ और मिनिस्टर को दे आये।

वह कम्पाउण्डर दोनों पर्चे ले गया। किन्तु भूल से उसने सेठ वाली पर्ची मिनिस्टर को और मिनिस्टर वाली पर्ची सेठ को दे दी।

मिनिस्टर ने घर आकर डॉक्टर की पर्ची देखी और उसे पढ़कर उसके हाथ-पाँव फूल गये, होश उड़ गये। तीसरी स्टेज की टी.बी. की बात पढ़कर वह तुरन्त बेहाल होकर बिस्तर पर पड़ गया। उसने सोचा कि डॉक्टर मेरा मित्र है, योग्य है। वह झूठ नहीं लिख सकता। अतः अब मैं तो बच ही नहीं सकता।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक रूप से बीमार होकर उसने खाट पकड़ ली। उसके दिल की धड़कन बढ़ गई और दस्त आदि भी लगने लग गये। उनकी यह हालत देखकर घर वाले घबराये। उन्होंने फौरन ही डॉक्टर को बुलवा भेजा। डॉक्टर ने आकर पूछा कि भाई, ऐसी क्या मुसीबत आ गई? क्या बात हो गई? तो मिनिस्टर से सारी बात बताते हुए कहा कि- मैं तो चला। आप यदि कुछ देर और न आते तो मेरा तो हार्टफेल हो जाता।

यह सारी स्थिति देखकर डॉक्टर को हँसी आ गई। उसने कहा- अरे मित्रवर भूल हो गई। कम्पाउण्डर ने गड़बड़ कर दी। तुम्हें तो कुछ भी नहीं हुआ है। मामूली-सी सर्दी-जुकाम है। तुम्हारे लिए तो मैंने सौंठ और गुड़ का प्रयोग करने के लिए लिखा था। यह पर्ची तो सेठ के वारे में थी। तुम चिन्ता न करो।

वास्तविक वात जानकर मिनिस्टर के जी में जी आया। उसके दिल की धड़कन ठीक हो गई और दस्त आदि भी वन्द हो गये।

अब डॉक्टर ने सोचा कि इसका यह हाल हुआ, तो सेठ का क्या हाल है, यह भी चलकर देखना चाहिए। अतः वह सेठ के घर पहुँचा।

सेठ के यहाँ दूसरा ही दृश्य था। वैसे तो बेचारा सेठ कभी खाट से उठता भी नहीं था और दिन भर कराहता रहता था। किन्तु इस समय वह उठकर धूप में आरामकुर्सी पर बैठा हुआ था और बड़ी प्रसन्नता से घर के लोगों से बातचीत कर रहा था। वह कह रहा था- 'देखो जी! कोई भी इन डॉक्टरों के चक्कर में मत आना। ये तो सब लुटेरे है। मेरा मित्र डॉक्टर यदि आज न होता तो ये सब डॉक्टर मिलकर मेरे प्राण ले लेते। उन्होनें मेंरे शरीर को दवाएँ दे-देकर जर्जरित कर दिया। अरे, मुझे तो कुछ भी बीमारी नहीं है। जरा-सा सर्दी जुकाम है।

इस प्रकार वह सेठ बड़े आनन्द से अपने परिवार वालों से बातचीत कर रहा था। जब डॉक्टर आया तो वह उसके चरणों पर गिर गया और बोला- 'मित्र' तुमने मुझे बचा लिया। तुम धन्य हो और तुम मेरे सच्चे मित्र हो। मुझे तो कोई भी बीमारी नहीं है। सर्दी-जुकाम है। अब मैं सौंठ और गुड़ का प्रयोग करूँगा और शीघ्र ही पूर्ण स्वस्थ हो जाऊँगा।

डॉक्टर ने सारी स्थिति देखी और सोचा कि इसके विश्वास को ठेस नहीं लगनी चाहिए। अतः उसने कहा-'हाँ मित्र! तुम्हे कोई बीमारी नहीं है। चिन्ता न करो। प्रसन्न रहो।'

परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों में सेठ पूर्ण स्वस्थ होकर अपने कामकाज में लग गया।

बन्धुओ! आत्म-विश्वास बहुत बड़ी वस्तु है। मन की दृढ़ता सफलता का आधार है। वह सेठ टी.बी. जैसी बीमारी से भी अपनी आत्मशक्ति के कारण बच गया। अतः आप इस पर विचार कीजिए और जीवन में कभी निराश मत होइये। अपने आत्म-विश्वास को कभी मत खोइये। झूठे विश्वास को अपने हृदय में प्रवेश-मत करने दीजिए और अपनी आत्म श्रद्धा को बनाये रखिये। छोटी-छोटी बातों से धबराना मनुष्य को शोभा नहीं देता। यह तो शरीर है। इसकी इतनी चिन्ता क्या? इससे इतना मोह कैसा? अपनी इच्छा-शक्ति को पहिचानिए और उसे दृढ़ बनाइये। यदि आपकी इच्छा शक्ति दृढ़ होगी तो आपको सामान्य औषधियों की आवश्यकता नहीं रहेगी।

मैं देखता हूँ कि घर में यदि कोई बीमार हो जाता है तो आप लोग एक दम घबराने लगते है। बुखार आ जाए तो पता नहीं क्या-क्या सोचने लगते है। बहिनें तो प्रायः तिल का ताड़ बना देती हैं और इधर-उधर की बातें सुनाकर मरीज को और भी अस्वस्थ बना देती है। ऐसा नहीं करना चाहिए। मामूली सी सर्दी आदि से भी बुखार हो जाता हैं उसकी चिन्ता इस प्रकार से नहीं करनी चाहिए कि मरीज घबरा जाए। आप मरीज की साता पूछने जाते हैं तो इस प्रकार से व्यवहार कीजिए कि उसकी शक्ति बढ़े। उसकी इच्छा-शक्ति मजबूत हो और उसका आत्म-विश्वास अडिग रहे, आपको ऐसी बातें नहीं कहनी चाहिए जिससे कि रोगी की अशान्ति बढ़े, आपको श्रद्धा के साथ, दृढ़ श्रद्धा के साथ कहना चाहिए कि चिन्ता की कोई बात नहीं, सब ठीक हो जाएगा।

यदि आप रोगी के मन में वहम का भूत भर देते है- तो वह बेचारा व्यर्थ ही घबरा जाएगा और आपके ऐसा करने से उसके जीवन को खतरा उपस्थित हो सकता है। अतः आप इन बातों का ध्यान रखिए और एक मापदण्ड ऐसा बनाकर चलिए जिससे कि आप स्वयं अपने को तथा सम्पूर्ण विश्व के मनुष्यों को माप सकें।

बन्धुओ! महाराज भीम नरेश ने अपनी राज्य सभा में जब अपनी कन्या के लिए वर के रूप में त्रिखंडाधिपति वासुदेव श्री कृष्ण का नाम प्रस्तावित किया तब केवल रुक्मकुंवर को वह बात अरुचिकर लगी थी। क्योंकि वह मानसिक रूप से रोगी था। ऐसे व्यक्ति न स्वयं अपना हित कर सकते हैं, और न किसी दूसरे का।

अतः व्यक्ति को जीवन में अपना मानस शुद्ध रखना चाहिए। जो अपने जीवन में विवेक को स्थिरीभूत कर लेते है, और दृढ़ व्रतधारी बनते हैं वे ही अपने जीवन को मंगलमय बना सकते हैं।

-इत्यलम्।

****

मन और अभिगमन

"असंखयं जीविय मा पमायए ....।
कुंथुनाथ भगवान की प्रार्थना
कुंथु जिन वर दे ....।"

ये प्रार्थना की पंक्तियां आज भगवान कुंथुनाथ के चरणों में अर्पित है। शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों के निवेदन के चलते कुछ दिन हो चुके है। मनुष्य स्वभाव से ही परिवर्तन का प्रेमी है। अतः कुछ भाइयों की ऐसी भावना हुई कि प्रार्थना में परिवर्तन होना चाहिए। मैंने भी विचार किया कि प्रतिदिन एक ही विषय को प्रस्तुत करने से अजीर्ण की स्थिति बन सकती है। अजीर्ण न भी हो तो भी जिज्ञासा तो स्वाभाविक ही है कि अन्य भगवानों का स्वरूप कैसा हैं? अस्तु, मैंने आज प्रार्थना में परिवर्तन किया है।

किन्तु मैं आपके पुनः स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि प्रार्थना की कड़ियों में परिवर्तन हो सकता है, लेकिन प्रभु का स्वरूप तो आपको वैसा ही समझना होगा। प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में जो निवेदन किया गया है उसमें एक अनुसन्धान का संकेत है, वह संकेत प्रत्येक परिस्थिति में आवश्यक है।

सिद्ध अवस्था, सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए आपको अपना लक्ष्य स्थिर करके चलना पड़ेगा। उस लक्ष्य को स्थिर बनाकर, दृढ़ता से आप उसकी प्राप्ति हेतु प्रयत्न करेंगे, उस एक ही स्वरूप के साथ आप जब तन्मय हो जायेंगे, तभी आपकी आत्मा में स्थिरता आएगी।

अस्थिरता मनुष्य को चंचल बनाती है। मन चाहता रहता है कि आज यह और कल वह हो। इससे लक्ष्य भी अस्थिर बन जाता है। अतः स्थिरता के

सूत्र को कभी हाथ से छूटने नहीं देना चाहिए। आज प्रभु शान्तिनाथ भगवान के स्थान पर प्रभु कुंथुनाथ भगवान के प्रति प्रार्थना की पंक्तियों का उच्चारण हुआ है। किन्तु इसमें केवल नाम का भेद ही मानना चाहिए। और अर्थ का अनुसंधान तो वही से जारी रखना चाहिए। इस प्रार्थना में मन के परीक्षण की बात कही गई थी। वही बड़ी आगे चल रही है। और कवि कुंथुनाथ भगवान के चरणों में अपनी एक उलझन रख रहा है। वह उलझन यह है कि मन का परीक्षण क्यों नहीं हो पा रहा हैं?

मन के परीक्षण के लिए स्थिरता की बड़ी आवश्यकता है। आप अपना फोटो उतरवाने जाते हैं तो भी आपको कुछ समय के लिए एकदम स्थिर होना पड़ता है। तभी आपकी आकृति चित्र के रूप में उतर पाती है। यदि शरीर अस्थिर रहा तो फोटो बिगड़ जाएगी। जब शरीर का फोटों उतरवाने के लिए ही एकदम स्थिर बनाना पड़ता है, तब मन का चित्र उतारने कें लिए, मन का परीक्षण करने के लिए तो कितनी स्थिरता, कितनी दृढ़ता की आवश्यकता है यह आप स्वयं ही सोच सकते है।

यह स्थिरता कैसे प्राप्त हो?

आप बाजार में चलते हुए किसी वस्तु को ठीक से देखना चाहते हो, तो आपको स्थिर होकर, ठहर कर उस वस्तु को देखना होगा। भागते हुए या तेज गति से चलते हुए आप उस वस्तु को नहीं देख सकेंगे। क्योंकि ऐसा करते हुए आपकी दृष्टि स्थिर नहीं हो पाती। दृष्टि स्थिर होगी, तभी वस्तु का स्वरूप आप देख पाएँगे।

कोई भी पुस्तक पढ़ते समय आपको अपने नेत्रों की पुतलियों को स्थिर करना पड़ता हैं। चंचल नेत्रों से पढ़ाई नहीं हो सकती।

उसी प्रकार यदि आप अपने मन का परीक्षण करना चाहते हैं तो आपको अपने मन की पुतली को स्थिर करना ही पड़ेगा। नेत्रों की पुतली तो फिर भी कभी-कभी स्थिर हो जाती है, किन्तु मनुष्य का मन तो बड़ा चंचल है। प्राणीमात्र का यह द्रव्य मन अत्यन्त चंचल होता है। बड़े-बड़े साधक अपनी साधना के लिए एकान्त में, गुफाओं में जाकर बैठते हैं- ध्यान करते हैं, यम, नियम, प्राणयाम आदि के माध्यम से वायु को रोककर मन को स्थिरता की ओर ले जाने का प्रयास करते

हैं। बड़े-बड़े तप किये जाते हैं। किन्तु यह चंचल मन बड़े-बड़े योगियों को भी योग से भ्रष्ट कर देता है। इसीलिए इस प्रार्थना में यह संकेत दिया गया है-

"कुंथु जिन वर दे मनड़ो ....।"

- भगवन्! मैं जैसे-जैसे इसका जतन करता हूँ, इसकी सार-संभाल करता हूँ, इसके अनुरूप शरीर के ढाँचे को ढाल लेता हूँ, वैसे-वैसे ही यह आगे-आगे भागता जाता है। यह मन बड़ा ही विचित्र है।

कवि प्रार्थना करता है कि हे प्रभु! आप मेरी सहायता कीजिए। मन की स्थिरता को प्राप्त करने के लिए आपका होना अपेक्षित है। प्रभु, जो शुद्ध अवस्था को प्राप्त हैं, पूर्ण कृतकृत्य हो चुके हैं और जिनको स्वसमय की पूर्ण अवस्था प्राप्त हो गई है वे परमात्मा तटस्थ भाव में स्थिर है।

प्रार्थना आप मुख से करें, कंठ से करे, मन से करें या भाव की दृष्टि से अध्यवसायों के रूप में करें- इन सब स्वरूपों को वे जान रहे है। किन्तु इस अवस्था से आपको आदर्श ही मिल सकता है। सर्वज्ञ भगवान इस मन को स्थिर करने के लिए अनेक उपायों का निर्देश स्थान-स्थान पर कर गये है। उन स्थलों का अनुसंधान करना यह हमारा कार्य है। यह स्थल में आपके सामने उस वीतराग वाणी के माध्यम से शब्द-अर्थ का संकेत करता हुआ रख रहा हूँ। उसमें बताया गया है कि-

"तस्सेस मग्गो-गुरु विद्ध सेवा।"

जब उस मार्ग को नहीं अपनाया जाएगा तो मन को स्थिर करने का आधार कहाँ से और कैसे प्राप्त होगा?

मनुष्य की बुद्धि इस लक्ष्य की प्राप्ति में बहुत सहायक बन सकती है। शास्त्रकारों का कथन है कि सूत्र और अर्थ का चिन्तन करने से आपकी बुद्धि प्रबल बनेगी। बुद्धि की प्रबलता के साथ आप एक स्थिरता को प्राप्त करके अपने मन पर जबरदस्त अंकुश लगा सकते है। जब तक बृद्धि की स्थिरता प्राप्त नहीं होती, तब तक मन की स्थिरता भी प्राप्त नहीं हो सकती। जब तक बुद्धि में अन्य-अन्य विचार चलते रहेंगे, तब तक स्वाभाविक रूप से मन भी चंचल बना रहेगा। उस बुद्धि को 'धी' कहा गया है। वह बुद्धि स्थिर होकर सूत्र के अर्थ को ग्रहण कर पाती है और उस पर चिन्तन शक्य बनता है।

किन्तु जब तक मनुष्य के मन में अन्य प्रपंचों का कचरा भरा रहता है, तब तक वह सूत्र अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकता। धर्म-स्थान पर भी पहुँच कर मस्तिष्क में अन्य वासनाएँ रखता है तो उसका लक्ष्य दूर ही बना रहता है और वह सूत्र-अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाता ।

इस समस्या के समाधान हेतु शास्त्रों में श्रावक और भक्तजन के लिए निर्देश है कि वह जब भी धर्मस्थल के लिए रवाना हों, तो एक शब्द का उच्चारण करे'-निस्सहि। निस्सहि। निस्सहि।' इस शब्द का तीन बार उच्चारण करके ही वह आगे बढ़ता है। इस शब्द के उच्चारण का अभिप्राय यह है कि अब तक मैं घरेलू और सांसारिक कार्यों में अपने मन को लगाए हुए था, जो कि आत्मा पर कर्मों का बन्धन जकड़ने वाले है। तो अब मैं सूत्र-श्रवण करने जा रहा हूँ। अतः मैं अपने मन से अब इन कार्यों का निषेध करता हूँ।

जिस प्रकार अकेला व्यक्ति घर के बाहर निकलने पर ताला लगाता है और उसे ठोक-बजाकर देख लेता है। उसी प्रकार धर्मस्थान पर सूत्र-श्रवण हेतु जाते समय वह पाप का द्वार बन्द करके अर्गला लगाता है। यह 'निस्सहि' शब्द का तीन बार उच्चारण पाप के दरवाजे पर ताला लगाने के समान ही है। इसका उच्चारण केवल शब्दों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए, बल्कि मन को दृढ़ता से यह भाव ग्रहण करना चाहिए।

इसके पश्चात् वह गति करता हुआ धर्मस्थान के समीप पहुँचता है। तो उसे पुनः तीन बार निस्सहि, निस्सहि, निस्सहि शब्द का उच्चारण करना चाहिए। इसका प्रयोजन यह है कि मार्ग में बाजार आदि से गुजरते हुए वह अनेक वस्तुओं को देखता हैं और उन वस्तुओं को देखकर उसके मन में अनेक सांसारिक विचार उठते हैं- जैसें कि यह वस्तु मेरे पुत्र-पुत्री इत्यादि के काम की है, इसे खरीदना चाहिए आदि। अतः यदि यह विचार मेरे मन में बना रहा तो मैं धर्मस्थान पर जाकर भगवान की वाणी का श्रवण ठीक तरह से नहीं कर सकूँगा। अतः मुझे इन बाजार की चीजों की भी निवृत्ति कर देनी है। इसलिए वह पुनः तीन बार 'निस्सहि' शब्द का उच्चारण करके उस वस्तुओं का निषेध करता है।

इतना तो हुआ, किन्तु शास्त्रकारों का कथन है कि यह तो पापकारी प्रवृत्ति का त्याग किया है, लेकिन मन को स्थिर बनाने के लिए और भी प्रक्रियाएँ करनी

है। इसके लिए श्रावक के लिए पाँच अभिगमन बताए हैं। इन्हें जीवन में साकार रूप देना चाहिए। तो वह तीन बार 'निस्सहि' शब्द का पुनः उच्चारण करने के बाद अपने शरीर पर दृष्टिपात करता है और देखता है कि मेरे पास कोई सचित्त वस्तु तो नहीं है। अर्थात् जीव सहित कोई भी वस्तु- जैसे कि कोई फल, माला, इलायची आदि तो मेरे पास में नहीं है? अथवा कोई अनाज के दाने तो नहीं है? क्योंकि ये सब सचित पदार्थ हैं और इन्हें धर्मस्थान में नहीं ले जाना चाहिए।

धर्मस्थान में सचित वस्तु क्यों नहीं ले जानी चाहिए, यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है और इसमें भी रहस्य क्या है?

विज्ञान ने प्रमाणित किया है कि हरी वस्तुओ में, वनस्पति इत्यादि में भी जीव होता है। शास्त्रों में तो सदा से ही यह कथन हैं। किन्तु विज्ञान ने उसे अब स्वीकार किया है। तो ऐसी सजीव वस्तुओं का जब-जब भी मर्दन होता है तो उनमें पीड़ा की अनुभूति होती है। वह ध्वनि हमें सुनाई भले ही न दे, किन्तु उनकी अदृश्य प्रक्रियाएँ वातावरण में फैलती है और हमारे मन को उद्वेलित करती हैं।

आप एक छोटे बालक को यदि अपने साथ धर्मस्थान पर लाते हैं और उसे किसी भी प्रकार की कोई ठेस पहुँचती है तो वह स्वाभाविक रूप से रोने-चिल्लाने लगता है। उसकी आवाज आपको सुनाई देती है और आप उसे चुप कराने का प्रयत्न भी स्वाभाविक रूप से करेंगे ही। तो इससे आपके धर्म-श्रवण में बाधा पहुँचती है। उसी प्रकार सचित वस्तुओं के विषय में भी समझिए। अन्तर इतना ही है कि बालक की आवाज आप तक पहुँच जाती है, जबकि मूक, सचित्त वस्तुओं का क्रन्दन आप नहीं सुन पाते। किन्तु जैसा कि मैंने कहा, प्रतिक्रिया तो होती ही है, और उसका प्रभाव भी आपके मन पर पड़ता है।

ज्ञानियों ने कहा है कि चाहे जितना छोटे से छोटा प्राणी हो, उसके भीतर भी अध्यवसाय है, भावनाएँ हैं। भले ही भाव मन से ही क्यों न हो, किन्तु कष्ट होता है और वायुमण्डल में प्रक्रिया होती है। उसका प्रभाव मनुष्य के मन पर पड़ता है। परिणामतः यह उद्विग्न होता है।

अतः श्रावक सचित्त वस्तुओं को हटाकर समवसरण के बाहर रख देता है। इसी प्रकार से राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार आदि जब धर्मस्थान पर पहुँचते थे तो सचित्त वस्तुओं को हटाने के अतिरिक्त ऐसे वस्त्रालंकारों को भी उतार देते

थे जिनसे अभिमान प्रकट होता था। क्योंकि अभिमान युक्त पोशाक को धारण करते हुए भी मन को स्थिर नहीं रखा जा सकता। ऐसी स्थिति में धर्मश्रवण करते हुए भी अपने बड़प्पन का विचार बना रहता है और एकाग्रता नहीं वन पाती। चंचल मन को लेकर भला सत्संगति में भी मनुष्य वस्तु तत्व को किस प्रकार ग्रहण कर सकता है?

आगे कहा गया है कि अचित्त पदार्थ भी अभिगमन के है। मन को जो चंचल बनाने वाली वस्तुएँ हैं, भले ही वे अचित्त हों, लेकिन उन्हें भी वाहर ही उतार कर रख देना चाहिए। तलवार, बन्दूक आदि शस्त्र इन्हीं वस्तुओं के अन्तर्गत आते है। क्योंकि जब व्यक्ति की दृष्टि इन वस्तुओं पर पड़ेगी तो वह सोचेगा कि इस तलवार से शत्रु का शीश काटा जाता है। यह बन्दूक है, इससे गोली चलाकर शत्रु की छाती बेध दी जाती है, इत्यादि। अतः कोई भी अभिगमन की चीज हो तो उसे बाहर ही उतार कर रख दिया जाता है। धर्मस्थान में ऐसी वस्तुएँ नहीं ले जाई जाती।

अब धर्मस्थान में प्रवेश करने के पश्चात् तीसरे अभिगमन की दृष्टि से वह उत्तरासन लगा लेता है। यह शास्त्र का मूल पाठ है। इसका अभिप्राय यह है कि धर्मस्थान में बैठकर मुँह के सामने कपड़ा रखना चाहिए। आप कह सकते है कि जब वहाँ मौन बैठे हैं और बोल नही रहे है तो फिर कपड़े की क्या आवश्यकता है? तो भाई, बोल तो नहीं रहे हैं, किन्तु उबासी तो आदमी को आ सकती है। उबासी आ जाए, खाँसी आ जाए, और कोई मच्छर इत्यादि मुँह में चला जाए तो क्या हो? आपको खाँसना पड़ेगा, थूकना पड़ेगा। इस प्रकार से आपकी और अन्य श्रोताओं की एकाग्रता भंग होगी और शास्त्र-श्रवण का लाभ प्राप्त होने के स्थान पर अन्तराय कर्म का उल्टा बंध हो जाएगा।

प्राचीन काल एक विशेष युग था। सभ्यता का युग था। राजा-महाराजा भी उस सभ्यता का पूरा ध्यान रखते थे, और राजा-महाराजाओं के सामने भी दूसरे लोग जाते थे तो मुँह के सामने कपड़ा रखकर बोलते थे। इसे सभ्यता का चिन्ह माना जाता था। और यह पूर्णतः वैज्ञानिक बात थी। मुँह के खुले होने पर अनेक प्रकार के जहरीले जन्तु-कीटाणु मुँह में प्रवेश कर जाते हैं। कपड़ा रखने से उन कीटाणओं से रक्षा हो जाती है। अनेक प्रकार के छूत के रोगों की भी रक्षा हो जाती

होती है और वह 'धी' ऐसी पैनी बन जाती है कि अपने अन्दर रहने वाले तत्व को पहिचान सकती है। अन्य बातों को भी वह दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब की भांति स्पष्ट देख सकती है।

आप जानते है कि राडार नाम का एक यन्त्र होता है। इस यन्त्र द्वारा कोसों दूर तक से आने वाले वायुयानों का पता तत्क्षण लग जाता है। इसी प्रकार जिनकी बुद्धि में ऐसा रडार जैसा तत्व उत्पन्न हो जाता है, तो उनके नेत्र चाहे बन्द रहें कान बन्द रहे किन्तु वह दूर-दूर तक घटित होने वाली घटनाओं को सहज ही अपने मन में जान लेता है। इस ज्ञान का लाभ उसे यह मिलता है कि वह अपने मन की तथा बाहर की तमाम प्रवृत्तियों को पहिचान लेता है तथा हितावह स्थिति को ग्रहण करते हुए अनिष्टकारी पहिचान लेता है तथा हितावह स्थिति को ग्रहण करते हुए अनिष्टकारी स्थितियों से स्वयं को तथा अन्य को बचा सकता है।

इस प्रकार के कथन का आशय यह है कि हमारा लक्ष्य आत्मिक शान्ति प्राप्त करने का है। वह शान्ति का स्वरूप हमारे सामने प्रकट होना चाहिए। अब जहाँ तक प्रार्थना का प्रश्न है, चाहे वह अरहनथ कुंथुनाथ अथवा शान्तिनाथ भगवान की हो, उससे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। मूल बात यह है कि इससे हमारा मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य सुधरना चाहिए।

महाराज भीमनरेश का पुत्र रुकमकंवर मानसिक रोग का रोगी था। क्योंकि वह केवल स्थूल बुद्धि से सोचता था। प्राय: वह दूसरों के सिखाने-पढ़ाने आ जाता था और अपनी बुद्धि का उपयोग करना उसे आता ही नहीं था। महाराज भीमनरेश ने अपने कर्तव्य को सामने रखकर अपनी कन्या के विवाह के प्रसंग में सभी लोगों से उचित सलाह पूछी और अपनी सम्मति सबके विचारार्थ प्रकट की, तथा यह भी स्पष्ट किया कि उसमें स्वयं कन्या की सम्मति भी ले ली जानी चाहिए।

किन्तु रुक्मकंवर को अपने पिता की बात उचित नहीं लगी। वह मन ही मन श्रीकृष्ण की प्रशंसा सुनकर झुंझला रहा था। उसकी मुख मुद्रा से उसके हृदय का असन्तोष प्रकट हो रहा था। बन्धुओ! संसार में सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कि उत्तर पुरुषों के गुणगान से प्रसन्न होते हैं।

किन्तु कुछ लोग ऐसी हीन मनोवृत्ति वाले भी होते हैं जो कि दूसरों की उचित और सच्ची प्रशंसा सुनकर मन ही मन में जल उठते हैं। यह हीन मनोवृत्ति स्वयं उन्ही के अपरिपक्व मस्तिष्क तथा तुच्छ हृदय की द्योतक होती है।

रुक्मकंवर उन्हीं हीन मनोवृत्ति के लोगों में से था। श्रीकृष्ण जैसे महान पुरुष की योग्य प्रशंसा सुनकर भी वह मन के कुढ़ रहा था और सोच रहा था कि पिताजी की बुद्धि नष्ट हो गई है, तभी वे कृष्ण जैसे ग्वाले की प्रशंसा के पुल बाँध रहे है।

रुक्मकंवर का मस्तिष्क इस प्रकार से विकृत होने का कारण था- शिशुपाल की संगति। शिशुपाल से उसकी बचपन से ही मित्रता थी। शिशुपाल सदैव राजकुमार के सामने श्रीकृष्ण की बुराई किया करता था। वह कृष्ण से वैरभाव रखता था। शिशुपाल को कृष्ण के प्रति शत्रुता का भाव होने का भी कारण था वह कारण यह था कि वह महाराज जरासंन्ध का मित्र था। उसने अपनी बहिन कंस के साथ ब्याही थी। कंस अन्यायी और अत्याचारी था। जब कृष्ण ने जन्म लिया तो प्रजा को अन्याय और अत्याचार से बचाने के लिए उन्होंने कंस का वध किया। तो जरासन्ध यह सोचता था कि नन्द के यहाँ उत्पन्न होने वाले इस अहीर के छोकरे ने जब मेरे जमाई को ही परलोक पहुँचा दिया तो फिर यह मेरे राज्य को कैसे टिकने देगा?

इन्हीं कारणों से उसके मन में कृष्ण के प्रति भय और द्वेष ने स्थान बना लिया था। अतः वह साथी राजाओं के बीच इसी द्वेष के संस्कार फैलाता रहता था। इसी के परिणामस्वरूप शिशुपाल भी, जो कि कृष्ण का सम्बन्धी था, कृष्ण से बैर रखने लगा था। होना तो यह चाहिए था कि सम्बन्ध के कारण वह कृष्ण से प्रेम रखता। किन्तु हुआ इससे उल्टा ही। कृष्ण और शिशुपाल मामा-भुआ के भाई थे। किन्तु शिशुपाल तो कुसंगति में पड़ गया था।

संगति का प्रसंग आया है तो मुझे विचार आता है कि आजकल भाई-भाई भी आपस में प्रेम से एक साथ रहना भूलते जा रहे हैं। अनेक कारणों से ऐसा होता है, किन्तु भाई-भाई के आपस में मनमुटाव में ये बहिनें बड़ा.भाग अदा करती हैं। यदि इन बहिनों के धर्म के, प्रेम के संस्कार हों, तो वे घर आकर आनन्द की गंगा बहा देती है। लेकिन यदि वे तुच्छ बुद्धि वाली हों तो फिर वे घर को नरक

भी बना देती है। देखने में आता है कि भाई-भाई आपस में शामिल में व्यापार तो चला लेते है लेकिन उनके चूल्हे अलग-अलग हो जाते है। पूछने पर मालूम पड़ता है और वे कहते है कि क्या करें साहब, ये घर की लक्ष्मियाँ आपस में मिल जुलकर नहीं रह पाती।

बन्धुओ! यह बड़े ही दुःख की बात है। जिस जीवन में से प्रेम और अपनत्व की भावना समाप्त हो जाती है वह भी क्या कोई जीवन होता है। तुच्छ से तुच्छ बात पर प्रेम के व्यवहार को त्याग देना एक बुद्धिहीन व्यक्ति ही कर सकता है।

हाँ, कभी-कभी तो दस-दस भाई भी एक साथ बैठकर भोजन करते है। ऐसे घरों में कितना आनन्द होता होगा, कैसी प्रेम की गंगा प्रवाहित होती होगी? तो यह सब संगति का ही प्रताप है। यदि ये बहिनें अच्छी संगति से अच्छे संस्कार लेकर आएँ तो घर में संप बनाये रखकर उसे स्वर्गतूल्य बना सकती है और सबका कल्याण कर सकती है। नये घर में आते समय वे 'निस्सहि' कहकर अर्थात् मन के सारे मैल और कचरे को छोड़कर यदि आती हैं तो वह घर स्वर्ग बन जाता है। लेकिन यदि वे कचरे को साथ में लाती है तो फिर घर में महाभारत की स्थिति बन जाती है।

तो रुक्मकंवर शिशुपाल की संगति के कारण कृष्ण से शत्रुता का भाव अपने मन में रखता था। शिशुपाल के मन में कृष्ण के प्रति वैर होने का एक अन्य व्यक्तिगत कारण भी था। जब शिशुपाल का जन्म हुआ था तब ज्योतिषी उसकी कुण्डली बनाने को पहुँचे। कुण्डलियाँ बनाई गई। एक ज्योतिषी ने उसकी कुण्डली बनाकर कहा-

"राजमाता! ऐसे तो यह बालक बड़ा भाग्यशाली होगा, परन्तु ....।"

इस 'परन्तु' को राजमाता ने पकड़ लिया और पूछा- "साफ-साफ बताइये ज्योतिषी जी! इस परन्तु से आपका क्या आशय है? ज्योतिषी ने बात टालनी चाही, लेकिन राजमाता नहीं मानी। तब उस ज्योतिषी ने विवश हो कर स्पष्ट भविष्य कथन कर देना ही उचित समझा और कहा-

"राजमाता! अपराध क्षमा हो, किन्तु इस बालक का अन्त वासुदेव के हाथों होगा।"

यह सुनकर शिशुपाल की माता ने सोचा कि कृष्ण तो मेरा भतीजा है। मैं उसके पास जाकर शिशुपाल की रक्षा का वचन माँगूगी। यह निश्चय करके वह कृष्ण के पास गई और उसने बच्चे को झोली में रखकर अपने हाथ कृष्ण के सामने भिक्षा के लिए फैला दिये।

यह देखकर कृष्ण ने कहा- 'भुआजी! आप यह क्या कर रही है? आप मेरी भुआ होकर मेरे सामने हाथ क्यों फैला रही है?' तब शिशुपाल की माता ने कहा- 'कृष्ण, मैं तुमसे भिक्षा माँगती हूँ।'

'कैसी भिक्षा?'- कृष्ण ने पूछा।

"इस बालक के अपराध क्षमा किये जाए।" - माता ने कहा। तब कृष्ण ने फिर पूछा-'यह तो मेरा भाई है। और इसने अभी तो कोई अपराध किया भी नहीं है। तब क्षमा कैसी?' तब माता ने कहा-'अभी तो इसने कोई अपराध नहीं किया। किन्तु बड़ा होकर, कुसंगति में पड़कर यदि यह कोई अपराध कर बैठे तो तुम इसे क्षमा करना। बस यही भिक्षा मैं तुमसे माँगने आई हूँ।

श्रीकृष्ण ने परम उदार होकर अपनी भुआ को वचन दिया- "मैं इसके एक या दो नहीं, बल्कि निन्यानवे अपराध क्षमा कर दूंगा। बस, अब आप शान्तिपूर्वक पधारिये।"

शिशुपाल की माता परम सन्तुष्ट होकर लौट आई। किन्तु शिशुपाल जब बड़ा हुआ और उसे इस सारी घटना के विषय में मालूम पड़ा तो वह अपने अहंकार में कहने लगा कि वह मेरे निन्यानवे अपराध क्षमा करेगा, तो क्या मैं कोई भिखारी हूँ। अरे मैं भी उसी के समान एक राजा हूँ। मेरे अधीन भी और बहुत से राजा है। मुझे कृष्ण की कोई परवाह नहीं है। मैं उस ग्वाले से डरने वाला नहीं हूँ, आदि।

इसी प्रकार के बातें वह रुक्मकंवर के सामने किया करता था और कृष्ण की बुराइयाँ जी भर कर किया करता था। इसी कुसंगति के कारण रुक्मकंवर भी कृष्ण के विरुद्ध हो गया था।

तो महाराज भीमनरेश तो ज्ञानी थे। उन्होंने देखा कि सभा में उपस्थित अन्य सभी लोग उनके प्रस्ताव को सुनकर प्रसन्न हो उठे हैं, किन्तु अकेला राजकुमार अप्रसन्न दीख रहा है। अप्रसन्नता, असंतोष और द्वेष के भाव उसके चेहरे पर स्पष्ट प्रगट हो रहे है। तो महाराज ने अपने पुत्र के इस मानसिक रोग को बाहर निकाल देने के लक्ष्य से उससे स्पष्ट पूछ लिया-"क्यों राजकुमार! तुम शायद कुछ कहना चाहते हो। स्पष्ट कहो। क्या मेरा प्रस्ताव तुम्हें योग्य प्रतीत नहीं हुआ?

पिता का प्रश्न सुनकर राजकुमार का मुँह और भी फूल गया। उसने कहा-'पिताजी' इस विषय को आप यही समाप्त कर दीजिए। आपकी अवस्था भी अब काफी हो गई है। अतः आप बहिन के विवाह का उत्तरदायित्व अपने ऊपर मत लीजिए।

पुत्र का यह कटु उत्तर सुनकर भी महाराज ने तनिक भी बुरा न मानते हुए उसे समझाने और मानसिक विचार को दूर करने की दृष्टि से पुनः कहा-

'राजकुमार, मन्त्री के कहने से मैंने तो अपना विचार सबके सामने रखा है। यह मेरा निर्णय नही है। तुम सब लोग इस पर चिन्तन करो और अन्तिम निर्णय राजकन्या से भी ले लो, ऐसा ही मैंने कहा है। तो इस विषय में तुम्हारे भी जो विचार हों, उन्हें तुम सबके सामने निस्संकोच रख सकते हो।'

यह सुनकर राजकुमार ने कहा-'पिताजी।'! अब मै क्या कहूँ? आपने तो पहले ही अमंगलाचरण कर दिया है।'

पुत्र के ऐसा कहने पर राजा ने फिर से धैर्य सहित पूछा-

'मैंने कौन सा अमंगलाचरण किया है?'

'मैं कृष्ण को पसन्द नहीं करता'- बड़ी ही कटुता के साथ राजकुमार ने उत्तर दिया।

महाराज भीमनरेश बड़े धैर्यवान थे। वे प्रखर बुद्धि के स्वामी भी थे। अतः वे शान्ति के साथ बोले-

'राजकुमार'! मेरी बात ध्यान से सुनो। यदि तुम कृष्ण के साथ अपनी बहिन का विवाह नहीं करना चाहते तो भले ही मत करना। यह आगे की बात है। किन्तु किसी महापुरुष की निन्दा करने का पाप तो अपने सिर पर मत ओढ़ो। ऐसे त्रिखंडाधिपति का यदि तुम गुणगान नहीं कर सकते तो मत करो, किन्तु कम से कम उनकी झूठी निन्दा तो मत करो। तुम्हारे लिए यह योग्य बात नहीं है। क्या तुम बता सकते हो कि कृष्ण में कौन सा दूषण है, जिस कारण से तुम्हारा मन इस प्रकार चंचल हो रहा है और तुम्हारे हाथ-पैर और होठों में कम्पन्न भी हो रहा है? तुम आखिर इतने उत्तेजित क्यों हो? या तुम्हारी इस उत्तेजना का कोई आधार भी है? या तुम निराधार ही एक महापुरुष की झूठी निन्दा करने के दोष के भागी बनना चाहते हो?'

'राजकुमार! मैं कृष्ण के विषय में जानता हूँ। मैंने उनका अनुभव किया है। मैंने किसी भी स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, सर्वथा निस्वार्थ दृष्टि से बेटी के मंगलमय भविष्य की शुभ कामना करते हुए ही यह प्रस्ताव रखा है। फिर भी मेरा कोई आग्रह नहीं। मैं सबकी बातों को मिलाना चाहता हूँ और बेटी जो कि हमारे घर में लक्ष्मी के रूप में आई है, उसकी राय भी मिलाना चाहता हूँ। इसके जन्म लेते ही हमारे घर में और राज्य में सब प्रकार से सुख-समृद्धि की वृद्धि हुई है और मंगलमय स्थिति उत्पन्न हुई हैं। यह पुण्यात्मा है। इसी दृष्टि से मैं यह बात कह रहा हूँ।'

अतएव, राजकुमार! तुम अपने मन की बात स्पष्ट रूप से कहो और बताओ कि तुम कृष्ण में क्या दूषण देखते हो।

किन्तु मैं तुम्हे साथ ही साथ सावधान भी करता हूँ, और सलाह भी देता हूँ, कि किसी महापुरुष की निन्दा से बचो।'

अत्यन्त शालीनता और स्नेहपूर्वक महाराज भीमनरेश ने ये वचन कहे और अपने पुत्र की बात तथा उसका अभिप्राय जानने के लिए वे सचेष्ट हुए। वें जानते थे कि कुसंगति कारण ही राजकुमार के मन में कृष्ण के प्रति हीन भावनाएँ

भर गई है। अतः उसके मन के इस विचार को निकल जाने का अवसर प्रदान करना चाहिए।

राजा के मौन हो जाने पर मन्त्री ने राजकुमार को सम्बोधित करके निवेदन किया वे अपने मन के विचार सभा के सम्मुख उपस्थिति करें। उपस्थिति सभासद भी ध्यानपूर्वक राजकुमार की बात सुनने के लिए तत्पर हो गये। राजकुमार क्या कहते है- वे कृष्ण की निन्दा क्यों करते हैं, यह जानने के लिए सभी उत्सुक बन गये थे।

इस समय आज मैं आपसे इतना ही कहूँगा कि आप महाराज भीमनरेश को अपना आदर्श बना कर चलिए, निंदक राजकुमार को नहीं। यदि आप पाँच अभिगमन के साथ अपने जीवन को चलाएँगें तो अपना जीवन उत्कर्ष की ओर जा सकेगा।

–इत्यलम्।

ो के कारण, उनकी उपमा आपकी शान्ति से नहीं दी जा सकती है।
म साध्य समापन्न है। आप शाश्वत, ध्रुव, अटल शांति को प्राप्त कर
त: नाशमान पदार्थों के साथ आपकी तुलना किस भांति दी जा सकती

पमा देने के प्रयत्न द्वारा संसार को प्रभु का स्वरूप कुछ समझाने की
हा गया है कि संसार में जितने भी पदार्थ है, वे अन्धकारपूर्ण है। हाँ,
लौ प्रकाशयुक्त है। और प्रकाशयुक्त तत्व की उपमा यदि प्रकाश के
ज भगवान से दी जाए तो कुछ संकेत मनुष्य को प्राप्त हो सकता है।
पक की लौ के साथ भगवान की उपमा देने का विचार करने पर कवि
कि नहीं, यह उपमा तो ठीक प्रतीत नहीं होती। क्योंकि दीपक तो, तैल,
दि सामग्री की सहायता से ही प्रकाशित होता है। जब वह सामग्री समाप्त
है तो वह बुझ जांता है। तो प्रभु की दिव्य, अखण्ड ज्योति से ऐसी क्षणिक
की उपमा कैसे दी जाए?

आगे विचार की श्रृंखला चली तो कवि ने सोचा कि बिना किसी सामग्री
ायता अथवा आधार के तो आकाश के तारे चमकते है। यदि प्रभु की उपमा
ारों से दी जाए तो कैसा हो? किन्तु अनुसंधान आगे चलता है और कवि को
आता है कि तारे तो केवल रात्रि में ही टिमटिमाते हैं और प्रातः काल छिप
है। जब कि प्रभु की दिव्य ज्योति तो अखण्ड प्रकाशित रहती है। अतः यह
ा भी ठीक नहीं है।

आगे सोचा गया कि तारों से बढ़कर चन्द्रमा है। यह शीतल भी है। किन्तु
मा में यह कमी है कि वह भी पाडुवर्ण हो जाता है। सूर्य के उदय होने पर
फीका पड़ जाता है। उसकी ज्योति घटती-बढ़ती भी रहती है। अतः प्रभु की
ाति की तुलना चन्द्र से भी नहीं हो सकती।

ऐसी स्थिति में सूर्य से यदि प्रभु की उपमा दी जाए तो कैसा रहे? सूर्य
प्रकाश इन सबसे बढ़कर है। किन्तु नहीं, सूर्य की उपमा भी भगवान के लिए
क्त नहीं कही जा सकती। क्योंकि यद्यपि उसका प्रकाश तेज है, लेकिन वह
बहुत ताप और कष्ट भी देता है। ग्रीष्म ऋतु में यदि कोई व्यक्ति धूप
तो उसका शरीर जलने लगें। इसके अतिरिक्त सूर्य भी उदित होता

भगवान के तूल्य शक्ति को प्राप्त करना चाहता है, उसे भगवान के परम धर्म को समझना होगा। इसीलिए कवि ने संकेत दिया है-"परम धर्म अरहनाथ ने .... .!"- भगवन्! आपका वह परम धर्म मैं कैसे जानूँ? स्व पर की दृष्टि से वह धर्म मुझे समझाइये। तो जो भी व्यक्ति भगवान अरहनाथ के तुल्य बनना चाहते है, उसे उस परम धर्म को स्व पर के ज्ञान के साथ जानना चाहिए।

स्व-समय और पर-समय की स्थिति को काल की दृष्टि से नहीं लेना है। यहाँ स्व-समय से तात्पर्य है आत्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन और पर समय का तात्पर्य आत्मा से भिन्न जो पदार्थ हैं, उनके प्रतिपादन से हैं। ये पदार्थ नाशमान है, उन नाशमान तत्वों का भी एक सिद्धान्त है- वह सिद्धान्त नाशमान तत्वों ने नहीं वनाया, वे तो जड़ स्वरूप है। परन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा ने अपनी समग्र शक्ति का विकास करके जड़ के अन्दर रहने वाले स्वरूप का भी प्रतिपादन किया है। इन चैतन्य से शून्य जड़ पदार्थों में जो भिन्न-भिन्न धर्म बताये गये हैं वे आध्यात्मिक दृष्टि से न होकर उन वस्तुओं में रहने वाले वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और वस्तु स्वभाव की दृष्टि से है। कहा है-"वत्थु सहावो धम्मो।' वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। उसे बताने वाला चैतन्य स्वरूप हैं। यह चैतन्य जिसने कि स्व-समय के परम धर्म को पूर्णरूप से प्राप्त कर लिया है। कहा गया है-

"परम साध्य .... स्व-समय .... उत्तम।"

जो शास्त्र आत्मा की साध्य अवस्था को प्राप्त करा देता है वह स्व-सयम है। वह स्व-समय अनुपम है। उनके लिए कोई भी उपमा नहीं दी जा सकती उनके समान अथवा उनसे वढ़कर कोई भी उत्तम तत्व नहीं है। उस स्वरूप को व्यक्त करते हुए मानतुंग आचार्य ने लिखा है-"सूर्यातिशायि महिमासि मुनीन्द्र! लोके।"

भगवन्! आपकी महिमा अनुपम है। इस विश्व में आपकी महिमा का गुणगान करने के लिए योगी लोग अपनी योग साधना के वल से चलते रहें, किन्तु फिर भी आपकी महिमा का ज्ञान वे पूर्णरूप से नहीं कर सकते है। हे मुनीन्द्र!- मुनियों में इन्द्र के समान- आपकी महिमा की उपमा देने के लिए कोई तत्व नहीं है। संसार में जितने भी पदार्थ है, जो कि इन चर्मचक्षुओं से दिखाई दे रहे है, जिन्हें मनुष्य अपने हाथ से छू रहा है, कान से सुन रहा है, जीभ से चख रहा है, नासिका से सूंघ रहा है और स्पर्श-इन्द्रिय से स्पर्श कर रहा है- वे सभी पदार्थ

नाशमान होने के कारण, उनकी उपमा आपकी शान्ति से नहीं दी जा सकती है। आप तो परम साध्य समापन्न है। आप शाश्वत, ध्रुव, अटल शांति को प्राप्त कर चुके है। अतः नाशमान पदार्थों के साथ आपकी तुलना किस भांति दी जा सकती है?

उपमा देने के प्रयत्न द्वारा संसार को प्रभु का स्वरूप कुछ समझाने की दृष्टि से कहा गया है कि संसार में जितने भी पदार्थ है, वे अन्धकारपूर्ण है। हाँ, दीपक की लौ प्रकाशयुक्त है। और प्रकाशयुक्त तत्व की उपमा यदि प्रकाश के अनन्त पुँज भगवान से दी जाए तो कुछ संकेत मनुष्य को प्राप्त हो सकता है। लेकिन दीपक की लौ के साथ भगवान की उपमा देने का विचार करने पर कवि ने सोचा कि नहीं, यह उपमा तो ठीक प्रतीत नहीं होती। क्योंकि दीपक तो, तैल, बत्ती आदि सामग्री की सहायता से ही प्रकाशित होता है। जब वह सामग्री समाप्त हो जाती है तो वह बुझ जांता है। तो प्रभु की दिव्य, अखण्ड ज्योति से ऐसी क्षणिक ज्योति की उपमा कैसे दी जाए?

आगे विचार की श्रृंखला चली तो कवि ने सोचा कि बिना किसी सामग्री की सहायता अथवा आधार के तो आकाश के तारे चमकते है। यदि प्रभु की उपमा इन तारों से दी जाए तो कैसा हो? किन्तु अनुसंधान आगे चलता है और कवि को विचार आता है कि तारे तो केवल रात्रि में ही टिमटिमाते हैं और प्रातः काल छिप जाते है। जब कि प्रभु की दिव्य ज्योति तो अखण्ड प्रकाशित रहती है। अतः यह उपमा भी ठीक नहीं है।

आगे सोचा गया कि तारों से बढ़कर चन्द्रमा है। यह शीतल भी है। किन्तु चन्द्रमा में यह कमी है कि वह भी पाडुवर्ण हो जाता है। सूर्य के उदय होने पर वह फीका पड़ जाता है। उसकी ज्योति घटती-बढ़ती भी रहती है। अतः प्रभु की ज्योति की तुलना चन्द्र से भी नहीं हो सकती।

ऐसी स्थिति में सूर्य से यदि प्रभु की उपमा दी जाए तो कैसा रहे? सूर्य का प्रकाश इन सबसे बढ़कर है। किन्तु नहीं, सूर्य की उपमा भी भगवान के लिए उपयुक्त नहीं कही जा सकती। क्योंकि यद्यपि उसका प्रकाश तेज है, लेकिन वह संसार को बहुत ताप और कष्ट भी देता है। ग्रीष्म ऋतु में यदि कोई व्यक्ति धूप में खड़ा हो जाए तो उसका शरीर जलने लगें। इसके अतिरिक्त सूर्य भी उदित होता

है और अस्त हो जाता है। तथा सूर्य पर भी आवरण आ जाता है, उसे भी ग्रहण लग जाता है। जब कि प्रभु तो अनन्त निरावरण शक्ति से सम्पन्न है। उनके प्रकाश को कोई छिपा नहीं सकता।

तो कवि सोचता है कि भगवान्! मेरी दृष्टि में यह तो चमकता हुआ सूर्य है, ऐसे अनेक सूर्य, बल्कि ऐसे अनन्त सूर्य भी यदि एक तरफ हों और दूसरी ओर आपकी आत्मा के स्वरूप का प्रकाश हो तो भी वे अनन्त सूर्य आपके अनन्त प्रकाश की तनिक भी समानता नहीं कर सकते।

तब आखिर आपके परम धर्म का स्वरूप मैं अपनी कल्पना में कैसे लाऊँ?

तो उस अनन्तशक्ति स्वरूप को जिस समय मैं स्व-समय के रूप को समझ लूँगा, तभी किसी सीमा तक जान सकूँगा।

अतः बन्धुओ! भगवान अरहनाथ के परम धर्म का स्वरूप हमारे हृदय में तभी अवकाश पा सकता है जबकि हम स्व-समय और पर-समय की दृष्टि को अपने जीवन में पूर्व स्थान दें। ऐसी दृष्टि बना लेने पर ही हम इन नाशवान पदार्थों के चक्र से छूट सकते हैं और अपने अज्ञान के आवरण को हटाकर अपने ही दिव्य स्वरूप को प्राप्त कर सकते है।

भाइयो! शास्त्रों में ज्ञान का भण्डार भरा पड़ा है। उसका उपयोग करना हमारे हाथ में है। जितना भी दोहन हम इनका करें, उतना ही अमृत हम प्राप्त कर सकते है। इसीलिए बार-बार मैं आपका ध्यान इस शास्त्रीय गाथा की ओर ले जाता हूँ-

"तस्सेस मग्गो गुरु विद्धसेवा ....।"

मूल गाथा की दृष्टि से जो आत्मा की बात चल रही है तो बताया गया है कि मानव! यदि तू अपने जीवन में शान्ति के स्वरूप को समझना चाहता है तो भगवान अरहनाथ के परम धर्म को जीवन में स्थान दे और उस परम धर्म को यदि जीवन में साकार रूप देना है तो वह स्व-समय का स्वरूप, सिद्धान्त की दृष्टि मन-मस्तिष्क में प्रवेश करनी चाहिए।

किन्तु यह कैसे हो सकता है? तो ऐसा सम्भव बनाने के लिए सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। इस चिन्तन से जिस रस की उत्पत्ति होगी उससे

जीवन की मुरझाती हुई बगिया को फिर से हरा-भरा बनाया जा सकता है। आप प्रायः देखते है कि मनुष्य ऊपर देखने में तो बड़ा प्रफुल्ल चित्त, प्रसन्न एवं स्वस्थ दिखाई देता है, किन्तु भीतर ही भीतर मुरझाया हुआ चिन्तित एवं मानसिक रूप से अस्वस्थ होता है। कुछ निमित्त होने पर वह थोड़ी देर के लिए प्रसन्न होता है, किंतु फिर कुछ ही समय पश्चात वापिस कुम्हला जाता है। मानव की आज की दशा यही है। इसका कारण यही है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते और इस हाड़-माँस के पुतले को ही सब कुछ मानकर 'क्षणे रुष्टाः, क्षणे तुष्टाः'- अर्थात्, क्षण में रुष्ट और क्षण में तुष्ट होते रहते है। परम तत्व को समझने की चेष्टा जो आत्माएँ नहीं करती उनकी ऐसी ही दशा होती है। वे इन नाशवान पदार्थों से ही चिपकी रहती है। इस प्रकार वे अपनी वास्तविक, विशाल प्रसन्नता को नहीं जान पाती। इस स्थिति से बचने के लिए सूत्र-अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। यह चिन्तन किस प्रकार किया जाए?

इसके लिए मैं कह चुका हूँ कि जहाँ कहीं नय-निक्षेप, प्रमाण की स्थितियाँ हैं तो उनको ध्यान में रखते हुए चिन्तन किया जाए। वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए नयों का ज्ञान भी अवश्य होना चाहिए। वह केवल स्व-समय का ही नहीं, पर-समय का ही नहीं, परन्तु वर्तमान का मुरझाहट को समझने के लिए भी आवश्यक है।

आज मनुष्य का आत्म-ज्ञान रूपी दीपक बुझ रहा हैं किन्तु यदि उसके भीतर वह परम साध्य का सिद्धान्त प्रवेश कर जाए और वह दृढ़ता के साथ अचलता की ओर आ जाए तो वह दीपक पुनः आलोकित हो सकता है। इसी के लिए सूत्र-अर्थ के चिन्तन की आवश्यकता है। ऐसा होने से वह प्रकाश तीव्र बनेगा। मनुष्य की बुद्धि परम स्वरूप का द्योतन करने वाली है। वह शक्ति आपके पास हैं। उस शक्ति को आगे बढ़ाइये और अनुसंधान में दत्त-चित्त हो जाइये तो वह दीपक जलेगा और उसका प्रकाश चारों ओर फैलेगा।

मैं आपको शान्तिनाथ भगवान का स्वरूप बता रहा हूँ। आपको समझने में कुछ कठिनाई हो सकती है और आप सोच सकते हैं कि यह स्व-समय और पर क्या है? किन्तु घबराइये नहीं। शान्तिपूर्वक इन शब्दों के अर्थ और मर्म की चेष्टा कीजिये। तभी आप शास्त्रों के ज्ञान का लाभ ले सकेंगे।

शास्त्रों को तो कामधेनु की उपमा दी जा सकती है। इससे आप इच्छानुसार दूध प्राप्त कर सकते है। वैसे यह उपमा पूर्णतया योग्य नहीं है। इसी प्रकार चिन्तामणि रत्न की उपमा यदि शास्त्र को दी जाए तो वह भी पूर्णतया उपयुक्त नहीं ठहरती। हाँ, यदि शास्त्र को चैतन्य चिन्तामणि खजाने की उपमा दें तो वह कुछ उपयुक्त कही जा सकती है। प्रतिदिन नवीन से नवीन सारतत्व इससे प्राप्त किया जा सकता है।

किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि शास्त्र के अध्ययन से अभिप्राय केवल अक्षर-वाचन से ही नहीं लेना है। क्योंकि अक्षर तो मात्र निमित्त है। वे तो कुछ भी अपने आप बोलते नहीं। किन्तु उनमें रहने वाला जो अर्थ है, उसके दोहन की कला आनी चाहिए। वह कला और शक्ति आत्मा के पास ही हो सकती है। आत्म स्वरूप सत्चित, आनन्दघन से परिपूर्ण है। इस उच्च स्थिति तक पहुँचने के लिए सबसे पहले उचित भूमिका का निर्माण होना चाहिए। इसके लिए बुद्धि का निर्मल होना आवश्यक है। निर्मल बुद्धि से ही शास्त्र का अर्थ निकल सकता है, दोहन हो सकता है, स्व-समय का साध्य पहिचाना जा सकता है।

इस दृष्टि से मानव-तन का महत्व अत्यधिक है। इसीलिए कहा गया है कि बिना मानव तन के यह दोहन नहीं हो सकता है। वह मक्खन प्राप्त नहीं हो सकता है। और मानव शरीर जब है तब मानव शरीर के साथ लगने वाला जो तत्व है उसका संकेत भी शास्त्रों ने दिया है और कहा गया है कि गुरु के पास बैठकर शास्त्रों का चिन्तन-मनन करना चाहिए, और बुद्धि को तामसिक या राजसीवृत्ति से हटाकर सात्विक वृत्ति ही बनाकर ही ऐसा अध्ययन करना चाहिए।

कहा गया है-''मितमेषणीयं आहार मिच्छेत् ....।'' आहारमिच्छेमियमेसणिज्जं मनुष्य-जीवन में आहार का महत्व भी कम नहीं है। भोजन ऐसा करना चाहिए। जिससे हमारी आत्मिक शक्ति का विकास हों। भोजन करना तो सहज ही है। किन्तु वह भोजन कैसा करना, कितनी मात्रा में करना और किस समय करना इत्यादि बातें बड़ी महत्वपूर्ण है। इन बातों का समुचित विचार किये बिना ही यदि कोई मनुष्य जो जी में आये वही पदार्थ खाता रहता है तो उसके भोजन करने और पशु के भोजन में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। एक पशु घास खाता है, बिनौला खाता है। आप कहतें है कि पशु बाँटा खा रहा है।

किन्तु आप जब कोई पदार्थ स्वयं खाते है तो कहते है कि हम भोजन कर रहे है। देखा जाए तो जो दूध आप पीते हैं या जो वेजीटेबिल घी आप खाते हैं, वह घास का ही पदार्थ है। लेकिन पशु के तथा आपके खाने में अन्तर क्या है। आपके भोजन की विशेषता क्या है जिससे आप पशु के खाने तथा अपने भोजन करने में फर्क करते हैं?

एक अन्तर तो यह है कि बेचारा पशु एक यन्त्र की तरह खाता है और जिधर कोई हाँक दे, उधर ही चला जाता है। उपयोगिता और अनुपयोगिता की बात को वह नहीं समझता है।

इसी प्रकार "आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च"- आहार, निद्रा, भय और मैथुन- ये चारों बातें मनुष्य तथा पशु दोनों में ही पाई जाती हैं किन्तु फिर भी हम पशु से अपने को भिन्न मानते हैं और उसके आहार को घास बाँटा कहते हैं और अपने आहार को भोजन। यह अन्तर आप किस आधार पर करते है? पशु भी नींद लेता है, आप भी सोते है। बल्कि अधिकांश में देखा जाए तो पशु मनुष्यों से अधिक सुखपूर्ण, शान्तिपूर्ण निन्द्रा ले पाता है। सूखी, कड़ी धरती पर भी वह निश्चिन्त होकर सो जाता है, जबकि मनुष्य को नर्म बिछौना पर भी नींद नसीब नहीं होती । इसी प्रकार से भय और मैथुन की भी स्थिति है। तब आखिर पशु के खाने और अपने भोजन में आप अन्तर किस प्रकार समझ सकते है?

वह अन्तर इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि मनुष्य जो कुछ भी कार्य करता है, वह परम धर्म के लक्ष्य को लेकर करता है। वह जो कुछ भी भोजन करता है वह सात्विक होता है, मित और ऐषणिक होता है तथा शरीर की रक्षा करते हुए उसकी आत्मा को उच्चतम शुद्धता की स्थिति की ओर ले जाने वाला होता है। यदि कोई मनुष्य इस स्थिति के विरूद्ध चलता है और अखाद्य खाता रहता है, असमय खाता रहता है, तो उसकी स्थिति एक पशु की स्थिति से बेहतर कभी नहीं हो सकती। ऐसे मनुष्य के लिए तो यही कहना होगा कि वह आहार ग्रहण नहीं करता, बल्कि घास खाता है।

अतः वन्धुओ! अपनी मानव-स्थिति को जानिये और प्रमाणित कीजिये कि आप पशु से श्रेष्ठ है। मनुष्य के हृदय में जो धर्म है, वही उसे पशु से भिन्न एवं श्रेष्ठ सिद्ध कर सकता है। अतः जब भगवान अरहनाथ का परम धर्म मनुष्य

शास्त्रों को तो कामधेनु की उपमा दी जा सकती है। इससे आप इच्छानुसार दूध प्राप्त कर सकते है। वैसे यह उपमा पूर्णतया योग्य नहीं है। इसी प्रकार चिन्तामणि रत्न की उपमा यदि शास्त्र को दी जाए तो वह भी पूर्णतया उपयुक्त नहीं ठहरती। हाँ, यदि शास्त्र को चैतन्य चिन्तामणि खजाने की उपमा दें तो वह कुछ उपयुक्त कही जा सकती है। प्रतिदिन नवीन से नवीन सारतत्व इससे प्राप्त किया जा सकता है।

किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि शास्त्र के अध्ययन से अभिप्राय केवल अक्षर-वाचन से ही नहीं लेना है। क्योंकि अक्षर तो मात्र निमित्त है। वे तो कुछ भी अपने आप बोलते नहीं। किन्तु उनमें रहने वाला जो अर्थ है, उसके दोहन की कला आनी चाहिए। वह कला और शक्ति आत्मा के पास ही हो सकती है। आत्म स्वरूप सत्‌चित, आनन्दघन से परिपूर्ण है। इस उच्च स्थिति तक पहुँचने के लिए सबसे पहले उचित भूमिका का निर्माण होना चाहिए। इसके लिए बुद्धि का निर्मल होना आवश्यक है। निर्मल बुद्धि से ही शास्त्र का अर्थ निकल सकता है, दोहन हो सकता है, स्व-समय का साध्य पहिचाना जा सकता है।

इस दृष्टि से मानव-तन का महत्व अत्यधिक है। इसीलिए कहा गया है कि बिना मानव तन के यह दोहन नहीं हो सकता है। वह मक्खन प्राप्त नहीं हो सकता है। और मानव शरीर जब है तब मानव शरीर के साथ लगने वाला जो तत्व है उसका संकेत भी शास्त्रों ने दिया है और कहा गया है कि गुरु के पास बैठकर शास्त्रों का चिन्तन-मनन करना चाहिए, और बुद्धि को तामसिक या राजसीवृत्ति से हटाकर सात्विक वृत्ति ही बनाकर ही ऐसा अध्ययन करना चाहिए।

कहा गया है-''मितमेषणीयं आहार मिच्छेत् ....।'' आहारमिच्छेमियमेसणिज्जं मनुष्य-जीवन में आहार का महत्व भी कम नहीं है। भोजन ऐसा करना चाहिए। जिससे हमारी आत्मिक शक्ति का विकास हों। भोजन करना तो सहज ही है। किन्तु वह भोजन कैसा करना, कितनी मात्रा में करना और किस समय करना इत्यादि बातें बड़ी महत्वपूर्ण है। इन बातों का समुचित विचार किये बिना ही यदि कोई मनुष्य जो जी में आये वही पदार्थ खाता रहता है तो उसके भोजन करने और पशु के भोजन में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। एक पशु घास खाता है, बिनौला खाता है। आप कहतें है कि पशु बाँटा खा रहा है।

किन्तु आप जब कोई पदार्थ स्वयं खाते है तो कहते है कि हम भोजन कर रहे है। देखा जाए तो जो दूध आप पीते हैं या जो वेजीटेबिल धी आप खाते हैं, वह घास का ही पदार्थ है। लेकिन पशु के तथा आपके खाने में अन्तर क्या है। आपके भोजन की विशेषता क्या है जिससे आप पशु के खाने तथा अपने भोजन करने में फर्क करते हैं?

एक अन्तर तो यह है कि बेचारा पशु एक यन्त्र की तरह खाता है और जिधर कोई हाँक दे, उधर ही चला जाता है। उपयोगिता और अनुपयोगिता की बात को वह नहीं समझता है।

इसी प्रकार "आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च"- आहार, निद्रा, भय और मैथुन- ये चारों बातें मनुष्य तथा पशु दोनों में ही पाई जाती हैं किन्तु फिर भी हम पशु से अपने को भिन्न मानते हैं और उसके आहार को घास बाँटा कहते हैं और अपने आहार को भोजन। यह अन्तर आप किस आधार पर करते है? पशु भी नींद लेता है, आप भी सोते है। बल्कि अधिकांश में देखा जाए तो पशु मनुष्यों से अधिक सुखपूर्ण, शान्तिपूर्ण निन्द्रा ले पाता है। सूखी, कड़ी धरती पर भी वह निश्चिन्त होकर सो जाता है, जबकि मनुष्य को नर्म बिछौना पर भी नींद नसीब नहीं होती । इसी प्रकार से भय और मैथुन की भी स्थिति है। तब आखिर पशु के खाने और अपने भोजन में आप अन्तर किस प्रकार समझ सकते है?

वह अन्तर इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि मनुष्य जो कुछ भी कार्य करता है, वह परम धर्म के लक्ष्य को लेकर करता है। वह जो कुछ भी भोजन करता है वह सात्विक होता है, मित और ऐषणिक होता है तथा शरीर की रक्षा करते हुए उसकी आत्मा को उच्चतम शुद्धता की स्थिति की ओर ले जाने वाला होता है। यदि कोई मनुष्य इस स्थिति के विरूद्ध.चलता है और अखाद्य खाता रहता है, असमय खाता रहता है, तो उसकी स्थिति एक पशु की स्थिति से बेहतर कभी नहीं हो सकती। ऐसे मनुष्य के लिए तो यही कहना होगा कि वह आहार ग्रहण नहीं करता, बल्कि घास खाता है।

अतः बन्धुओ! अपनी मानव-स्थिति को जानिये और प्रमाणित कीजिये कि आप पशु से श्रेष्ठ है। मनुष्य के हृदय में जो धर्म है, वही उसे पशु से भिन्न एवं श्रेष्ठ सिद्ध कर सकता है। अतः जब भगवान अरहनाथ का परम धर्म मनुष्य

में आ जाता है तभी वह उसकी वास्तविक मानव-स्थिति होती है। उसी स्थिति में मनुष्य का खाना, भोजन अथवा आहार है। ऐसा आहार मित और ऐषणिक होना चाहिए। जो मनुष्य भक्ष्य-अभक्ष्य का तथा हिताहित का बोध नहीं रखता वह पशु से उत्तम किस प्रकार से कहा जा सकता है?

उत्तम मानव स्थिति में रहने के लिए संगति का महत्वूपर्ण हिस्सा निभाती है। महाराज की राज्यसभा में युवराज रुक्मकंवर एक ऐसा व्यक्ति था जो राज-परिवार में उत्पन्न हुआ था, उसे अच्छी शिक्षा दिलाई गई थी, किन्तु कुसंगति में पड़ जाने के कारण उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी और वह धर्म से शून्य था। स्वयं अपने हिताहित का ज्ञान उसे नहीं था। इसी दोष के कारण वह त्रिखंडाधिपति वासुदेव जैसे महापुरुष के लिए भी अपमानजनक शब्द बोलने में नहीं हिचकिचाया। महाराज भीमनरेश ने जब उससे पूछा कि वह वासुदेव कृष्ण में क्या दोष देखता है, तबं वह बोला-

''कृष्ण में अनेक दोष पाए जाते है। वह ग्वाला है, गाएँ चराने वाला है। गोकुल में रहकर उसने ग्वालों का झूठा खाया है। उनसे मक्खन की चोरी की है. ... इत्यादि।

बन्धुओ! रुक्मकंवर ने कृष्ण की गाएँ चराने की स्थिति देखी किन्तु उनके अन्तःकरण को नही देखा। अन्तःकरण को देखने लायक बुद्धि ही उसमें शेष नहीं रही थी। आप स्वयं ही सोच सकते है कि क्या गाएँ चराने वाला या गायों की रक्षा करने वाला व्यक्ति किसी प्रकार से हीन है? क्या उसमें कुछ अवगुण आ जाते है? रुक्मंकवर को यह कार्य छोटा और हीन प्रतीत हुआ होगा। किन्तु सम्यग्दृष्टि रखने वाले कृष्ण की दृष्टि में सभी जीव समान थे। वे तो गायों को भी अपनी आत्मा के तुल्य ही देखते थे। इसी प्रकार से कृष्ण ने किसी का धन नहीं चुराया। बाल-लीला की दृष्टि से वे मक्खन खाते थे और दूसरे बालकों को खिलाते थे। उसमें उनकी भावना कोई चोरी की नहीं थी। किन्तु युवराज की दृष्टि पर तो एक ऐसा आवरण पड़ा हुआ था कि उसे कृष्ण के दोष ही दिखाई देते थे। श्रीकृष्ण की सम्यग् दृष्टि को वह समझ नहीं पाता था। इसी कारण से वह उनकी निन्दा कर रहा था। वह कहता था-''कृष्ण को अपना बहनोई बनाना तो दूर, मैं तो उसके पास बैठना भी पसन्द नहीं करता।''

भाइयो! रुक्मकंवर के ऐसा कहने के पीछे उसकी स्वयं की दृष्टि उतनी नहीं थी, जितनी कि कुसंगति का प्रभाव। शास्त्रों ने कहा है कि जो दुष्ट आचार रखता है और दुर्व्यसनी है, वह भी वालक जन है। बाल-जीव है। ऐसे व्यक्ति के साथ जो अन्य व्यक्ति रहता है। वह भी वैसे ही दुर्गुण ग्रहण कर लेता है। तम्बाकू पीने वाले के पास रहने वाला तम्बाकू पीना सीख जाता है। भँगेड़ी के साथ रहने वाला भँगेड़ी वन जाता है। इसी प्रकार शिशुपाल के साथ रहकर रुक्मकंवर भी विगड़ गया था और श्रीकृष्ण से ईर्ष्या करने लगा था।'

युवराज की ये अटपटी और अप्रिय बातें सुनकर उपस्थित सभी सभासद अशान्त हो रहे थे। किन्तु वे सभ्य थे। समझदार थे। वे जानते थे कि सभा में बिना आदेश के कुछ नहीं बोलना चाहिए और जव उनसे अपने विचार व्यक्त करने के लिए कहा जाए, तभी वोलना चाहिए। वे जानते थे कि सभा में स्वयं महाराज विराजमान है। वे वुजुर्ग हैं, ज्ञानी है। जैसी भी परिस्थिति होगी, उसका निराकरण वे स्वयं करेंगे। उनकी आज्ञा के विना हमें एक शव्द भी नही बोलना चाहिए। अतः वे सव सभासद शान्त वैठे रहे।

महाराज भीम नरेश चाहते थे कि युवराज को समझाया जाए। वे राज्य पंडित थे। धर्म की दृष्टि रखने वाले थे। अतः वे युवराज के अप्रिय शब्दों से उत्तेजित नही हुए और उन्होंने अपने मस्तिष्क का सन्तुलन तनिक भी बिगड़ने नहीं दिया। अत्यन्त शान्ति एवं धैयपूर्वक उन्होंने मधुर वाणी में कहा-

''तुम अभी वालक हो। तुम श्रीकृष्ण के गुणों के विषय में जानते नहीं हो। पहले तुम उनसे सम्पर्क में रहकर उनके विषय में जानकारी कर लो, फिर उसके वाद में ही कुछ कहना। अभी केवल सुनी-सुनाई वातों को लेकर तुम जो कुछ भी कह रहे हो, वह अनुचित है। कुसंगति में रहने के कारण तुम ऐसा वोल रहे हो, यह टीक नहीं है। देखो, उनकी शक्ति अपरम्पार है। खेल-कूद में वे तोड़-फोड़ करते थे तो माता यशोदा के वर्तन-भाँड़े ही तोड़ देते थे, अन्य जनता की हानि नहीं करते थे। इसी प्रकार यशोदा भी खेल-खेल में ही उन्हें मूसल से वाँध देती थी। किन्तु कौन नहीं जानता कि कंस की ओर से जव दुष्टा पुतना कृष्ण को मारने के लिए गई और अपने जहरीले दूध से उनके प्राण लेना चाहती थी तो उन्होनें ऐसा दूध पिया कि उस विद्याधरनी के प्राण भी वे दूध के साथ ही पी गए और

पूतना उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकी।

"अस्तु, रुक्मकंवर! उनकी महिमा अनन्त है। कुछ समझने का प्रयत्न करो। उनके दर्शन करके विचार करो। व्यर्थ ही ग्वाला-ग्वाला कहकर उनकी निन्दा करके पाप का संचय मत करो। वे स्वर्णमयी नगरी के स्वामी है, जिसका निमार्ण स्वयं कुबेर ने किया है। नेमिनाथ और बलभद्र जैसे उनके भ्राता है। उन भाइयों में मानवता, भ्रात-प्रेम और धर्म भावना भरी हुई है। वे धर्म और न्याय नीति के साथ चलते है। उनका आहार ही वस्तुतः मानव का आहार है, क्योंकि वे मित और ऐषणिक आहार ग्रहण करते हैं। अतः पुत्र! तुम उनके पास रहकर उन्हें जानने का प्रयत्न करो।"

महाराज भीमनरेश चाहते थे कि रुक्मकंवर एक अज्ञानी बाल-जीव ही न रह जाए। अतः वे प्रेम एवं धैयपूर्वक उसे समझाने का प्रयत्न कर रहे है। परिणांम क्या निकलता है वह अभी भावी के गर्भ में है।

-इत्यलम्।

****

16

धर्म और धैर्य

असंखय जीविय मा पमायए
-अरहनाथ भगवान की प्रार्थना
धर्म परम अरहनाथ ने ....

प्रभु अरहनाथ भगवान के चरणों में यह प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण हुआ है। हमारी आत्मा में भी परिपूर्ण शक्ति का भंडार है। अरहनाथ भगवान की आत्मा मे जो सम्पूर्ण स्वरूप विद्यमान है, वैसा ही हमारी आत्मा में भी है। एक पैसा तो क्या, एक पाई की भी कमी उसमे नहीं है। और एक पाई तो क्या, पाई के अनन्तवें भाग के बराबर की कमी उसमें नहीं है। आवश्यकता इतनी ही है कि हमारी आत्मा भी अरहनाथ भगवान के स्वरूप को समझकर उनके परम धर्म के मर्म को पहिचान जाए।

किन्तु दुर्भाग्य यही है कि यह आत्मा अनादिकाल से अपने स्वरूप का विस्मरण करके उस बाह्य स्वरूप की ओर रमण कर रही है जो उसका अपना नहीं है। वाह्य पदार्थ इधर से उधर होते रहते हैं और सहसा किसी स्थान पर एकत्रित हो जाते है। इन्हीं पदार्थों को आत्मा जव अपनत्व भाव से पकड़ता है तव वह अपने स्वभाव के नीचे उतर जाता है।

आकाश में धूल उड़ती है। रेत के कण उड़ते-उड़ते किसी वंगले के कक्ष में खिड़की या दरवाजे से प्रविष्ट हो जाते हैं। वंगले का स्वामी उस धूल को देखकर उसे मोह नहीं करता, उसे अपना समझकर इकट्ठा नहीं करता। वह उस धूल को वाहर निकाल देता है और यह प्रयत्न करता है कि आगे और धूल वंगले में प्रविष्ट न हो।

ऐसी ही भावना और ऐसा ही विचार अपनी आत्मा के विषय में भी करना चाहिए। इस आत्मा रूपी कमरे में पंचेन्द्रियों के द्वार से जो कर्म रूपी रज भीतर प्रविष्ट होती है, उसे झाड़ पोछकर बाहर निकाल देना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो वह कर्म-रज एकत्रित होती रहती है और आगे जाकर भीषण दुःखों का कारण बन जाती है। बीज के रूप में जो कर्म-रज प्रविष्ट होती है, वही अंकुरित होकर विशाल रूप धारण कर लेती है। एक प्रकार का सिलसिला चालू हो जाता है जो कि भव-भवान्तर में अनर्थ का कारण बनता है।

यह सिलसिला तब तक चालू रहता है जब तक कि आत्मा अपने स्वरूप को अरहनाथ भगवान के तुल्य नहीं समझती। अतः प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह अपने भीतर ऐसा दृढ़ विश्वास लेकर चले कि समय शक्ति परिपूर्ण रूप से उसकी आत्मा में छिपी हुई है और उस शक्ति को उसे प्रगट करना है। ऐसा ही लक्ष्य और ऐसा ही साध्य लेकर उसे चलना चाहिएं। जो व्यक्ति स्व-समय की दृष्टि से परम धर्म को समझने का प्रयास करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है वह आत्म विकास के मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।

मानव धर्म की परिभाषा अलग-अलग विद्धानों ने अनेक प्रकार से ही है। कहा जाता है कि आज तक के इतिहास में ६०० से भी अधिक परिभाषाएँ धर्म की की जा चुकी है। इतना होने पर भी धर्म का समग्र स्वरूप समझ में नहीं आ सका है। चूँकि ये सब परिभाषाएँ अपूर्ण मनुष्य के द्वारा ही की गई हैं, अतः वे परम धर्म के रूप को व्यक्त नहीं कर पाई। इसीलिए अरहनाथ प्रभु के परम धर्म को समझना नितान्त आवश्यक है। धर्म की परिभाषा करते हुए यह भी कहा जाता है कि -"वत्थु सहाओ धम्मो।"- वस्तु का जो स्वभाव है वही धर्म है।

किन्तु एक दृष्टि से देखा जाए तो वस्तु का स्वभाव हर समय एकसा है ही, ऐसा बात नहीं है। पानी का स्वभाव प्यास बुझाने का है, और शीतलता प्रदान करने का है। किन्तु ऐसा स्वभाव उसमें तभी तक रहता है जब तक उसका रूप पानी का है लेकिन आप देखते हैं कि कभी पानी को उबाला भी जाता है, उसे डिस्टिल्ड वाटर भी तैयार किया जाता है जो कि इंजेक्शन आदि देने के काम आता है। ऐसे समय में पानी का साधारण रूप न रहकर विशेष रूप बन जाता है और उसके गुणधर्म में परिवर्तन आ जाता है। तो वस्तु स्वभाव शुद्ध और अशुद्ध

अवस्था में भी है। शुद्ध अवस्था में जो वस्तु है, वहीं उसका स्वभाव माना जा सकता है।

आत्मा को भी वस्तु कहा जा सकता है। आत्मा का वस्तु स्वभाव परम विशुद्धता के रूप में, शुद्ध स्वभाव में रहा है। वह शुद्ध अवस्था रूप सहसा नहीं वन पाया है। इस विशुद्ध स्वभाव को विकसित करने के लिए परम धर्म रूप स्वभाव की आवश्यकता होती है। ऐसी परम शुद्ध, परम पूर्ण स्थिति को प्राप्त करने के लिए प्रभु अरहनाथ के परम धर्म के स्वरूप को जानना चाहिए।

जो व्यक्ति अपने उस स्वरूप को प्राप्त करना चाहता है उसे धर्म का स्वरूप समझने से पूर्व अपने दिल और दिमाग को पवित्र बनाते हुए यह निश्चय करना चाहिए कि मेरी आत्मा सिद्ध स्वरूप है, सिद्ध अवस्था के तुल्य है। मुझे अपनी वह वास्तविक स्थिति अवश्य प्राप्त करनी है। अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जो दृढ़ निश्चय के साथ आगे वढ़ता है, जो ऐसा संकल्प शुद्ध रूप से करता है, वह स्व-समय में स्थित होता है।

किसी भी वस्तु का पूर्ण एवं सच्चा वर्णन करने के लिए नय-निक्षेप को समझना चाहिए। नय-निक्षेप के स्वभाव सूक्ष्म अवश्य है, किन्तु उसके विना वस्तु का वर्णन नही हो सकता। छोटी से छोटी वस्तु को भी समझने के लिए नयों की परिभाषाओं का सहारा लेना पड़ता है। अपने समग्र रूप में वस्तु का स्वरूप तभी समझ में आ सकता है। यदि एकान्त दृष्टि से वस्तु अंकित की जाए और नयों की अवस्था में रखी जाए तो वस्तु का स्वभाव समझ में नहीं आ सकता।

उदाहरण के लिए आप लोगों में से मैं किसी भी एक व्यक्ति का नाम लूँ। मान लीजिए कि आपका नाम चन्द्रकिशोर। तो क्या आपका नाम लेने से आपका सम्पूर्ण जीवन, आपका पूर्ण स्वभाव प्रगट हो जाएगा? नहीं। आपके अन्दर अन्य अनेक प्रकार के तत्व रहे हुए हैं। यह नाम तो और भी अनेक लोगों का हो सकता है, जिसका स्वभाव भी भिन्न-भिन्न होगा। अव आपसे यदि पूछा जाए कि आप पिता है, या पुत्र? आप क्या उत्तर देंगे? आप पिता भी है, और किसी के पुत्र भी है। इसी प्रकार से आप किसी के भाई भी है, किसी के पति भी है। तो सोचिए कि आपके ये दो रूप या अनेक रूप कैसे हो गए? यह स्वरूप समझने के लिए आपको विभिन्न दृष्टिकोणों- नयों की सहायता लेनी पड़ेगी। अपने पुत्र की दृष्टि

से आप उसके पिता है। अपने पिता की दृष्टि से आप उनके पुत्र है। ये दोनों विपरीत स्थितियाँ हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टि से ये दोनों स्थितिया आप में है। इसी प्रकार बहिन की दृष्टि से आप भाई हैं, और पत्नी की दृष्टि से पति।

कथन का आशय यह हुआ कि वस्तु-स्वभाव ही पूर्ण धर्म की परिभाषा नहीं है। इसके पीछे नय लगाकर ही विश्लेषण किया जाना चाहिए। आपके स्वभाव और स्थिति का वर्णन करते हुए इस प्रकार अनन्त शव्द आपके पीछे लग जांएगे फिर भी आपका स्वरूप पूरा प्रकट नहीं होगा। आपकों दादा, पिता, पुत्र, पौत्र, भाई, पति, चाचा, मामा, भतीजा इत्यादि अनेक शव्दों द्वारा सम्वोधन किया जा सकता है। तो यह विषय न्याय का है। इसे समझने में कुछ कठिनाई आ सकती है, किन्तु इससे आपको लाभ अवश्य होगा।

एक बालक उत्पन्न होता है। माता उसे स्तनपान कराती है। वह अवोध बालक यह नहीं जानता कि उस दूध को पीने से उसके शरीर में शक्ति आएगी, किन्तु उसके जानने न जानने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसके शरीर में शक्ति आती है और उसके शरीर का विकास होता है।

आप भी विटामिन की गोलियों का विटेमिन युक्त भोजन ग्रहण करते हैं। आप पूरी तरह से नहीं जानते कि वह विटेमिन क्या है और कैसे उनकी प्रक्रिया होती है। किन्तु उनसे आपका शरीर पुष्ट तो होता है।

इसी प्रकार से यह सम्भव है कि इस नयवाद और सापेक्ष वृत्ति को आप वर्तमान में अपने मस्तिष्क में पूर्ण रूप में समझ नहीं पा रहे हों। किन्तु किसी न किसी प्रकार से आपके व्यवहार से वह वृत्ति है, इसीलिए आप कुछ शान्ति का अनुभव करते है, अन्यथा जीवन व्यतीत होना ही कठिन हो जाए। मान लीजिए कि आपका पोता अभी खड़ा होकर कहने लगे कि दादाजी, ये मेरे पिता है, ये आपके पुत्र नहीं है। तो आप क्या करेंगे? आप बालक की बात पर मन ही मन मुस्कराएँगे और समझ लेंगे कि बालक अबोध है। वस्तुतः जो इसका पिता है, वह मेरा पुत्र भी है। तो यहाँ नयवाद से ही आप विचार कर रहे होते है।

निश्चय ही आज समाज और राष्ट्र में बहुत अशान्ति है। किन्तु जो कुछ भी शान्ति और सामंजस्य दिखाई देता है वह इसी सापेक्ष दृष्टि के होने के कारण ही है। अन्यथा परिवार में समाज में, राष्ट्र में एकदम अशान्ति का वातावरण बन जाए।

तो मैं आपसे कह रहा था कि यदि हम नय-निक्षेप, प्रमाण के माध्यम से समझने का प्रयत्न करें तो प्रभु अरहनाथ का समग्र रूप हमारे सामने साकार हो सकता है। किन्तु मेरे भाई तो आजकल धर्म को किसी दूसरे ही रूप में समझते हैं। वे समझते है कि जितनी देर धर्म स्थान में बैठे और महाराज का प्रवचन सुनें तभी तक धर्म रहता है और फिर वाजार या दुकान में पहुँच जाने पर धर्म छूट जाता है। इसके अलावा कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि धर्म तो परलोक के लिए है, वही पर यह काम में आएगा। इसलिए जव अवस्था आएगी, तव धर्म के विषय में विचार कर लिया जाएगा। अभी तो, इस जीवन में आराम से रहना चाहिए।

जो व्यक्ति ऐसा विचार रखते है वे धर्म के स्वरूप को ठीक तरह से नहीं समझते। नहीं समझने के कारण वे धर्म को अपने जीवन में साकार रूप दे भी नहीं पाते। कहा गया है-

"धर्म धर्म सब कोऊ कहे, धर्म न जाने कोय।"

-इस प्रकार से केवल धर्म के नाम को रटने से कोई काम नहीं चलता। धर्म के स्वरूप को समझना और उस पर आचरण करना चाहिए। ऐसे लोग जीवों की जाति तक को नहीं जानते है। जो जीवों की जाति को ही नहीं जानते वे धर्म को भला क्या जानेंगे?

आप से ही यदि मैं प्रश्न करूँ कि आपकी जाति क्या है, तो आप क्या उत्तर देंगे? आप कहेंगे- ओसवाल, व्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय इत्यादि। यह ठीक नहीं है। आप इस भेद को लेकर मत चलिए। आप अपनी वास्तविक जाति को भूल गए हैं यदि आप अपनी वास्तविक जाति को समझलें तो धर्म के स्वरूप को भी आप समझ सकेंगे।

बन्धुओ! आपकी वास्तविक जाति है पंचेन्द्रिय जाति। जिस जीव के एक ही इन्द्रिय होती है वह एकेन्द्रिय, जिसके दो इन्द्रियाँ होती है, वह वेइन्द्रिय, जिसके तीन इन्द्रियाँ होती है वह तेइन्द्रिय, जिसके चार इन्द्रियाँ होती है वह चउरिन्द्रिय और जिसे पाँच इन्द्रियाँ प्राप्त हो जाती है वह पंचेन्द्रिय जीव होता है। यह विकास का क्रम इस प्रकार से चलता है और इससे वढ़कर और कोई जाति का स्वरूप शास्त्रीय दृष्टि से, आत्मा की दृष्टि से नहीं बन सकता है। इसमें आत्मविकास की दृष्टि निहित है। इसी में धर्म का क्रम बनता है।

बन्धुओ! धर्म सबको सुख देने वाला है और इतना विशाल है कि वह तत्क्षण सुख और शान्ति दे सकता है। कुछ लोग सोचते है कि यह उधार का सौदा है। किन्तु उनका सोचना नितान्त भ्रामक है। यह तो एकदम रोकड़ का सौदा है। धर्म का पालन करने से मनुष्य को तत्क्षण शान्ति प्राप्त होती है। आपको इस दृष्टि से विचार करना चाहिए और अपने प्रत्येक कार्य में धर्म के संस्कार लाने चाहिए। यदि आप ऐसा लक्ष्य बना लेंगे तो प्रभु अरहनाथ के परम धर्म को समझ सकेंगे।

एक व्यक्ति अपना एक लक्ष्य निर्धारित करता है कि एम.ए. पास करेगा। तो अब वह अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति किस प्रकार से कर सकता है? क्या वह दिन-रात एम.ए. रटने से एम.ए. की डिग्री प्राप्त कर सकेगा? नही। उसे एम. ए. तक पहुँचने के लिए प्रथम कक्षा से आरम्भ करना होगा। स्लेट पर लकीरें खींच-खींच कर क ख ग सीखना पड़ेगा। इस प्रकार एक-एक कक्षा उत्तीर्ण करता हुआ ही वह एम.ए. की परीक्षा एक दिन उत्तीर्ण कर सकता है।

इसी प्रकार प्रभु अरहनाथ के परम धर्म की उच्चतम कक्षा में पहुँचने के लिए हमें सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़ना होगा। जो व्यक्ति प्रथम कक्षा में ही प्रवेश नहीं करेगा, वह चाहे एक जन्म के बाद दूसरा जन्म और दूसरे के बाद तीसरा- इस प्रकार कितने ही जन्म क्यों न बिता दे और चाहे जितना धर्म-धर्म रटता रहे, किन्तु उस परम धर्म के स्वरूप को समझने में और उसे प्राप्त करने में उसे कभी सफलता नहीं मिलेगी।

बहुत से लोग धर्म के नाम की रटन लगाते हैं कि वस्तु का स्वभाव धर्म है, अपने धर्म में रहो, किन्तु केवल ऐसा कहने से और रटने से क्या होगा? यदि भूख लगी हो तो रोटी को खाने की क्रिया करनी पड़ेगी। केवल रोटी-रोटी रटते रहने से भूख शान्त नहीं होगी। इसी प्रकार वस्तु स्वरूप धर्म है, ऐसी माला फेर लेने से कोई लाभ नहीं होगा।

जीवन और आहार का सम्बन्ध घनिष्ट है। कहा गया है-"आहार मिच्छे ....।" आहार की इच्छा करते हो तो मित और ऐषणीय आहार ही ग्रहण करो। आहार की यह परिभाषा लेकर चलने से ही धर्म की परिभाषा बनती है और जीवन को प्रथम कक्षा में प्रविष्ट कराती है। ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए कि आहार का सम्बन्ध केवल शरीर के साथ ही है। शरीर के साथ तो आहार का

सम्वन्ध जाना हुआ ही है। किन्तु आगे समझने की वात यह है कि उसका सम्वन्ध जीवन, आत्मा तथा धर्म के साथ भी है।

वहुंत से व्यक्ति स्वाद के ही वश में होकर रह जाते हैं और जो जी में आए वह खाते चले जाते हैं। वे समझते है कि यह जीवन केवल खाने के लिए ही प्राप्त हुआ है। यह भयानक भूल है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भोजन के विना शरीर नही चलता और यदि शरीर को धारण करना है तो आहार लेना भी आवश्यक है। किन्तु आहार ऐसा ही होना चाहिए जो शरीर को पुष्ट करे, मन को शुद्ध करे, आत्मा को पवित्र वनाए। इसके विपरित स्वाद के वश में होकर चटपटा या अधिक मीठा खाना खाते रहने से शरीर तो नष्ट होता ही है, साथ ही मन की वृत्तियाँ भी तामसिक और राजसी वन जाती हैं और आत्मा पतित होती है।

श्रावक का जीवन कैसा हो, यह बताते हुए कहा जा चुका है कि- "दोषविवर्जितम्।"- दोष से रहित हो, वही जीवन है। ऐसा दोष रहित जीवन वनाने के लिए वचपन से ही आदत ठीक रहनी चाहिए। आरम्भ से ही आदत ठीक रहे तो आगे चलकर अरहनाथ के परम धर्म को समझने की स्थिति वन सकती है। किन्तु आज तो मनुष्य जीभ के स्वाद से पराभूत दिखाई देते है। अनेक प्रकार के चरके-चटपटे पदार्थ वे खाते है। जवकि यदि कोई मनुष्य वहुत समय तक पकौड़े-भुजिए आदि न खाए तो उसकी कोई हानि होने वाली नहीं है। अधिक मिर्च-मसाले खाने वाले व्यक्ति की वृत्ति तामसिक वन जाती है और वह जीवन में अधैर्यवान बन जाता है। अधैर्यवान् व्यक्ति जीवन में धर्म का प्रवेश भी कठिन होता है।

इसीलिए शास्त्रकार कहते है कि यदि तुम्हें अपना जीवन दोष रहित वनाना है तो अपने आहार के विषय में सतत रूप से सजग रहो। परहेज-पूर्वक सात्विक भोजन ही सदा ग्रहण करो, जिससे तुम्हारा शरीर स्वस्थ रहे, मन स्वस्थ रहे और आत्मा पवित्र वनी रहे। जीवन की आवश्यकतानुसार ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। यदि आवश्यकतानुसार कुछ मिर्च खाने के लिए डॉक्टर सलाह दे तो उतनी मात्रा में वह खाई जा सकती है। औषधि के रूप में उसे ग्रहण करने से कोई हानि नहीं है। किन्तु यदि डॉक्टर मना करता हो और फिर भी कोई मनुष्य जीभ के लिए स्वादवेश उसे चाहे जितनी मात्रा में खाता रहे तो उसे कैसे ? कहा जाएगा?

अतः आपको अपना लक्ष्य स्थिर करना चाहिए और निर्णय लेना चाहिए कि आप अपने जीवन को दोष रहित बनाएँगे। दोष रहित और दोष सहित जीवन को भी भली प्रकार से समझ लेना चाहिए। जीवन की स्थिति के लिए कुछ बातें आवश्यक होती है। अतः एक तो जीवन होता है थोड़ा दोष सहित और दूसरा होता है परिपूर्ण दोष सहित। भगवान की स्थिति पूर्णरूपेण दोष रहित स्थिति हैं। हमे भी धीरे-धीरे उसी स्थिति तक पहुँचना है। अतः धीरे-धीरे हमें अपनी स्थिति ऐसी बनानी चाहिए जिससे कि हम सभी दोषों से एक दिन पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर लें।

ऐसा कर सकने के लिए यह जानना आवश्यक है कि दोष किस-किस से उत्पन्न होता है। तो अठारह प्रकार के पाप है। इनमें सर्वप्रथम हिंसा का पाप आता है। खाने में भी हिंसा होती है। किन्तु एक तो हिंसा वह है जिससे आत्मा मलीन होकर नरक में चली जाए। और दूसरी हिंसा वह है जो जीवन के लिए नितान्त अनिवार्य हो और पश्चाताप के सहित हो। अतः प्रथम महाव्रत है हिंसा का सम्पूर्ण त्याग करने का। इसके लिए निर्देश दिया गया है कि हिंसा को त्याग दो। किन्तु यदि इसके बिना नहीं रहा जा सकता हो तो गृहस्थ की महारम्भ की स्थिति को तो कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। जीवन का यंत्र यदि नहीं चल सकता हो तो अल्पारम्भ की स्थिति में रहकर चलना चाहिए।

महारम्भ के लिए कहा गया है कि पंचेन्द्रिय जीव का घातक होना महारम्भ की स्थिति है। इससे अवश्यमेव बचना चाहिए। मॉस का सेवन अत्यन्त अहितकर है और मांसाहारी व्यक्ति का जीवन कभी भी दोष रहित नहीं बन सकता है। धर्म के मार्ग पर ऐसा व्यक्ति नहीं जा सकता।

यही स्थिति मदिरा तथा अण्डे के विषय में भी है। मदिरा का सेवन भी अत्यन्त अहितकर एवं विनाशकारी है। आजकल पढ़े-लिखे लोग तर्क करने लगे है कि अण्डे खाने में क्या दोष है? उसमें तो जीव होता नही, मॉस होता नहीं, वह तो आजकल बिना गर्भ-धारण किये ही मुर्गी से प्राप्त होते है। तो ऐसी बातें सुनकर बड़ा आश्चर्य और दुःख होता है कि उत्तम कुल में जन्म लेने वाले और उत्तम संस्कारों में पलने वाले लोग भी ऐसे-ऐसे कुतर्क करने. लगे है।

बन्धुओ! अण्डे में भी मॉस है। उसमें भी आत्मा होती है। आत्मा जाकर गर्भ में उत्पन्न होती है, प्रारम्भिक आहार को ग्रहण करती है और फिर अण्डे के

रूप में वाहर आती है। मुर्गी उस अण्डे को सेती है, धीरे-धीरे परिपक्व स्थिति हो जाने पर उसमें से पक्षी वाहर आ जाता है। मनुष्यों में भी तो ऐसी ही प्रक्रिया चलती है। माता के उदर में गर्भ आता है, वालक रस ग्रहण करता है, नौ महिने में परिपक्व स्थिति वनती है और बालक के रूप में वह आत्मा वाहर आती है। अस्तु, अण्डे में भी पंचेन्द्रिय जीव का माँस होता है और जो पंचेन्द्रिय जीव उसे खाता है वह महापाप का भागी वनता है।

अनेक डॉक्टरों ने भी इस वात को प्रमाणित किया है कि अण्डा खाना हानिकार है। थोड़े से समय के लिए कोई ऐसा सोच सकता है कि उसे लाने से शरीर में ताकत आ रही है। किन्तु डॉक्टरों का कथन है कि उसे खाने से अनेक प्रकार की अन्य बीमारियाँ हो जाती है।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग यह तर्क भी करते है कि यदि अण्डे में जीव है तो उसे पौषण करने से कभी-कभी बच्चा क्यों प्रगट नहीं होता? इसका उत्तर वहुत सीधा है कि कभी-कभी जीवन वनने की पूरी सामग्री न होने के कारण और अमुक तत्व की कमी रह जाने के कारण किसी-किसी अण्डे में से जीव प्रगट नहीं हो पाता। जिस प्रकार मनुष्यों में भी कभी-कभी तीन महीने या पाँच महिने का गर्भ वाहर आ जाए तो फिर माता उसका कितना भी पौषण करे, वालक जीवित नहीं रह पाता, क्योंकि उससे अमुक तत्व की कमी रह जाती है, वैसी ही स्थिति उन अण्डों के विषय में भी समझनी चाहिए जिनका पौषण किये जाने पर भी जिनमें से जीव प्रकट नहीं होता।

इसी प्रकार यह तर्क भी अमान्य है कि मुर्गे के न रहने पर भी मुर्गी द्वारा अण्डे दिये जाते है, अतः उनमें जीवात्मा नहीं होती। वस्तु स्थिति यह है कि मुर्गी के गर्भाशय मे यदि वे आवश्यक तत्व पहुँचा दिये जाते हैं जिनके संयोग से जीव उत्पन्न होता है तो वह गर्भ धारण कर लेती है। शास्त्रों में भी उल्लेख आया है कि पुरुष के न रहने पर भी स्त्री के गर्भाशय में वे तत्व पहुँचने से उसके गर्भवती होने का प्रसंग बन जाता है।

आजकल जो लोग अण्डों का व्यापार करते हैं, वे मशीनों के द्वारा ऐसा दाना तैयार करते हैं जिनसे मुर्गी को गर्भ धारण कराने का तत्व रहता है और उस दाने को खाकर वह गर्भवती हो जाती है। अतः यह दलील देना कि उस अण्डे में आत्मा नहीं होती निरा प्रलाप ही कहा जा सकता है।

बन्धुओ! आप यह भली भांति जान लीजिये कि माँस-मदिरा-अण्डे इत्यादि का सेवन करना आपके जीवन के लिए घोर अनिष्ठकारी है। यह महारम्भ का खाना है, इससे सदैव परहेज करके ही चलना चाहिए। माता-पिता का कर्तव्य है कि वे आरम्भ से ही अपने बच्चों पर पूरा नियंत्रण रखें और सावधानी से देखते रहे कि वे कहाँ जाते हैं, क्या खाते-पीते है। यदि प्रारम्भ से ही ऐसी सावधानी बरती जाए तो इस आर्य-भूमि की सन्तानें विनाश के मार्ग पर जाने से बच सकती है।

भोपाल की एक घटना है। वहाँ के निवासी निहालचन्द्र जी का पुत्र भीमसिंह वकालत में पढ़ रहा था। माता-पिता ने उसे आरम्भ से ही ऐसे संस्कार देकर पाला था कि वह माँस-मदिरा-अण्डे आदि घृणा करता था। उसमें ये उत्तम और हितकारी संस्कार बचपन से ही ढाल दिये गये थे।

एक बार उसके साथियों ने कोई पार्टी की। सब लोग अपने-अपने घर से अपना-अपंना टिफ्नि लेकर पहुँचे। जब टिफिन खोले गये तो उनमें से बहुत से साथी अण्डे भी लाये थे। यह देखकर भीमसिंह को बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने साथियों से कहा-"मैं तुम लोगों के साथ बैठकर भोजन नहीं करूँगा। माँस-मदिरा-अण्डे खाना पाप है और शरीर के लिए भी हितकारी नहीं है। मुझे इन वस्तुओं से बड़ी घृणा है।"

किन्तु उसके साथी जिद करने लगे और कहने लगे-"अरे! अण्डे में तो जीव होता ही नही। इसे खाने में क्या हानि है? तुम्हें हमारे साथ बैठकर आज अण्डे खाने ही पड़ेंगे।"

भीमसिंह नहीं माना तो साथी जबरदस्ती करने लगे। यह जबरदस्ती देखकर उसने आवाज लगाई और उसकी आवाज सुनकर उसके शिक्षक वहाँ आ गये। उन्होंनें पूछा कि क्या बात है तो उन्हें सारी स्थिति बताई गई। सुनकर वे शिक्षक कहने लगे- "अरे भीमसिंह! इसमें तो कोई हर्ज नहीं है। अण्डे तो निर्जीव है, शाकाहारी है। तुम इन्हें खा सकते हो।"

बन्धुओ! जिस देश में शिक्षक भी इस मार्ग पर चल पड़े, उस देश का कल्याण किस प्रकार से सम्भव है? ऐसे लोगों के मस्तिष्क में से अब तक पाश्चात्य संस्कार नहीं निकले है और गुलामी की जंजीर- मानसिक गुलामी की श्रृंखला अब तक उनके गले में पड़ी हुई है। यह दशा अत्यन्त शोचनीय है। ऐसे विचार रखने

वाले लोगों के संसर्ग से भी दूर रहना चाहिए। भीमसिंह ने भी यही किया और वह दीवार फाँदकर वहाँ से भाग गया।

अतः संरक्षकों का पुनीत कर्तव्य बन जाता है कि वे अपने बालकों के संस्कारों के प्रति पूर्ण सावधानी बरतें और उन्हें ऐसे लोगों की संगति से बचाएँ जो कि अपने जीवन को स्वयं भी नहीं समझते और अपने साथ ही दूसरों के जीवन के साथ भी खिलवाड़ करने के लिए उद्यत रहते है। एक पिता का सम्बन्ध अपने पुत्र के साथ केवल शरीर का ही नहीं होता, धर्म का सम्बन्ध भी होता है, आत्मा का सम्बन्ध भी होता है। उस सम्बन्ध को पूर्ण सजग रहकर निभाना चाहिए।

महाराज भीम नरेश इस सम्बन्ध को भली प्रकार से जानते थे। वे प्रयत्न कर रहे थे कि उनका पुत्र अच्छे संस्कारों वाला बना रहे और कुसंगति में पड़कर उसकी जो हानि हुई थी वह दूर हो जाए। उसका मस्तिष्क पुनः शुद्ध बने और उसकी आत्मा पतित होने से बच सके।

अतः वे अपने पुत्र से कह रहे थे-

'भाई! तुम अपनी बुद्धि को निर्मल बनाओ। पवित्रता के साथ तटस्थ भाव से चिन्तन करो। संसार में सब पदार्थ गुण-दोषमय हैं। किसी में गुण है और किसी में अवगुण भी है। वस्तु में गुण और अवगुण का स्वभाव रहता है। किन्तु जब कथन किया जाए तो उसी रूप में किया जाना चाहिए। वही कथन सच्चा होता है। देखो, उदाहरण के लिए, एक अफीम की डली है। और एक मिश्री की डली है। दोनों पर चाँदी के चमचमाते हुए वर्क लगे है। दोनों श्वेत दिखाई दे रहे है। बच्चे ने अज्ञानवश दोनों को समान समझ कर एक हाथ में अफीम और दूसरे हाथ में मिश्री की डली उठा ली है। यह मिश्री पहले खाने लगता है।

अब उसके समीप जो संरक्षक बैठा है वह क्या करेगा? क्या वह उस बालक को दोनों वस्तुएँ खाने देगा? नहीं। वह बालक से कहेगा- "तुमने मिश्री की डली ली, यह तो ठीक। किन्तु दूसरे हाथ में जो अफीम की डली है, उसे छोड़ दो। वह तुम्हारे लिए हितावह नहीं है। इसे छोड़ दो और मिश्री को ग्रहण करो।"

तो जो संरक्षक या विचारक ऐसी बात कह रहा है, क्या वह अफीम की निन्दा कर रहा है और मिश्री की प्रशंसा? अथवा वह दोनों के स्वरूप को बता रहा है? उसे अफीम से कोई द्वेष नहीं है। किन्तु वह कह रहा है कि अफीम आम

जनता के लिए हितकारी नहीं है। वह घातक है। प्राणनाशक है। अतः उसे त्याग देना चाहिए। मिश्री से मिठास है। और यह कठोर भी है। यदि एक बड़ी-सी डली मिश्री को उठाकर किसी के मार दिया जाए तो उससे चोट भी लग सकती है। किन्तु हमें तो उसकी मिठास से प्रयोजन रखना चाहिए और उसकी कठोरता की निन्दा नहीं करनी चाहिए।

उसी प्रकार भीमनरेश रुक्मकंवर को समझाते हुए कहते है कि कृष्ण वासुदेव को अनीति का प्रतीकार करने के लिए कभी-कभी युद्ध के प्रसंग में पड़ना पड़ता है, तो इससे उनकी कठोरता की निन्दा नहीं करनी चाहिए। वे किसी को मारने के लिए प्रवृत्त नहीं होते। वे तो अन्याय का प्रतीकार करने के लिए कर्तव्य के क्षेत्र में उतरते हैं। दुष्टों, अन्यायियों, अपराधियों को दण्ड देने के लिए उन्हें साम, दाम आदि का प्रयोग यदि करना पड़ता है तो उसे उसी दृष्टि से समझना चाहिए। उनके दोनों गुणों की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। उनके जीवन की मधुरता और जीवन की कला, इन दोनों का विचार रखना चाहिए।

"केवल निन्दा और तिरस्कार की भावना नहीं रखनी चाहिए।" इतना कहकर भीमनरेश ने आगे कहा कि इस समय प्रसंग है कि विवाह करना अथवा नहीं करना। यदि तुम्हे यह पसन्द नहीं है तो वह दूसरी बात है किन्तु उनके जीवन में साथ असत्य बातें जोड़कर पाप के भागी मत बनो। किसी भी प्रतिष्ठित व्यक्ति प्रशंसा तो की जा सकती हैं, किन्तु व्यर्थ ही निन्दा करना उचित नहीं है। तुम अपने जीवन को सम्हालो और उत्तम आचरण करो। कृष्ण का आचार प्रशंसनीय है। उनके विचार उत्तम है। यदि उनके साथ बेटी का विवाह हुआ तो तुम्हारे लिए भी वह हितावह होगा। तुम्हारे जीवन में भी चार चाँद लग जाएँगे। तुम उनके साले के पद को प्राप्त करोंगे और सुखी बनोंगे।

भीमनरेश ने ये सब भली बातें बड़े प्रेम से रुक्मकंवर को समझाई। किन्तु जिस व्यक्ति को कोई भ्रम हो जाता है वह सरलता से ठीक मार्ग पर नहीं आ पाता। वह तो उल्टा ही उल्टा विचार करता है। रुक्मकंवर को भी बहुत समय से गलत संस्कार मिले थे, अतः वह अपने पिता की हितावह बातें को समझ नहीं सका। वह तो उत्तेजना सहित कहने लगा-

"यह आपका भ्रम है। आप नहीं जानते कि श्रेष्ठजनों में उनका आदर

विवेक। ऐसे व्यक्ति अपने जीवन में सफल नहीं हो सकते। आपको अपने जीवन में धैर्य लाना चाहिए। वह धैर्य आप तभी प्राप्त कर सकते है जबकि आप भगवान अरहनाथ की शान्ति के स्वरूप को समझें और उसे ग्रहण करें। अपने आहार-विहार में भी, चाहे वह धर्मस्थान पर हो अथवा हाट-बाजार में, आपको धर्म और धैर्य का आश्रय लेकर चलना चाहिए।

-इत्यलम्।

****

गुरु का महत्व

"असंखयं जीविय मा पमायए ....।
"शान्ति जिन मुझ एक वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे।
शान्ति स्वरूप केम जाणिए, कहें मन केम परखाय रे"।।

प्रभु शान्तिनाथ की दिव्य एवं अखण्ड शान्ति को समझने का प्रयत्न कर रहे है तथा इस शरीर में स्थित मन का परीक्षण करने की दृष्टि से शास्त्रीय चिन्तन की ओर बढ़ रहे है। चूंकि शान्तिनाथ भगवान का स्वरूप दिव्य तथा अन्नत शक्ति से युक्त है और वह हमें इस देह पिण्ड के साथ शरीर की दृष्टि से दिखाई देने वाला नहीं हैं, अतः वह तो दिव्य नेत्रों से ही दिखाई दे सकता है।

वह दिव्य स्वरूप हमारे भीतर ही है। इसी शरीर में वह विद्यमान है। उसे प्राप्त करने और जानने के लिए हमें कही दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। उस स्वरूप को ज्ञात करने के लिए शास्त्रकारों ने कहा है-

"नाणस्स सव्वस्स पगासणाए ....।"

बन्धुओ! उक्त गाथा का उच्चारण अस्वाध्याय के कारण अथवा अन्य प्रसंग के कारण रोका गया था। आज इस गाथा के विषय में विश्लेषण किया जा रहा है। अस्तु, उस स्वरूप को ज्ञात करने के लिए हमें ज्ञान शक्ति को भली प्रकार ज्ञात करने की आवश्यकता है। यदि हम उस ज्ञान शक्ति को भली प्रकार ज्ञात करने की आवश्यकता है। यदि हम उसे ज्ञानशक्ति को ठीक तरह पहिचान लेगे तो वह स्वरूप हमारे समक्ष स्पष्ट होकर झलकने लगेगा।

सूर्य की किरणों को देख लेने पर सूर्य की किरणों के आस-पास रहने वाले सकल पदार्थ स्वयमेव ही दृष्टिगोचर हो जाते है। किन्तु जिसने सूर्य की किरणों

को ही प्राप्त नहीं किया, वह अन्धकार में चाहे जितना भी प्रयत्न क्यों न करे, कुछ भी देख नहीं पाएगा। वह ज्ञान की शक्ति, आत्मा की शक्ति समग्र ज्ञान के रूप में है। यदि उस शक्ति को पहिचानने का प्रयत्न किया जाए तो शान्ति के प्रथम सोपान का ठीक ज्ञान हो सकता है। अब प्रश्न यह है कि वह ज्ञान शक्ति भी हमको ठीक तरह से कैसे प्राप्त हो? इसी प्रश्न के उत्तर का संकेत करने हेतु शास्त्रकार ने आगे की गाथा में बताया है कि-

"तस्सेस मग्गो गुरुविद्ध सेवा ....।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान की अनन्त शान्ति की मंजिल का जो मार्ग है, वह कहाँ से मिलेगा? इसका उत्तर दिया गया है कि- "गुरुवृद्ध सेवा"- अर्थात् गुरु एवं वृद्ध पुरुषों की सेवा करने से वह मार्ग सरलतापूर्वक मिल सकता है। गुरुजनों की स्थिति यदि वास्तव में गुरु की गरिमा के उपयुक्त है तथा वे वृद्ध पुरुष भी अपना योग्य अनुभव रखते है तो उनकी सेवा से जीवन यात्रा सफल होती है। अतः प्रत्येक क्षेत्र में सन्त-संगति का बहुत महत्व बताया गया है। यह निश्चित है कि कोई व्यक्ति सन्त पुरुषों की संगति के बिना प्रभु का मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता। आत्मिक शान्ति का मार्ग उसके लिए अजाना और अप्राप्य ही रह जाता है। यह आध्यात्मिक जीवन की उज्जवल ज्योति प्रत्येक व्यक्ति के लिए सहज लभ्य नहीं है। यदि कोई भी व्यक्ति यह शक्ति प्राप्त कर सकता होता तो आज मनुष्य की यह स्थिति नहीं होती, मानवता इस प्रकार पतन के कगार पर खड़ी दिखाई न देती। यह अशान्ति आज इस संसार में चारों ओर घिरी हुई न होती। किन्तु इस दिव्य शक्ति को प्राप्त करने वाले बिरले ही होते हैं। वे अपनी साधना के क्षेत्र में अविराम चलते हुए जन-समुदाय को भी सही दिशा का निर्देश करते चलते हैं। ऐसे महापुरुषों के सम्पर्क में जाने से आत्मा में एक अपूर्व उल्लास आता है, हृदय के बन्द कपाट खुल जाते हैं, ज्ञान की अनबूझ जिज्ञासा-पिपासा जागृत होती है और वे यह दृढ़ निश्चय कर लेते हैं कि ऐसी शक्ति अवश्य ही प्राप्त करनी है- सम्पादित करनी है।

जो सन्त महापुरुष हैं, वे भी किसी समय गृहस्थ ही थे। गृहस्थों के समान ही उनका शरीर है। वे ही नेत्र, कान इत्यादि शरीर के समस्त अंगोपांग है। ऐसा होने पर फिर क्या कारण है कि वे गृहस्थ से आगे और ऊँचे उठ जाते

हैं? कारण यही है कि उन्होंने अपनी साधना के बल से अपनी ज्ञान शक्ति को पहिचाना है, जागृत किया है। आपको सोचना चाहिए कि जब वे आगे बढ़ सकते हैं तो आप क्यों पीछे रहें? आप भी उनका अनुसरण करके आगे बढ़ सकते हैं। इस भावना से मनुष्य की प्रारम्भिक स्थिति में सन्त संगति को नितान्त आवश्यक, अत्यन्त उपयोगी बताया गया है। जिस व्यक्ति को सन्त संगति मिल गई, गुरु की शरण मिल गई और सच्चे ज्ञान का दिग्दर्शन कराने वाले शास्त्रकार मिल गये, तो समझिए कि उसे शान्ति का प्रशस्त मार्ग मिल गया।

गुरु के विना वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति असंभव है। चाहे जितनी पुस्तकें पढ़ ली जाँए, किन्तु पुस्तकों का मर्म गुरु के अभाव में व्यक्ति के हाथ में नहीं आ पाता। शास्त्र सारे के सारे रट लिए जाएँ किन्तु उन शास्त्रों का नवनीत शास्त्रों का सार मनुष्य की तव तक प्राप्त नहीं होता जब तक कि उसे सच्चा गुरु न मिले। एक तोता भी वहुत सी वातें, वहुत से श्लोक रट सकता है, किन्तु क्या वह उनमें से एक भी शव्द का अर्थ समझ सकता है? बोलने को तो ग्रामोफोन या टेप रिकार्ड करने वाली मशीन भी बोल सकती है, किन्तु उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता । इसी प्रकार जिन व्यक्तियों का जीवन केवल यन्त्रवत् वना हुआ है, कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। शास्त्रों का नवनीत तो शास्त्रों के ज्ञाता गुरुजनों के समीप जाने से ही प्राप्त हो सकता है। किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने दिल और दिमाग को स्वच्छ करके संत संगति में वैठें तथा उस सत्य स्वरूप को सत्य भगवान को जो आपके, मेरे और सभी के भीतर विद्यमान है, उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करे। जो व्यक्ति इस दृष्टि से चलता है उसका जीवन फिर स्वतः ही अपने पैरों पर उठ खड़ा होता है तथा आगे वढ़ने लगता है। इस संसार में सुदेव, सुगुरु तथा सुधर्म ये सव व्यवहार की दृष्टि से हैं किंतु निश्चय की दृष्टि से हमारा ज्ञान ही गुरु है, आत्मा ही देव है और अपना स्वरूप ही धर्म है। यह कथन यदि अपेक्षा दृष्टि से लिया जाए तो उपयुक्त है। किन्तु यदि मनुष्य अभी प्रथम कक्षा में ही प्रवेश नहीं कर पाया है अथवा अभी प्रथम कक्षा में ही है और वह यह सोचले कि उसे किसी से कुछ जानना शेष नहीं रहा- उसका ज्ञान ही गुरु है, उसकी आत्मा ही देव है, वह जो कुछ भी अनुभव कर रहा हैं वही धर्म है- तो ऐसा व्यक्ति निश्चय ही जीवन में भटक जाएगा।

संपर्क प्रभावशाली होता है। माता की कुक्षि में जन्म लेने के पश्चात् मनुष्य में संस्कार उसके संपर्क से बनने आरम्भ हो जाते है। जैसी-जैसी क्रियाएँ वह वहाँ देखता है, जैसा व्यवहार अपने सामने परिलक्षित करता है, उन्हीं को पकड़कर चलने लगता है। आप देखते है कि यदि एक किराने के व्यापारी का लड़का है तो वह अपने खेल-कूद में काँटा बनाएगा तथा और कोई वस्तु न मिली तो धूल को ही तोलेगा। यदि वह वकील का या अध्यापक का बच्चा हैं तो फाइलें, पुस्तकें उलटने-पलटने लगेगा। यदि किसान बच्चा है तो हल उठाएगा। माता के पास रहने वाला बच्चा माता की विभिन्न चेष्टाओं से संस्कार ग्रहण करता है। यदि वह घर की सफाई करती हो, तो वह भी वैसा ही करने लगता है। यदि वह रसोई बना रही हो तो वह भी उसी प्रकार की चेष्टा करने लगता है। यह बाल-स्वभाव है। आप यह सोचें कि बच्चा है, उसे कुछ भी करने दो, तो यह उचित नहीं है। संस्कारों का प्रभाव बालक के जीवन पर बड़ा स्थाई, महत्वपूर्ण और दूरगामी होता है। यदि जन्मते ही बालक को अच्छे संस्कार नहीं दिए गए, यदि उन्हें संत-संगति में नही ले जाया गया तो फिर आगे जाकर वे कोल्हू के बैल बन जाएँगे और उन पर संतों का प्रभाव भी कठिनाई से ही पड़ सकेगा।

वही बालक शिक्षा प्राप्त करने हेतु शिक्षक के पास जाता है। वर्णमाला सीखता है। एक-एक करके पहली से दसवीं कक्षा तक पहुँचता है। इस बीच उसे शिक्षक की आवश्यकता बराबर बनी रहती है। एम.ए. पढ़ाई तक भी यह आवश्यकता दूर नहीं होती। इतना शिक्षण प्राप्त कर लेने पर फिर वह छात्र स्वतंत्र रूप से आगे अध्ययन कर सकता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने हेतु किसी आध्यात्मिक-महापुरुष शिक्षक की आवश्यकता है। उस महापुरुष में स्वयं के भीतर ज्ञान का प्रकाश होना चाहिए, तभी वह अन्य व्यक्ति को अन्धकार से वचा सकेगा।

जैसी स्थिति व्यावहारिक क्षेत्र में ज्ञान-प्राप्ति की है, वैसी ही स्थिति धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है। पूर्ण एवं सत्य ज्ञान की प्राप्ति हेतु आरंभ में व्यक्ति को किसी सद्गुरु की आवश्यकता रहती है। कोई व्यक्ति यदि आध्यात्मिक क्षेत्र में अभी वर्णमाला भी नहीं सीख पाया हो अथवा प्रथम कक्षा में भी प्रवेश न हो पाया हो और वह यह मानलें कि देव तुम्हारी आत्मा है, गुरु तुम्हारे [illegible]

हमें इस गाथा का भी अर्थ करना है और शास्त्रीय गाथा का भी अर्थ करना है। 'गुरु' शब्द शास्त्रीय दृष्टि से भी आया है और प्रार्थना में भी आया है। तो 'गुरु' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है-

'गु' का अर्थ है अन्धकार और 'रु' का अर्थ है निरोध। अर्थात्, जो अन्धकार का निरोध करे वह गुरु है। जो अन्धकार का निरोध नहीं कर सकता वह गुरु नहीं है। यहाँ अन्धकार के विषय में भी जान लेना चाहिए। आजकल के बुद्धिवादी तर्क कर सकते हैं तो सूर्य अन्धकार को दूर करता है, अतः उसे गुरु क्यों न मानें? तो यहाँ यह समझने की बात है कि सूर्य केवल द्रव्य अन्धकार का नाश करता है, जबकि गुरु शब्द की व्याख्या भाव अन्धकार को नाश करने के लिए है। अर्थात् अज्ञान रूपी अन्धकार जो मनुष्य को भव-भवान्तर में भटकाने वाला है, उसे जो दूर करे वही गुरु कहलाने का अधिकारी हो सकता है। यह अज्ञान रूपी अन्धकार बाहर कही नहीं रहता, वह तो मनुष्य के भीतर रहता है। इस भीतर के अन्धकार को दूर करने के लिए ही सुयोग्य, ज्ञानी, अनुभवी गुरु की आवश्यकता रहती है। ऐसा गुरु, उसने स्वयं अपने भीतर के अन्धकार को नष्ट कर दिया हो और जो दूसरों के भीतर रहे हुए अन्धकार का भी विनाश कर सकता हो। इसी दृष्टि से हमें यह ठीक प्रकार से जान लेना चाहिए कि ज्ञान क्या है और अज्ञान क्या है?

सच्चा ज्ञानी पुरुष कभी अपने ज्ञान का अहंकार नहीं करता है। वह तो ऐसा ही मानता है कि वह अल्पज्ञ ही है। तथा वह अपने ज्ञान का दान सुपात्र को वितरित करने में कभी संकोच नहीं करता। इस ज्ञान-दान के लिए वह बदले में कुछ प्राप्त करने की अभिलाषा भी नहीं रखता। प्राचीन काल में गुरुजन ज्ञान निःशुल्क दिया करते थे। आज से कुछ समय पूर्व तक भी यही स्थिति थी। किन्तु आज तो अध्यापन एवं ज्ञान-दान केवल एक व्यवसाय बनकर रह गया हैं समय के अनुसार कुछ परिवर्तन संसार और संसार के व्यवहार में अवश्य होते है। किन्तु मूल मानवीय गुण कभी नहीं बदला करते और हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हम कभी मानवता के स्तर से ही नीचे न गिर जाए।

गुरुओं की व्याख्या तीन तरह से की जा सकती है। एक संरक्षक, दूसरे अध्यापक एवं तीसरे धर्मगुरु। धर्मगुरु की ज्योति जगाने वाले है। दूसरे संरक्षक

व्यावहारिक शिक्षण देने वाले हैं तथा तीसरे आजकल के अध्यापकों का दृष्टिकोण कुछ ऐसा बन गया है कि वे यह सोचते हैं कि हमें तो अपनी ड्यूटी बजा देनी है। फिर चाहे छात्र का कुछ भी बने और कुछ भी बिगड़े। भले ही वे देश भक्त बनें अथवा देशद्रोही। समाज ऊँचा उठे या रसातल में जाए, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती। यह स्थिति बड़ी शोचनीय है। काश! हमारे अध्यापक अपने कर्तव्य को अपनी ड्यूटी को पूरी तरह से समझें, संरक्षक अपने दायित्व को भली प्रकार से निभाएं एवं हमारे धर्मगुरु निर्लोभ, निष्काम होकर लोगों की आत्मा में प्रकाश फैलाएं तो हमारे समाज का उद्धार हो सकता है, हमारा राष्ट्र चरित्रवान बनकर संसार के शिखर पर पहुंच सकता है।

धर्मगुरुओं को विशेष रूप से सावधान रहना चाहिए। यदि वे मान-सम्मान, यश और लालच के प्रलोभन से दूर रह कर सच्चा आत्म ज्ञान प्रदान करें तो जनता का बहुत हित होगा। अन्यथा वे भी वास्तविक ज्ञान नहीं दे पाएंगे तथा जन-मन को अन्धकार में भटकाते रहेंगे। इस स्थान पर पुराण की एक उक्ति मुझे याद आती है-

एक राजा था वह बड़ा दुर्व्यसनी था। उसके अवगुण देखकर जनता में उसका बड़ी आलोचना होने लगी। स्थान-स्थान पर लोग उसकी निन्दा करते थे। यह देखकर राजा ने विचार किया कि किस प्रकार इस लोकनिन्दा से बचा जाए। उसने अपने दरबारियों से परामर्श किया। एक विद्वान, जो कि व्याख्यान देने में चतुर था, उसने राजा को परामर्श दिया कि वह कुछ भी ऐसी धार्मिक क्रियाओं में लग जाए जिससे जनता सोचने लगे कि राजा तो बड़ा धार्मिक है और उसकी निन्दा करना बन्द कर दे। यह परामर्श सुनकर राजा ने पूछा- "ऐसा कैसे करना चाहिए?" उस पंडित ने उत्तर दिया- "राजन्! इसमें करना क्या है? आप किसी पंडित को बुलाकर एक घंटे के लिए उससे पुराण सुन लिया करिए। जनता सोचेगी कि अहा! राजा जी तो पुराण सुनते हैं बड़े धार्मिक हैं।"

राजा को बात जँच गई। वह बोला-"तब तो पंडित! मैं और किसे ढूँढने जाऊँ, तुम ही आजाओ।" पडित ने पूछा-"आप मुझे कितना वेतन देंगे?" राजा ने पंडित को प्रतिदिन सोने के दो टके देना स्वीकार किया और बात पक्की हो गई। राजा प्रतिदिन पुराण सुनने लगा और पंडित प्रतिदिन सोने के दो टके प्राप्त करने लगा। दोनो प्रसन्न थे।

एक दिन पंडित के सम्बन्धियों का समाचार आया कि विवाह का प्रसंग है, आपका इसमें सम्मिलित होना आवश्यक है। अब पंडित असमंजस में पड़ गया कि यदि उस विवाह में सम्मिलित होने जाता हूँ तो एक सप्ताह लग जाएगा और सोने के चौदह टकों की हानि हो जाएगी। और यदि नहीं जाता हूँ तो सम्बन्ध टूट जाता है। बड़ी उलझन है क्या किया जाए और क्या न किया जाए?

पंडित का लड़का विद्वान् था। उसने अपने पिता को चिन्तातुर देखा तो पूछा कि वे क्यों चिन्तित हैं? जब पंडित ने सारी बात कहीं तो उसने कहा-"पिताजी, आप व्यर्थ चिन्ता कर रहे है। आप प्रसन्नतापूर्वक विवाह में सम्मिलित होने पधारिए, मैं राजा को पुराण सुनाने चला जाया करूँगा। इस प्रकार दोनों ही कार्य हो जायेंगे। पंडित को बात ठीक लगी। उसने लड़के को सावधान किया कि पुराण ठीक से सुनाना और स्वयं विवाह-यात्रा पर चल पड़ा।

पंडित-पुत्र राजा को पुराण सुनाने गया। उस पंडित-पुत्र ने अपने व्यावहारिक जीवन में एक गुण अपना रखा था कि किसी को धोखा नहीं देना। जैसी हो, वैसी सत्य बात कह देना। पुराण-वाचन के समय एक श्लोक ऐसा आया कि-

"तिल सर्षप मात्रं यो नरो मांस भक्षति ...."

उस श्लोक का सारांश यह था कि तिल-सरसों मात्र भी मांस जो मनुष्य खाता है वह नरक में जाता है। और वह नरक में तब तक रहेगा जब तक कि चाँद-सूर्य आकाश में घूमेंगे।

पंडित-पुत्र ने जो सच-सच बात थी वह बता दी। श्लोक का जैसा अर्थ था वह कर दिया। किन्तु इस कटु-सत्य को सुनकर राजा चिढ़ गया और कुपित हो गया। वह बोला-"पंडित! अपने पोथा बन्द करो मैं तो आज तक मनो मांस खा गया हूँ। तुम्हारे पुराण के अनुसार तो मुझे नरक हो ही गया, और वह भी अनन्तकाल के लिए। सो मुझे अब तुम्हारा पुराण नहीं सुनना है और सोने के टके भी नहीं देने हैं। तुम जा सकते हो।"

पंडित-पुत्र सत्यवादी था, स्पष्टवादी था। उसने कहा-"हाँ राजन्! पुराण तो ऐसा ही कहता है।" और इतना कहकर वह अपने घर चला आया।

अब जब उसका पिता घर लौटकर आया तो उत्सुक होकर उसने अपने पुत्र से हालचाल पूछा कि सब कुछ ठीक है कि नहीं, सोने के टके आ रहे हैं कि नहीं? पुत्र ने जो कुछ घटित हुआ था वह सब कुछ अपने पिता को बता दिया। पण्डित सिर पीटकर रह गया। बहुत क्रोधित हुआ। बड़ा दुःखी हुआ। बोला-"अरे मूर्ख! तूने घर आती लक्ष्मी को ठोकर मार दी। हमें सच्ची बात से क्या मतलब? जिसे सुनकर राजा प्रसन्न रहे, वैसी ही बात सुना देनी चाहिए। हम तो व्यवसायी हैं।"

लड़के ने जो उत्तर दिया वह मनन करने योग्य है। उसने कहा-"पिताजी! मैं तो भूखों मर जाना श्रेयस्कर समझूँगा, किन्तु धोखेबाजी करना मैं पाप समझता हूँ। अर्थ का अनर्थ मुझसे नहीं हो सकता।"

आखिर पण्डित पुराण लेकर स्वयं राजा के पास गया और बोला-"राजन्! मैं बाहर चला गया था। मेरा लड़का अभी छोकरा ही है। उसे अनुभव नहीं है। आप रूष्ट न हों, मैं आपको पुराण सुनाता हूँ। राजा ने कहा-"मुझे पुराण-वुराण कुछ नहीं सुनना। मुझे तो नरक में जाना ही है, अब मैं सोने के टके देने वाला नहीं हूँ।"

यह सुनकर पण्डित ने कहा-"महाराज! मैं आपको बिना मूल्य लिए ही पुराण सुनाऊँगा। आप सुनिए तो सही।"

आखिर पुराण-पाठ आरम्भ हुआ। वही श्लोक सामने आया-"तिल सरसों मात्र ....।" इसे सुनते ही राजा फिर चमका, बोला-"इसका अर्थ आपका पुत्र मुझे बता गया है, आप रहने दीजिए।" तब पण्डित ने कहा-"आप उसका अर्थ जरा ध्यान से सुनिए। वह बच्चा क्या अर्थ बताएगा? राजन्! इस श्लोक का अर्थ यह है कि 'जो तिल-सरसों मात्र माँस खाता है, वह नरक में जाता है। किन्तु आप जैसा राजा जिसे कि माँस खाना ही पड़ता है, वह यदि मनोबंध माँस खाता है तो वह नरक में नहीं जाता। अतः आप जब माँस खाएँ तो तिल-सरसों मात्र मत खाइये, खूब खाइये, भरपेट खाइये, मनोबंध खाइये।

बंधुओ! यह कैसी क्षुद्र, कैसी स्वार्थ-प्रेरित दृष्टि है? जब ऐसी दृष्टि आ जाए, तब सत्य का निरूपण किस प्रकार हो सकता है? और जब तक सत्य का निरूपण नहीं होता, तब तक मनुष्य की आत्मोन्नति कैसे सम्भव है?

अतः बन्धुओ! सद्ज्ञान की प्राप्ति के लिए, मंगलमय शान्ति प्राप्त करने के लिए, अपनी आत्मा को पवित्र बनाकर उत्थान हेतु सद्गुरु की शरण लीजिए और यह कभी न भूलिए कि जैसी संगति होगी, वैसा ही जीवन बनेगा।

-इत्यलम्

शान्ति-सोपान

"शांति जिन एक मुझ वीनती, सुनो त्रिभुवन राय रे,
शान्ति स्वरूप केम जाणिए कहो मन केम परखाय रे।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियाँ निवेदित जा चुकी है। उनमें से कुछ का अर्थ यहाँ किया जा रहा है? अब तक जिन कड़ियों का कुछ संकेत दिया जा चुका है, उन्हें छोड़कर आगे की कड़ियों का उच्चारण किया गया है। शान्तिनाथ भगवान की शान्ति की चरम सीमा की है, वह ऐसी अवर्णनीय शान्ति है जो अन्तिम है और जिसकी उपमा देने के लिए इस संसार में कोई पदार्थ है ही नहीं। वह शान्ति अनुपम है, अलौकिक है, ऐसी उत्कृष्ट, अनुपमेय शान्ति को धारण करने वाले महाप्रभु के चरणों में जिस व्यक्ति ने अपने जीवन को रखा हैं तथा उनके आदेशानुसार अपने जीवन का निर्माण करना आरम्भ किया है, वही शान्तिनाथ भगवान की उस चरम शान्ति की सीमा का अनुभव कर सकता है।

किन्तु ऐसी अमृतमय उस शान्ति का सोपान बतलाने वाले कौन है? क्योंकि जब तक वह सोपान हमें दिखलाई ही नहीं देगा, तब तक हम उस पर चढ़ कैसे सकेंगे? प्रथम सीढ़ी के निर्देश के साथ ही द्वितीय श्रेणी की ओर जाने के लिए- प्रभु शान्तिनाथ की अन्तिम मन्जिल पर पहुँचने के लिए सुदेव, सुगरु, सुधर्म की श्रद्धा, विश्व में रहने वाले समग्र जड़ और चेतन का विश्वास, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, मांडलिक, साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, आदि व्यवस्थाओं में विश्वास तथा अमुक साधना से श्रद्धापूर्वक चलने से यह शान्ति का स्वरूप प्रकट हो, यह प्रथम सोपान के अन्तर्गत आ जाता है। किन्तु इसका वास्तविक ज्ञान तो गुरु ही करा सकते है। गुरु के बिना यह ज्ञान होना सम्भव

नहीं। उनके समुचित निर्देश के अभाव में मनुष्य के हाथ में मात्र इधर-उधर भटकना ही रह जाता है। इसलिए शास्त्रीय गाथा का अर्थ आपके समाने रखा जा रहा है।

तस्सेसमग्गो गुरु विद्धसेवा

बन्धु! यदि आप ज्ञान की उस चरम सीमा को प्राप्त करना चाहते है तो उसका मार्ग, उसका सोपान आपको केवल गुरु की सेवा करने से ही प्राप्त हो सकता है। अब जो मुख्य प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है वह यह है कि गुरु की सेवा किस विधि से करे? क्या गुरु की सेवा करने का अभिप्राय यह है कि उनके समीप बैठकर उनके चरण दबए जाएँ अथवा उनके लिए आहार-पानी-वस्त्र इत्यादि लाकर दिए जाएँ। शारीरिक दृष्टि से कुछ वस्तुओं की आवश्यकता भी होती है। उन आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उनकी सेवा उपासना करते हुए जीवन में महत्वपूर्ण ज्ञानं प्राप्त किया जा सकता है।

किन्तु यह सेवा दो प्रकार से बन सकती ह। इन दोनों प्रकारों की सेवा के लिए स्थितियाँ भिन्न-भिन्न है। एक तो गुरु के गुरुकुल में प्रवेश करके, अर्थात सन्त बनकर सेवा की जा सकती है और दूसरे गृहस्थाश्रम में रह कर भी सेवा की जा सकती है। जो व्यक्ति संत बनकर गुरु की सेवा करता है वह आवश्यकतानुसार गुरु के चरण भी दबा सकता है तथा आवश्यकता के अनुसार ही वस्त्र-पात्र, भोजन, औषधि इत्यादि लाकर भी शारीरिक दृष्टि से सेवा कर सकता है तथा मानसिक दृष्टि से उनके अनुकूल-अभिप्राय के अनुसार चलता हुआ उनकी आराधना करने में तत्पर रह सकता है।

किन्तु दूसरी स्थिति गृहस्थ की है। सन्त एवं गृहस्थ की अवस्थाएँ भिन्न हैं। व्रतों की दृष्टि से साधु महाव्रती होता है जबकि गृहस्थ अणुव्रती। गृहस्थ अवस्था में उसके जिम्मे संसार की सारी क्रियाएँ होती है। वह अपनी स्थिति में रहता हुआ, लक्ष्य को स्थिर करके परिवार की सेवा करता है तथा इसके साथ ही समाज एवं राष्ट्र की सेवा भी यथास्थिति ध्यान रखता है। किन्तु वह गृहस्थ गुरु की सेवा हाथ-पैर दबाकर नहीं कर सकता। वह नमस्कार करे चरण छू सकता है, किन्तु संत के चरण दबा नहीं सकता है। यदि वह चरण दबाता है तो साधु को दोष लगता है तथा गुरु अपने गुरुस्थान से थोड़ा नीचे

उतरता है। शास्त्रों का कथन है कि साधु को गृहस्थ से हाथ पैरा दबाने की वेया-वच्च नहीं कराना चाहिए। यदि वह कराता है तो अनाचार दोष लगता है।

अनाचार बावन कहे गए हैं। गृहस्थ किसी साधु के चरणों में हाथ लगा सकता है, बैठकर व्याख्यान सुन सकता है, ज्ञान-चर्चा कर सकता है, किन्तु हाथ-पैर दबाने, भोजन, पानी, वस्त्र इत्यादि लाकर देने, पात्र खरीद कर लाकर देने आदि की सेवा को गृहस्थ-सेवा नहीं कही जा सकती है।

आप सहज ही यह प्रश्न कर सकते हैं कि महाराज! ऐसा क्यों है? यदि एक श्रद्धालु गृहस्थ अपने गुरु की, सन्त की सेवा इस प्रकार से भी करे, तो उसमें क्या हानि है? यदि गृहस्थ ही ऐसी सेवा नहीं करेगा तो साधु का निर्वाह कैसे होगा?

बन्धुओ! साधु का निर्वाह तो साधु-धर्म से ही होगा। शास्त्रकारों साधु के निर्वाह हेतु विधि बताई है। यदि इस विधि-विधान के अनुसार कोई साधु चलता है तो उसके लिए कोई कमी नहीं रहती। किन्तु यदि सामान्य स्थिति से सेवा कराई गई तो वह सामान्य धरातल पर पहुँच जाएगा। फिर साधु महाव्रती कैसे कहला सकेगा? यदि साधु को कोई गृहस्थ भोजन लाकर देता है तो यह सोचना होता है कि वह भोजन किस स्थान से लाया जा रहा है? वह जमीन को देखकर आ रहा है कि नहीं? कहीं वह किसी वनस्पति या कच्चे पानी को छूकर तो नहीं आ रहा है? तो जो बयालीस दोष भिक्षा सम्बन्धी कहे गए हैं उन्हें गृहस्थ नहीं टाल सकता है। वह तो अपनी गृहस्थ की स्थिति से चलता है। जो वस्तु जहाँ से भी खाने की मिली वही ले आता है। अतः यदि ऐसी वस्तु को साधु ग्रहण कर लेता है तो गृहस्थ की दृष्टि तो सेवा हो सकती है, किन्तु इससे साधु दोष का भागी बनता है। गृहस्थ के इस प्रकार से भोजनादि लाने में छोटे-मोटे प्राणियों की हिंसा होती है। इस प्रकार करते-कराते एवं अनुमोदन करने की दृष्टि से दोनों दोष लग जाते हैं। साधु तो सृष्टि के समग्र जीवों को एक ही भाव से देखता है, उन सबको वह अपने परिवार के रूप में मानता है, सबके रक्षण की भावना अपने हृदय में रखता है, सबकी शान्ति की कामना करता है, तो ऐसी स्थिति में उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट पहुँचाकर अथवा उनकी हिंसा की चिन्ता न करके लाए गए भोजन को यदि साधु ग्रहण करता है तो उसका व्रत खंडित होता है, वह दोष का भागी बनता है।

मान लीजिए कि एक बड़ा परिवार है। उसमें प्रमुख दादा हैं तथा उनके

बेटे, पोते, पड़पोते इत्यादि है। अब एक व्यक्ति उन दादा की सेवा करना चाहता है, उन्हें प्रसन्न करना चाहता है। वह उनके पास जाते हुए रास्ते में उनके किसी पोते-पड़पोते को पीटता है, किसी के कान काट लेता है, किसी की अगुलियाँ काट लेता है और उनकी माला बनाकर दादा को पहिनाता है तथा उनके चरण दबाता है और कहता है कि मैं आपकी सेवा करना चाहता हूँ, मुझे सेवा का अवसर दीजिए। तो उस व्यक्ति के उस व्यवहार से दादा प्रसन्न होगे अथवा अप्रसन्न? उस कृत्य से उनकी सेवा होगी क्या? इसी प्रकार एक साधु जो कि सभी जीवों को अपना परिवार समझता है, सभी जीवों के प्रति दया भाव रखता है, उसकी सेवा के लिए यदि अनेक छोटे-मोटे जीवों को कष्ट पहुँचाते हुए उनकी हिंसा करते हुए यदि कोई गृहस्थ साधु को भोजनादि लाकर देता है तो साधु उसे कैसे ग्रहण करेगा? कोई भी साधु ऐसा नहीं करेगा। यदि साधु ऐसा करे तो वह दोषी बन जाए।

बन्धुओ! जो साधु पद पर पहुँचता है, गुरु पद पर पहुँचता है वह आगमधर तो होता ही है किन्तु जब वह व्रतों को लेकर चलता है तो साधु कहलाता है। वह तो ऐसा समझता है कि जगत के छोटे-मोटे सभी जीव मेरे पुत्र हैं, मैं उनका पिता हूँ। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और चलते-फिरते त्रस जीव ये समग्र प्राणी मेरी आत्मा के तुल्य हैं। मैं उन्हें अपने परिवार के ही तुल्य देख रहा हूँ। यदि इन्हें सताकर कोई मेरे लिए भोजन लाता है तो वह भोजन मेरे लिए तो विष तुल्य है। मैं भूखा रहना पसन्द करूँगा किन्तु ऐसा भोजन ग्रहण नहीं करूँगा। इसी दृष्टि को लेकर साधु गृहस्थ के घर में भोजन ग्रहण करने पहुँचता है तथा यह ध्यान रखना है कि मुझे प्राणियों को रक्षण करते हुए ही भोजन ग्रहण करना है। अन्यथा भूखे ही रह जाना है।

किन्तु गृहस्थ कभी यह देखकर कि महाराज पधार रहे हैं तथा घर में अंधेरा है, बिजली का बटन दबा देता है। वह अपनी दृष्टि से विचार करके ही ऐसा करता है कि उजाले में भोजन बहराने के कार्य में सुविधा होगी। किन्तु ऐसी स्थिति में साधु तो भोजन ग्रहण नहीं करेगा क्योंकि इस परिस्थिति में भोजन लेना कल्पता नहीं। बिजली जला देने से अग्निकाल के जीवों को कष्ट होता है। साधु के आहार के निमित्त अग्निकाय के जीवों को सताया जाना साधु नहीं चाहता उसके लिए तो वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अग्निकाय के जीव भी उसके परिवार के सदस्य है। यदि

उन्हें सताकर अथवा मारकर गृहस्थ साधु को भोजन देना चाहता है तो साधु यदि तीन दिन का भूखा होगा तब भी भोजन ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकार से यदि साधु पारणें के लिए गृहस्थ के घर जाए और गृहस्थ कच्चे पानी से हाथ धोले तब भी वह भोजन नहीं लेगा, क्योंकि पानी में भी जीव हैं। यही बात वनस्पति के विषय में भी है। विज्ञान द्वारा वनस्पति की सजीवता सिद्ध हो चुकी है। अतः साधु अपने लिए किसी भी जीव को सताया जाना या उनकी हिंसा किया जाना कभी नहीं चाहेगा। वर्षा की झड़ी लगी हो और साधु भूखा ही जाएगा, किन्तु जलकाय के जीवों की हिंसा करते हुए गोचरी लेने बाहर कदापि नहीं जाएगा। ऐसा करने से उन जीवों की विराधना होगी। साधु इन सब बातों का पूरा ध्यान रखकर चलता है। साधु गृहस्थ के घर आए तथा गृहस्थ चींटी पर पाँव रख दे तो साधु के लिए वह घर असूझता हो गया। इसी प्रकार से साधु आए और कोई गर्भवती स्त्री यदि उसे आहारादि देने के लिए उठे तो भी साधु आहार ग्रहण नहीं करेगा, क्योंकि ऐसा करने से गर्भ में रहे हुए जीव को कष्ट होता है तथा माता को भी कष्ट होता है।

अस्तु, साधु इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखता है कि उसके निमित्त से किसी भी एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव को कष्ट न हो, क्योकि सभी उसके परिवार के ही सदस्य हैं। अतः वह किसी भी गृहस्थ के घर जाकर पूरे ध्यान से इस बात की जाँच-पड़ताल कर लेता है तथा जब उसे सन्तोष हो जाता है तभी वह आहार ग्रहण करता है अन्यथा वापिस लौट जाता है। सन्तोष न हो और कोई शंका हो जाए तो साधु गृहस्थ को झूठ बोलने का त्याग कराकर उससे सच्ची बात पूछ लेता है। फिर भी यदि श्रावक झूठ बोले तो उसका दोष फिर श्रावका को ही लगता है, क्योंकि साधु ने तो सच्चे हृदय से सत्य की जानकारी के लिए प्रयत्न किया।

अभिप्राय यह है कि साधु को बयालीस दोष टालने पड़ते है। अतः यदि आप स्थानक में आकर साधु को भोजन देना चाहेंगे तो वह उसे ग्रहण नहीं करेगा। ऐसा भोजन अथवा वस्त्र आदि उसके लिए हितावह नहीं होते। किन्तु आप लोग तो चतुर है। आप में व्यवसाय बुद्धि है। अतः आप कभी-कभी गलियें निकालने का प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार समाज या देश की किसी बुराई को दूर करने के

शास्त्रकारों का कथन है कि साधु ऐसा भी नहीं कर सकता। क्योंकि यद्यपि साधु इसमें सेवा की दृष्टि से ही देखता है किन्तु इसके साथ ही मर्यादा भंग भी देखता है। इसी के साथ समभाव में भी फर्क पड़ता है। यदि आज वह एक की सेवा करे तो कल दूसरे की क्यों न करे? इस प्रकार इसका अन्त कहाँ आए? यदि वह निरन्तर ऐसा ही करता रहा तो उसकी साधना में विघ्न उपस्थित होगा। अतः साधु को तो गृहस्थ की सेवा न करके अपनी महत्वपूर्ण साधना में ही लीन रहना चाहिए। गृहस्थ की सेवा के लिए तो दूसरा व्यक्ति भी मिल जाएगा, किन्तु जो आध्यात्मिक सेवा वह करता है, इसे अन्य कौन व्यक्ति करेगा? गृहस्थों के पाप छुड़ाने की गम्भीर सेवा साधु करता है। उसे यही सेवा करनी चाहिए और अपने साधना-क्षेत्र में रमण करना चाहिए।

साधु के गृहस्थ को हाथ लगाना भी वर्जित किया गया है। उसका क्या अभिप्राय है? ऐसा वर्णन इसलिए किया गया है कि भविष्य में किसी भी व्यक्ति के हृदय में किसी भी प्रकार की विकृति आए, ऐसी स्थिति को पहले से ही टालना चाहिए। सामान्य लोगों में ऐसी विकृति आने की सम्भावना रहती है। अतः ऐसी सम्भावना को पहले से ही दूर रखना चाहिए। साधु-साध्वी भी छोटे-वड़ों का वन्दना करें, किन्तु किसी भी प्रकार से हँसी-मजाक के वशीभूत होकर किसी भी अंग को हाथ नहीं लगाना चाहिए। ऐसा करना साधु के लिए भी वर्जनीय हैं आपस में साधु-साधु के लिए तथा साध्वी-साध्वी के लिए भी वर्जनीय है। बड़े हों तो सिर पर हाथ रख दें, किन्तु अन्य अंगों पर हाथ सुखे-समाधें निष्कारण भी नहीं रखना चाहिए। गृहस्थ के शरीर पर तो किसी भी स्थिति में ही नहीं रखना चाहिए। इस प्रकार का वर्जन शास्त्रकारों द्वारा साधु एवं गृहस्थ के लिए आध्यात्मिक भावना से ही किया गया है। इसके पीछे साधु जीवन को पवित्र बनाए रखने की दृष्टि है।

बालक निर्दोष होता है, निष्पाप होता है। किन्तु यदि किसी परिवार का कोई बालक साधु के पास आकर बैठे और साधु उसे प्यास से खिलाने लगे, बच्चा उनसे हिलमिल जाए, माता सोचे की चलो अच्छा है मुझे बहुत से काम हैं, बच्चे को साधुजी रख लेंगे तो फिर तो साधु उसी चक्र में पड़ जाएँगे और अपनी सम्पूर्ण साधना को भुला बैठेंगे, गँवा बैठेंगे।

एक दृष्टान्त मेरे स्मरण में आ रहा है। इस दृष्टान्त से मेरी इस बात

की पुष्टि होती है कि इसी सेवा की दृष्टि से किस प्रकार कोई साधक अपनी साधना को भूला बैठता है।

एक साधक था। वह साधना के क्षेत्र में अग्रसर हुआ। किन्तु उसे कोई गुरु नहीं मिला। गुरु के बिना ज्ञान नहीं मिलता। किन्तु उस साधक ने इसकी चिन्ता नहीं की और सोचा कि वह तो अकेला ही रहेगा और साधना करेगा। उसे जीव-अजीव का कोई ज्ञान नहीं था। वह तो अज्ञान तप करने के लिए जंगल में चला गया। हठधर्मी के वशीभूत होकर वह एक गुफा में प्रविष्ट होकर वही रहने लगा। दिन में एक बार ही वह बाहर निकलता था और भोजन के स्थान पर एक वृक्ष की छाल को छीलकर उसमें से जो रस द्रवित होता उसे ही चाट लेता। बस यही उसका भोजन था।

लोगों ने यह देखा तो उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ कि देखो, यह कैसा तपस्वी है, भोजन भी नहीं करता, केवल वृक्ष के थोड़े से रस को अपनी जीभ से चाट कर ही रह जाता है और दिन-रात गुफा में रहकर साधना करता है। धीरे-धीरे लोगों का यह कुतूहल श्रद्धा एवं प्रशंसा में बदल गया। वे कहने लगे कि यह तो बड़ा योगी-महात्मा है। अन्न-जल कुछ भी ग्रहण नहीं करता, मात्र तनिक सा रस चाटकर जीवन-यापन करता है। कहते है कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं, किन्तु यह तो अकेला ही अपनी साधना में निमग्न रहता है।

इसी प्रकार की अनेंको बातें लोगों में चलती रही। धीरे-धीरे बहुत से लोग उसके दर्शनों के लिए आने लगे। वह साधक जब गुफा से निकलता तो उससे आशीर्वाद प्राप्त करते। होते-होते यह समाचार राजा के पास भी पहुँच गया। उसकी प्रशंसा सुनकर राजा के मन में आया कि ऐसे सिद्ध-महात्मा के दर्शन स्वयं भी करने चाहिए और अपने अन्तःपुर को भी कराने चाहिए। अस्तु उसने अपनी मंत्री को आदेश दिया कि वह उस साधक को महल में बुलाकर ले आए ताकि वह तथा उसकी रानियाँ उसके दर्शन कर सकें। राजा का अभिप्राय लेकर मंत्री उस साधक के पास गया और जब वह गुफा से बाहर आया तब उससे कहा कि वह महल में चलकर राजा-रानियों को दर्शन दे।

किन्तु साधक ने इन्कार कर दिया। मंत्री निराश लौट आया। उसने जब राजा से कहा कि वह साधक तो महलों में आने के लिए तैयार नहीं है तो राजा

ने स्वयं ही उसके दर्शनार्थ जाने का निश्चय किया। जब राजा मंत्री के साथ वहाँ गया और महात्मा गुफा से बाहर आया तब राजा ने उसका अभिवादन कर प्रार्थना की कि महात्मा जी! महलों में पधारिए। किन्तु महाराज ने पुनः यह आग्रह-अस्वीकृत कर दिया।

महात्मा को ऐसा तप करते हुए देखकर राजा तो प्रभावित हुआ किन्तु मंत्री ज्ञानी था। उसने राजा से कहा-"राजन्! यह महात्मा अज्ञान-तप कर रहा है। इसे तो अभी यह भी ज्ञान नहीं है कि वनस्पति में जीव है कि नहीं। अतः मुझे तो सन्देह है कि इसकी साधना आगे बढ़ सकेगी। सिद्धान्त की दृष्टि से यह कुछ भी नहीं जानता।"

किन्तु राजा को मंत्री की बात से सन्तोष नहीं हुआ। उसने कहा-"मंत्री, तुम कुछ नहीं जानते। यह सच्चा महात्मा है।"

यह सुनकर मंत्री ने कहा-"महांराज! विज्ञान के बिना साधु जीवन पनप नहीं सकता। मैं आपसे पुनः कहता हूँ कि इसकी साधना में दोष है। इसकी साधना आगे नहीं बढ़ेगी।"

मंत्री ने जब दृढ़ विश्वास के साथ यह बात कही तो राजा ने कहा-"क्या तुम यह सिद्ध करके बता सकते हो।"

मंत्री ने चुनौती स्वीकार कर ली और कहा-"हाँ, राजन्! मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ, किन्तु इसके लिए मुझे कुछ समय तथा कुछ धन की भी आवश्यकता होगी।"

राजा ने यह स्वीकार कर लिया।

अब मंत्री यह विचार करने लगा कि किस उपाय से उस महात्मा को राजा के पास लाया जाए। अन्त में उसे एक उपाय सूझ ही गया। उस नगर में एक वेश्या रहती थी। वह बड़ी रूपवती तथा चतुर थी। मन्त्री ने उसके पास जाकर सारी बात उसे बताई और कहा-

"वह महात्मा दिन में केवल एक ही बार अपनी गुफा से बाहर आता है तथा वृक्ष की छाल हटाकर- वृक्ष का रस चाट कर वापस गुफा में चला जाता है। अब किसी न किसी प्रकार उसे राजा के पास नगर में ले आना है। बोलो, क्या तुम ऐसा कर सकती हो?"

वेश्या ने कहा-"आप भी मेरे साथ नगर में चलिए।"

महात्मा ने स्वीकार कर लिया। वेश्या ने मंत्री को समाचार भिजवा दिया कि वह महात्मा को लेकर आ रही है। महात्मा जी बच्चे को गोद में उठाए नौकर के समान जब नगर में पहुँचे तब वह दृश्य दर्शनीय ही था। यह सब देखकर राजा ने मंत्री से कहा-"मंत्रिवर! क्या ऐसा होना भी सम्भव है? इस महात्मा की साधना का क्या हुआ?"

मंत्री ने राजा के बताया-"राजन्! सच्चे गुरु के अभाव में सच्ची एवं शुद्ध साधना नहीं हो सकती। यही कारण है कि यह महात्मा आज अपनी साधना से पतित हो गया है। शुद्ध साधना के अभाव में मनुष्य आत्मिक शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता।"

अस्तु, आचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज कहा करते थे कि "जितना बिगाड़ा नहीं राँड ने, उतना बिगाड़ा खाँड ने।" अतः शास्त्रकारों ने कहा है कि गृहस्थ से सेवा न लेना न देना। क्योंकि ऐसा करने पर साधु कभी न कभी चक्कर में आ ही जाता है और अपनी साधना से गिर जाता है। ऐसा करने से उसका एक स्थान पर जमना हो जाता है और फिर वह श्रावक को खुश करने में लग जाता है स्वार्थपरता में डूब जाता हैं साधु सोचने लगता है कि यहाँ अच्छा खाना-पीना मिलता है, अतः यहाँ से क्यों जाना? इस प्रकार वह साधना-पथ से गिर जाता है और तीर्थंकरों की परम्परा से गिराव हो जाता है। साधु तो अपने जीवन की हिंसा करता ही है परन्तु श्रावक, जो धर्म कमाने जाते हैं, वे भी धर्म के स्थान पर पाप कमा लेते हैं- और अपनी आत्मा को भारी बना लेते हैं। इस प्रकार से उनके द्वारा अनन्त तीर्थंकरों की अशातना हो जाती है। अतः तीर्थंकरों की सेवा जिस रूप में बताई गई है, उसी रूप में की जानी चाहिए। साधु की सेवा के लिए जो नियम बताए गए है, उन्ही के अनुसार आप उनकी सेवा करेंगे तो उनका जीवन भी उज्ज्वल बनेगा। आप अपनी मर्यादा में रहकर ही उनकी सेवा करें, किन्तु उनके लिए सब कुछ जुटाकर देना योग्य नहीं है।

गुरु की सेवा तो करनी ही चाहिए। किन्तु वह सेवा किस प्रकार से की जाए और मर्यादा का भंग न हो, यह देखना आवश्यक है। यदि वास्तविक तरीके से सेवा की जाती है। तो वह सच्ची शांति का पथ प्रशस्त करती है। इसलिए हमें

तथा आप दोनों को ही सावधान रहना चाहिए। हमें आपसे किसी भी प्रकार की लाग-लपेट नहीं रखना है। हमारे लिए सभी जातियां समान है। किन्तु हम उन्हीं के यहाँ से प्रासुक भोजन ले सकते है जिनका रहन-सहन खान-पान उत्तम है, अर्थात् जिनके यहाँ माँस नहीं पकता है तथा मदिरा का सेवन नहीं होता है। साधु तो मधुकर के समान है, इसलिए उसके लिए मधुकरी बताई गई है। जिस प्रकार भँवरा भिन्न-भिन्न फूलों से थोड़ा-थोड़ा रस ग्रहण करता है और उद्यान के पुष्पों को किलामना नहीं पहुँचाता उसी प्रकार साधु के लिए श्रावकों का उद्यान है। छह काय के जीवों की रक्षा करता हुआ साधु श्रावकों के यहाँ से मधुकरी ग्रहण करता है।

इस प्रकार सत्य का निरूपण करते दूसरे सत्य का सोपान बताया गया है कि साधु अवस्था में रहते हुए भी साधु वृद्ध की सेवा कर सकता है। उपलक्षण से गृहस्थ अवस्था में रहता हुआ गृहस्थ भी ऐसी सेवा करता है। वृद्धजनों की, गुरुजनों की सेवा करता हुआ वह भी शांति के सोपान की ओर बढ़ सकता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि यदि गृहस्थ घर में वृद्धजन हो, और उनकी सेवा की आवश्यकता हो, किन्तु वह उनकी सेवा न करके धर्मकार्य करने चला जाय, संवत्सरी का पौषध करने चला जाए तो यह उचित नहीं है। वृद्ध की सेवा आवश्यक हो तो पहले वही करना चाहिए। ऐसा नहीं कि वह यह सोचे कि मैं यह पापकार्य क्यों करूँ? मैं तो जाकर अठपोरिया (आठ प्रहर का) पौषध कर लूँ। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो उसके मूल में अतिचार लगता है। यदि वह उस दिन पौषध नहीं करेगा तो केवल उत्तर गुण ही टूटेगा, लेकिन यदि वह वृद्ध की सेवा नहीं करता है तो भक्तपान विच्छेद होता है, इससे हिंसा लगती है तथा यदि कोई दूसरा व्यक्ति सेवा करने वाला नहीं है तो दोष लगता है। अतः बड़ों की सेवा तो करनी ही चाहिए साथ ही छोटों के प्रति भी हमदर्दी होनी चाहिए। किसी भी व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। अतः सेवा धर्म की ओर अवश्य अग्रसर होना चाहिए। जिन व्यक्तियों में सरलता तथा विनीतता होती है वे ही व्यक्ति इस क्षेत्र में आकर अपना नाम उज्जवल कर सकते हैं तथा आत्मकल्याण की साधना कर सकते है।

बन्धुओ! सेवा धर्म परम गहन है। योगियों के लिए भी यह अगम्य कहा

गया है। त्रिखंडाधिपति वासुदेव महाराज जिनके पास तीन खंड की सत्ता और सम्पति हो, शंख, चक्र, कौस्तुभमणि, सारंग धनुष जैसे अनेक निजी शस्त्र हों, ऐसे दिव्य शक्तिशाली पुरुषों को क्या कभी अपने से छोटों के प्रति हमदर्दी हो सकती है? क्या वे अपने से छोटों की सेवा कर सकते हैं?

आप जरा अपनी स्थिति पर पहले विचार कर लीजिए। तीन भुवन की सत्ता तो दूर, यदि आपको ब्यावर का राज्य भी मिल जाए तो आप क्या करेंगे? ऐसी स्थिति में अपने से छोटों की सेवा तो दूर की बात है, शायद अपने माता-पिता, वृद्धजन, गुरुजन आदि को भी भूल जाएगें या उन्हें भी ठोकर मारकर दूर हटा देंगे। और ब्यावर का राज्य क्या, चन्द चाँदी के टुकड़े मिल जाने पर भी आप तो अभिमान में ऐसे गर्क हो जाते है कि आपको बाजार सँकडा दिखाई देने लगता है, आप किसी की भी चिन्ता नहीं करते। तो ऐसे व्यक्ति कभी भी सांसरिक अथवा धार्मिक दृष्टि से अपने जीवन कों उन्नत नहीं बना सकते। धन अथवा सत्ता कितनी भी प्राप्त हो जाए, किन्तु मन में अभिमान नहीं आने देना चाहिए, सेवा धर्म नहीं बिसराना चाहिए।

मैं आपको त्रिखण्डनाथ की बात बता रहा था। इतना ऐश्वर्य एवं शक्ति होते हुए भी वे बड़ों का आदर तो करते ही थे, किन्तु अपने सेवकजनों की सुख-सुविधा का भी पूरा ध्यान रखते थे। यही कारण था कि उनके सेवक भी अपने स्वामी के प्रति पूर्ण वफ़ादार रहते थे। इन्हीं कारणों से हम आज भी उन महापुरूषों को याद करते हैं तथा उनका चरित्र सुनते-सुनाते हैं, जिससे आपके जीवन में भी एक मोड़ आ सके, आप भी यह जान सके कि शांति प्राप्त करने का सही मार्ग कौनसा है।

वे महापुरुष इतनी सम्पन्न स्थिति में रहते हुए भी जनहितकारी कार्यों को कभी नहीं भूलते थे। अपने सेवकों को भी वे अपना मित्र, अपना आत्मीय मानते थे। आज हमारी क्या स्थिति है? हम अपने सेवकों के साथ कैसा बर्ताव करते है? हम उनके साथ तिरस्कार के साथ पेश आते हैं। चूंकि वे आज कमजोर हैं, दीन हैं, अतः वे आपके प्रत्येक प्रकार के दुर्व्यहार को चुपचाप सहन कर रहे हैं। किन्तु यदि हमने अपने प्रेमपूर्ण व्यवहार से उनके हृदय को नहीं जीता तो एक दिन वे विद्रोह की स्थिति में आ सकते है और आपकी सत्ता को छीन भी सकते है। आपके

लिए तन तोड़कर कार्य करते है, तो आपका भी कर्तव्य है कि आप उन्हें अपना मित्र समझें और उनके साथ नौकर जैसा बर्ताव न करें। यदि आप इस नीति से चलेंगे तो घर में चैन और शान्ति बनी रहेगी।

हमें बड़े-बड़े नगरों में जाने का प्रसंग आता है। वहाँ भिक्षा के लिए जाने का भी प्रसंग आता है। एक समय एक करोड़पति के घर में जाने का प्रसंग आया। साधु के लिए तो कभी झोंपड़ी तथा कभी महल सभी जगह जाने का प्रसंग आता ही है। तो वहाँ सेठानी ने पतली-पतली रोटियाँ बहराई और एक तरफ जो मोटी-मोटी और रूखी बाजरे की रोटियाँ पड़ी थी उनके लिए बताया कि ये तो नौकरों के लिए बनी हैं। तो बन्धुओ! यह उचित नहीं है। अपने सेवकों के साथ इस प्रकार भेद भाव का व्यवहार यदि आप लोग रखेंगे तो किसी दिन सौ सुनार तथा एक लुहार की भी हो सकती है।

मैं आपको कृष्ण महाराज तथा रुक्मिणी का चरित्र सुना रहा हूँ। उनके चरित्र से हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। रुक्मिणी का चरित्र जो आगे विस्तार से सुना जाएगा, वह माताओं के लिए कितना प्रेरणादायी है! इस प्रकार वह भाइयों के लिए भी उपयोगी है। यदि हम इन लोगों के समान अपनी बुद्धि ठीक रखें तथा अपने सेवकों के साथ सद्व्यवहार रखें तो वे भी हमें अपना मानेंगे तथा कोई बेईमानी करने की भावना उनके हृदय में उदित नहीं होगी। हम लोगों का दुर्व्यवहार ही इन गरीब लोगों को बेईमानी तथा चोरियाँ करने के लिए प्रेरित करता है।

आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज फर्माया करते थे कि एक नौकर एक सेठ के यहाँ नौकरी करने के लिए गया। सेठ ने उससे पूछा कि वह कितनी तनख्वाह लेगा। नौकर ने सोचा कि यदि अधिक तनख्वाह माँगूगा तो ये मुझे नौकर नहीं रखेंगे। अतः उसने कहा कि वह ढाई सौ रुपये लेगा। तब सेठ ने पूछा कि तुम्हारे घर का खर्च कितना है? नौकर ने उत्तर दिया कि खर्च तो साढ़े तीन सौ का है। परिवार में सदस्य अधिक हैं। तब सेठ ने पूछा कि जब तुम्हारे घर का खर्च साढ़े तीन सौ का है, तब तुम ढाई सौ में कैसे काम चलाओगे? इसका अर्थ है कि तुम चोरी करके काम चलाने की बात सोच रहे थे। किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। मैं तुम्हें साढ़े तीन सौ रुपये ही दूंगा। बोलो, अब तो तुम ईमानदारी से काम करोगे न?

नौकर सेठ की इस उदारता से बहुत प्रभावित हुआ। वह सदा-सदा के लिए सेठ का भक्त हो गया। उसने उत्तर दिया-"सेठ साहब! आप बड़े कृपालु हो। आपने मेरे मन की बात जान ली। अब आप विश्वास कीजिए कि मैं अपने तन-मन से आपकी सेवा करूँगा तथा कभी आपको कोई शिकायत नहीं होने दूँगा।"

बन्धुओ! इस प्रकार की स्थिति जब बनती है तो मानवता मुस्कराती है और मनुष्य-जीवन का उत्थान होता है। इसके विपरीत अपने सेवकों से दुर्व्यवहार करने पर मानवता का पतन होता है, मनुष्यता की हानि होती है, चोरी होती है, बेईमानी होती है, हिंसा होती है। जरा विचार कीजिए और अपने हित के लिए तथा समस्त मानव जाति के कल्याण के लिए अपने व्यवहार और आचरण को सुधारिए।

प्राचीन काल में एक राजा था। उसके अनेक सेवक थे। एक दिन जब राजा अपने शयनागार में सो रहा था, तब उसके एक सेवक ने आकर राजा की अँगुली में से उसकी एक बहुमूल्य अँगूठी निकाल ली। वस्तुतः सेवक जब अँगूठी निकाल रहा था तब राजा की नींद खुल चुकी थी, किन्तु वह चुपचाप आँखे बन्द किए पड़ा रहा मानो गहरी नींद में सो रहा हो। सेवक अँगूठी लेकर चला गया, राजा ने उसे कुछ नहीं कहा। अब राजा के मन ही मन विचार करने लगा कि आखिर उसके सेवक को ऐसा क्यों करना पड़ा? क्या वह किसी विशेष कष्ट में हैं? अवश्य ऐसा ही होगा, मैंने उसके घर की तरफ कभी ध्यान नहीं दिया, इसलिए उसे आज चोरी करनी पड़ी होगी। यह सोचकर राजा ने गुप्तचरों द्वारा पता लगवाया तो उसे मालूम हुआ कि उसकी पत्नी गर्भवती है तथा जापे का आवश्यक सामान उस बेचारे गरीब सेवक के पास नहीं है। यह ज्ञात करके राजा के मन ही मन बड़ा दुःख हुआ।

कुछ समय बाद वह सेवक राजा की अँगूठी वापिस लाया और सोते समय राजा के हाथ में वापस पहिना दी। इस बार राजा ने सेवक से पूछा कि वह क्या कर रहा है? तब सेवक ने सच-सच उत्तर दिया-"दीनानाथ! मैं चोरी नहीं कर रहा हूँ। एक दिन आपकी अँगुली में से निकाल कर मैं यह अँगूठी ले गया था, आज इसे वापिस पहिना रहा हूँ। वास्तविक बात यह है कि कुछ समय के

लिए इसे गिरवी रखकर मैंने अपने आवश्यकता की पूर्ति कर ली। अब मैं इसे लौटा रहा हूँ। उस समय मैंने आपको मालूम नहीं होने दिया। यदि आपको मालूम हो जाता तो मेरी बड़ी दुर्दशा होती, मैं बरबाद हो जाता।"

यह सुनकर राजा मुस्कराया और बोला-"भाई! मुझे उसी दिन पता लग गया था। किन्तु इस कार्य के लिए दोषी तू नहीं मैं ही हूँ। तू मेरे लिए सर्वस्व अर्पण करके चल रहा है और मैंने कभी तेरे घर की स्थिति की ओर ध्यान ही नहीं दिया, तो यह तो मेरी ही भूल है, तू चिन्ता न कर।

उपरोक्त दृष्टान्त से हमें अपने जीवन की तुलना करनी चाहिए और देखना चाहिए कि वे लोग कैसे थे और हम कैसे है। यदि जीवन का निर्माण करने के लिए प्रथम सोपान पर पहुँचना चाहते हैं तो इस प्रकार के व्यवहार को अपनाइये। अन्यथा अभिमान में डूबकर अन्याय के सिवाय और क्या करना संभव हो सकेगा?

उड़ीसा में घटित एक घटना याद आ रही है। चुनाव का समय था। सरंपच के चुनाव की बात थी। दो उम्मीदवार थे। एक गरीब आदमी का वोट लेने के लिए एक उम्मीदवार ने उसे बीस रुपये दिए। उसने उसे वोट देना स्वीकार कर लिया। अब दूसरा उम्मीदवार भी पहुँचा और संयोग से उसने अधिक रुपये दिए। गरीब आदमी ने उस दूसरे उम्मीदवार को ही वोट दे दिया और वह चुन लिया गया। जब पहिले उम्मीदवार को मालूम हुआ कि उस व्यक्ति ने उसे वोट नहीं दिया है तो उसे क्रोध आया और बदला लेने का विचार करने लगा। उसने बीस रुपये का चक्रवर्ती ब्याज लगाकर उस बेचारे गरीब आदमी पर सौ रुपये का दावा कर दिया। कुड़की लेकर वह उसके घर गया और सारा सामान कुर्क करा लिया। यहाँ तक कि उसकी गर्भवती स्त्री के खाने के लिए दो मुट्ठी धान भी उसने नहीं छोड़ा। गरीब आदमी का रोना और गिड़गिड़ाना सब व्यर्थ गया।

बेचारा गरीब बड़ा दुःखी हुआ। सोचने लगा कि ऐसे जीने से तो मर जाना ही बेहतर है। किन्तु मरने से पहले उस दुष्ट से बदला लेना चाहिए। ऐसा सोचकर एक लट्ठ लेकर वह उस स्थान पर पहुँचा जहाँ पर वह सेठ अपने दोस्तों के साथ बैठकर गुलछर्रे उड़ा रहा था और अपनी बहादुरी की डींग हाँक रहा था। गरीब आदमी ने आव देखा न ताव, कसकर एक डण्डा सेठ की खोपड़ी में जमा

दिया। इतने में सेठ के साथियों ने डण्डा पकड़ लिया। सेठ ने डण्डा लेकर उस गरीब की खूब पिटाई की। इतनी कि वह वहीं पर ढेर हो गया। उसकी सहायता करने वाला था भी कौन? अब मुकद्दमा चला और सेठ के बीस हजार रुपये खर्च हो गए।

कहने का आशय यह है कि स्वार्थ के वशीभूत होकर मनुष्य घोर से घोरतर निर्दयता का व्यवहार कर बैठता है। उसे सेठ की यह हालत देखकर हम सन्तों के हृदय में तो यह आ गई कि इसके यहाँ का अन्न-जल भी नहीं लेना चाहिए।

बंधुओ! मनुष्य का जीवन अमूल्य हैं। इसके पल-पल का सदुपयोग करना चाहिए। घर में रहने वाले, समाज और देश में रहने वाले, समस्त भूतल पर रहने वाले प्रत्येक प्राणी के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करना चाहिए। मनुष्य की वाणी में अमृत भी है और विष भी। यदि हम किसी के साथ प्रेम से बोलते है तो वह हमारी वाणी अमृतमयी बन जाती है। तथा यदि हम कटुवचन कहते है- तो वही वाणी विषमय भी बन जाती है। और जब इस वाणी से अमृत बरसता है तो शत्रु भी मित्र एवं दुर्जन भी सज्जन बन जाते है।

स्वर्गीय आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज फर्माते थे कि "चाकर को ठाकर कहे ....।"

घर में बूढ़ी दासी हो, उसे यदि बाई अथवा माँजी कहें तो वह प्रसन्न हो जाती है। इसी प्रकार चाकर को यदि ठाकुर कह दोगे तो वह अपना सर्वस्व आप पर न्यौछावर करने के लिए प्रस्तुत रहेगा। मधुर व्यवहार करना एक कला है। यह कला हम सबको सीखनी चाहिए। वे त्रिखंडाधिपति वासुदेव ये कलाएँ जानते थे। इसीलिए वे सबसे मित्रता का, सज्जनता का व्यवहार करते थे। वे शरणागत के आधार थे। साधु-सन्तों की सेवा तथा आदर करते थे। जनहित के कार्य करने के लिए वे सदैव प्रस्तुत रहते थे। जनहितकारी कार्य करने के कारण वे चन्द्रतुल्य कहलाते थे। चन्द्रमा जिस प्रकार सभी को शीतलता एवं शान्ति प्रदान करता है, उसी प्रकार वे सभी लोगों के लिए आनन्द एवं सुख-शांति प्रदान करने वाले थे। वे बड़े से बड़े थे, किन्तु छोटे से छोटे के साथ भी ऐसा व्यवहार करते थे जैसे कि वे छोटे लोग उनके परम आत्मीय हों। ऐसा व्यवहार करने के कारण वे स्वयं

छोटे नहीं वने, वल्कि और भी ऊँचे उठ गए तथा आज तक हम उनका गुणगान करते है।

अस्तु, बन्धुओ! जीवन में शान्ति-सोपान को पाना है, उस सोपान पर चढ़कर मानव जीवन की चरम सार्थकता प्राप्त करनी है तो इस स्थिति का विचार करके चलिए, अवश्य ही आपके जीवन में शान्ति की सुधा की वर्षा होगी।

-इत्यलम

****

सम्यक्त्व का सुधाकलश

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना

"शान्ति जिन मुझ एक वीनती ....।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण इस आशा और आकांक्षा के साथ चल रहा है कि हमारे जीवन में भी शान्ति का संचार हो, तथा हम भी उस अगाध शान्ति का अनुभव कर सकें- जो कि अभव्य जीवों के लिए नितान्त दुर्लभ, दुर्भव्य जीवों के लिए अलभ्य तथा भव्य जीवों के लिए पुरूषार्थ द्वारा लभ्य है।

पुरूषार्थ- यह शब्द यहाँ महत्वपूर्ण है। वह शान्ति, वह दुर्लभ शान्ति, अगाध शान्ति हमारे भीतर ही है। उस शान्ति में हमारा जीवन सराबोर है। किन्तु हमारे पास जो वस्तु नहीं है, वह है दृष्टि तथा पुरूषार्थ। यह सत्य दृष्टि हमारे पास हो, हम यह जान सकें कि शान्ति क्या है, तो हम उसे सहज ही प्राप्त कर सकते हैं। प्रभु के चरणों में प्रार्थना के शब्द, प्रार्थना की कड़ियों के निवेदन का यही तात्पर्य है कि हमें प्रभु की कृपा से वह दृष्टि, वह ज्ञान मिल सके जिससे कि हम अपने ही भीतर तथा अपने चारों ओर घिरी हुई उस शान्ति को पहिचान सकें।

प्रभु के चरणों में हमारी प्रार्थना क्या है? इतनी ही कि "हे भगवन्! आप जिस स्वरूप में तल्लीन हैं, वही स्वरूप मेरा भी है। यह बात मुझे आप ही के उपदेश से ज्ञात हुई है। किन्तु मैं अब तक उस उपदेश को अपने जीवन में साकार रूप नही दे पाया हूँ, आपके कल्याणकारी सदुपदेश को सुन और समझ तो पाया हूँ, किन्तु उसे अपने अन्तस्तल में नहीं उतार पाया हूँ। इसलिए हे प्रभु! मैं अब तक अन्धकार में ही भटक रहा हूँ। सत्य को जान लेने के पश्चात् आप स्वयं में

स्थित उस अगाध शान्ति को, अर्थात् अपने सहज स्वरूप को प्रकट करके अनन्त शक्ति सम्पन्न बन गए है। किन्तु मैं अब तक वैसा नहीं कर सका। अब यह दुर्लभ मानव-जीवन मुझे प्राप्त हुआ है। इस जीवन में मैं कुछ विशेष उन्नति करना चाहता हूँ। मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उस शान्ति के खजाने को अपनी भीतर खोज लूँ। अतः हे प्रभु! मुझे ऐसी शक्ति दीजिए, ऐसी दृष्टि दीजिए तथा ऐसा पुरूषार्थ दीजिए।

मनुष्य इन भावों की अभिव्यक्ति करते हुए अपनी आध्यात्मिक शक्ति को विकसित करने का प्रयत्न करता है। किन्तु प्रत्येक ज्ञान के क्षेत्र में विकास करने के लिए उसका पूर्ण परिज्ञान करने हेतु, प्रारम्भ में किसी विचक्षण व्यक्ति की आवश्यकता होती हैं आध्यात्मिक क्षेत्र में विचक्षण व्यक्ति की, सुयोग्य गुरु की आवश्यकता होती है। वह विचक्षण व्यक्ति भी शान्ति मार्ग की ओर बढ़ने वाला होना चाहिए। जिस व्यक्ति को ऐसा सुयोग्य, विचक्षण-व्यक्ति गुरु के रूप में मिल जाए, वह उसके निमित्त से अपने जीवन में शान्ति का प्रसार कर सकता है।

प्रस्तुत कविता में संकेत दिया गया है कि-"आगमधर ....।" इस पक्ति में इस बात पर तो बल दिया ही गया है कि उन्नति के लिए गुरु की आवश्यकता है, किन्तु साथ ही यह भी संकेत किया गया है कि गुरु कैसा हो।

तस्सेस मग्गो गुरु विद्ध सेवा ....

शास्त्र की इस पक्ति में भी शास्त्रकार द्वारा यही निर्देश दिया गया है कि गुरु कैसा हो- वह विचक्षण व्यक्ति कैसा हो, जिसके सहारे मनुष्य शान्ति की चरम मंजिल पर पहुँच सके।

भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के वत्तीसवें अध्ययन में कहा है कि यदि तुम शान्ति के मार्ग को प्राप्त करना चाहते हो तो गुरु और वृद्ध पुरुप की सेवा करो। किन्तु वाल-जीवों से दूर रहो। वाल-जीवों से तात्पर्य यहाँ वालको से नहीं है। वालक तो शरीर की दृष्टि से वाल है ही। किन्तु ऐसे व्यक्ति जो कि शरीर की दृष्टि से चाहे जवान हों चाहे वृद्ध हों, वे भी वाल-स्वभाव के हो सकते है। अर्थात् उनमें भी वालपना पाया जा सकता है।वालपने से यहाँ तात्पर्य है- अज्ञान। अस्तु जिन व्यक्तियों का मन अज्ञान के अन्धकार से ग्रसित है, वे चाहे वाल, युवा वृद्धावस्था- इन तीनों अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में हो, वाल

जायेंगे। शान्ति के मार्ग की खोज करने की अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति को भगवान के संकेत के अनुसार ऐसे ही बाल जीवों से बचकर चलना है।

ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो कि अज्ञान-अन्धकार से ग्रसित है, मोह और माया जिसके जीवन में रमण कर रहे हैं, जिसके जीवन में छल-कपट आँख-मिचौनी खेल रहे हैं, जो रात-दिन पाप कर्म में लवलीन रहता है, जो अपनी स्वार्थ सिद्धि में दत्तचित्त रहता है- बाल-अज्ञानी कहलाता है।

ऐसा बाल-अज्ञानी व्यक्ति यशलिप्सा के पीछे भागते-फिरते हैं और अपने पीछे जनता को भी घसीट ले जाते है।

ऐसा बाल-अज्ञानी पुरुष अपनी दृष्टि से तत्व का निरूपण करता हैं अनेकान्त के नाम की माला जपता हैं स्याद्वाद का प्रतिपादन भी करता हैं किन्तु ऊपर ही ऊपर से ऐसा करता हुआ वह एकान्त की धारा में बहता है।

जो भी व्यक्ति अपने वास्तविक आत्मिक स्वंरूप को नहीं जानता- वह बाल है।

जड़ तथा चेतन का विज्ञान जिसके जीवन में नहीं है, वह अज्ञानी है। जिस पुरुष को आत्मा और परमात्मा का विवेक नहीं है, जिसके जीवन का समस्त पुरुषार्थ, सारी शक्ति मात्र शारीरिक एवं भौतिक पदार्थों के संचय में ही नष्ट हो रही है, नाशवान पदार्थों को ही जो सब कुछ मानकर चल रहा है- वह अज्ञानी है बाल है।

ऐसा व्यक्ति चाहे कितना भी पढ़ा-लिखा हो, चाहे पंडिताई के कितने भी प्रमाण या उपाधियाँ उसने एकत्र कर रखी हों, और वह आत्मा का प्रतिपादन चाहे कितनी भी चतुराई से कर देता हो, किन्तु यदि उसके अन्तःकरण में वह शुभ दृष्टि नहीं उतरी है, तो वह पढ़ा-लिखा मूर्ख ही है और बाल है।

इसीलिए शास्त्र में वचन है और प्रभु ने संकेत दिया है कि बालजीवों से दूर रहो और पंडित जनों के समीप रहो।

जहाँ तक व्याख्या का प्रश्न है, बाल तथा पंडित की व्याख्या बहुत विशुद्ध है। हम उसे थोड़े-थोड़े लक्षणों से ही समझने की कोशिश करें। ''आगमधर समकिती''- यहाँ समकिती का लक्षण आया है। प्रश्न स्वाभाविक ही है कि समकिती कौन और असमकिती कौन? किसे तो हम बाल समझें और किसे पंडित?

समकित जब व्यक्ति के जीवन में प्रवेश कर लेता है तो उसका जीवन सामान्य मनुष्यों के जीवन से विशिष्ट बन जाता है और ऊँचा उठ जाता है। ऐसा व्यक्ति कहीं भी रहे, उसकी विशेषता की चमक अपने आसपास प्रकाश फैलाने लगती है। अन्धकार और अज्ञान उसके जीवन से दूर होते चले जाते है। समकित उनकी आत्मा को प्रकाशित, आनन्दित एवं शान्तिमय बना देता है। मैं ऐसे ही महापुरुषों का चरित्र आपके समक्ष रखने का प्रयास कर रहा हूँ।

मुझे डाक्टरों ने आराम करने की सलाह दी है। ठीक है, आराम या विश्राम भी लेना है। किन्तु मेरे दृष्टि से वह विश्राम हमें अपने विकारों से लेना चाहिए। केवल लेटकर तो शरीर को भले ही विश्राम की अनुभूति कराई जा सकती हैं किन्तु हमारे आत्मा को तो वास्तविक विश्राम सच्ची शान्ति तभी प्राप्ति हो सकती है जबकि हम क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा इत्यादि विकारों से विश्राम लें। इन विकारों के जाल से मुक्त होकर यदि हम थोड़ा भी अंपने आत्म स्वरूप में लीन हों तो सचमुच हमें विश्रान्ति मिलेगी। अतः हमें इस प्रकार की विश्रान्ति लेना तो अवश्य सीखना चाहिए। जहाँ तक शारीरिक रूप से आराम लेने का प्रश्न है भक्ति के अतिरेक से ऐसा सुझाव दिया जाता है, किन्तु मैं समझता हूँ कि ऐसी कोई स्थिति नहीं है कि मैं व्याख्यान से भी छुट्टी ले लूँ। अस्तु, सम्यक्त्व और उसकी पहिचान की चर्चा को हम चालू रखें और यह न भूलें कि "अवन्ध्यं दिवसं कुर्यात्"- अर्थात् दिवस को बेकार नहीं जाने देना चाहिए।

बंधुओ! सम्यक्त्व की पहिचान बताने के लिए अनेक प्रकार की कल्पनाएं मस्तिष्क में चल रही हैं, किन्तु समयाभाव के कारण विस्तार में जाना सम्भव नहीं है। संक्षेप में ही उसका विवेचन करना होगा। जिस व्यक्ति के जीवन में समकित का वस्तुतः प्रवेश होता है, तथा जो उसे दृढ़ता से धारण करता हे, उसका जीवन जग-हितकारी बने बिना नहीं रह सकता। त्रिखंडाधिपति वासुदेव महाराज दृढ़ व्रतधारी थे। उनका व्रत जगत् के हित के लिए था न कि स्वयं की स्वार्थ वृत्ति के लिए। उनके जीवन का सम्पूर्ण विकास उसी दृष्टि से हुआ था। उन्होंने जीवन में जितने भी कार्य किए सब इसी दृष्टि से किए। उन्हें यदि संग्राम भी करने पड़े तो वे भी संहार के उद्देश्य से नहीं, अपितु जनता के जीवन में से दुर्नीति निकालने के लिए ही किए गए। उन्होंने जनता को सद्मार्ग पर आगे बढ़ाया तथा पुरुषार्थी

बनने की प्रेरणा दी। वे संग्रामिक रथ को लेकर कार्य कर रहे थे। इसके पीछे एक बड़ी शिक्षा थी। 'परनारी के वक्ष' की दृष्टि से उनका जीवन बहुत ऊँचा उठता है। उन्होंने परनारी को वक्ष नहीं दिया, अर्थात् परनारी को सदा माता और बहिन की दृष्टि से ही देखा।

समकित दृष्टि वाला पुरुष सर्वप्रथम परनारी का त्याग करता है और अपने जीवन को मर्यादित रखता है जो ऐसा करता है वही दृढ़व्रती कहलाने का अधिकारी होता है। ऐसी निष्ठा जिसके जीवन में आ जाती है वह प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त करता है। आज मानव इस दृष्टि को भूलता चला जा रहा है। अतः समस्त मानवता रसातल की ओर चली जाए ऐसा संकट उत्पन्न हो रहा है। रावण ने भूल की, और वह परनारी- सीता- पर ललचा गया। इसका जो भयानक परिणाम उसे भोगना पड़ा वह आपको विदित ही है। वह बलशाली था, त्रिखंड का स्वामी था, किन्तु परनारी का मोह उसे ले डूबा। अतः मनुष्य को यह बात विशेष ध्यान में रखनी चाहिए और परनारी को सदा माता-बहिन के रूप में देखना चाहिए। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता वह बेलगाम का घोड़ा बन जाता है और सर्वनाश की ओर बढ़ता है। इसके विपरीत संयम से चलने वाला व्यक्ति घर में भी ब्रह्म की आराधना करता है और आत्मा-परमात्मा के ओजस्वी तेज रूप उस ब्रह्म को प्राप्त करके अपना उत्थान करता हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति को प्रण लेकर इस मार्ग पर चलना चाहिए।

श्रीकृष्ण के अनेक रानियाँ अवश्य थी। किन्तु वे सब भोग की दृष्टि से नहीं थी। वे शक्तिशाली थे, और शक्तिशाली पुरुष से सम्बन्ध बनाना प्रत्येक व्यक्ति चाहता है। इसलिए अनेक छोटे-बड़े राजा उनसे अपनी कन्याएँ स्वीकार करने का आग्रह करते थे। कुछ लोग उनकी शरण में आते थे। तो इस प्रकार वे लोकहित की दृष्टि से ही चलते थे और संग्राम भूमि में भी नीति-अनीति का पूरा विचार रखते थे। नीति के साथ संग्राम करते हुए वे रण से कभी पीठ नहीं दिखाते थे।

आज हमारी क्या स्थिति है? आज हमारे जीवन में कितनी नैतिकता है? अनीति से हम कितना संग्राम करते हैं? आज तो यह स्थिति है कि जहाँ तनिक सी भी स्वार्थसिद्धि होती दिखाई देती है वहाँ तुरन्त घुस पड़ते हैं और जहाँ स्वार्थ सिद्ध न होता हो वहाँ पीठ दिखाकर भाग खड़े होते हैं। जिस व्यक्ति में ब्रह्मतेज

नहीं, और जो दृढ़व्रतधारी नहीं, वह कायर है। ऐसा व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में कोई वीरतापूर्ण कार्य नहीं कर सकता, चाहे वह राष्ट्रीय क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो, अथवा धार्मिक क्षेत्र।

एक डॉक्टर थे। उनका नाम था डॉक्टर थूल। वे अपने क्षेत्र में तो कार्य करते ही थे, उसके अतिरिक्त छात्रों को शिक्षा देने का कार्य भी करते थे एक दिन एक छात्र ने पूछा-"डॉक्टर साहब! मैं इस संसार में रहता हुआ सुखी कैसे रह सकता हूँ? कृपया मुझे यह मन्त्र बताइये।" डॉ. थूल ने कहा-"यदि तुम सुखी रहना चाहते हो, तो ब्रह्मचर्य का पालन करो।" यह सुनकर छात्र ने कहा-"मेरे लिए आजीवन ब्रह्मचर्य से रहना तो बहुत कठिन है। तलवार की धार पर तो एक बार चला भी जा सकता है, किन्तु यह व्रत तो लगभग असंभव है।" डॉक्टर ने कहा-"यदि आजीवन ब्रह्मचारी नहीं रह सकते तो जीवन में एक बार के अतिरिक्त ही·ब्रह्मचारी रहो।" छात्र ने कहा कि यह भी कठिन है। तब डॉक्टर ने कहा कि यदि यह भी कठिन है तो वर्ष में एक बार के अतिरिक्त ब्रह्मचारी रहो। छात्र ने यह भी कठिन बताया तो डॉक्टर ने कहा महीने में एक बार के अतिरिक्त ही ब्रह्मचारी रहना। छात्र को इसमें भी कठिनाई प्रतीत हुई तो डॉक्टर ने कहा कि महिने में दो बार के अतिरिक्त ही ब्रह्मचारी रहो। किन्तु छात्र के लिए तो यह भी कठिन था। तब डॉक्टर ने कहा कि यदि यह भी तुम्हारे लिए कठिन है तब तो तुम जिस किसी के भी साथ रहो कफन की सामग्री अपने साथ रखना।

इस प्रसंग को आपके सामने रखने का यही अभिप्राय है कि जीवन में संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि आप मर्यादित जीवन व्यतीत करेंगे तो सुखी रह सकेंगे, अन्यथा अमर्यादित जीवन कभी सफल और सुखी नहीं बन सकेगा। ऐसे मर्यादित जीवन के लिए समकिती गुरु की आवश्यकता है। उनके साथ रहकर आपको दृढ़व्रतधारी बनना चाहिए। त्रिखंडाधिपति वासुदेव के जीवन से हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। आज यदि मैं इस सभा में आप लोगों से आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेने के लिए कहूँ तो शायद एक भी व्यक्ति इसके लिए प्रस्तुत नहीं होगा। इससे प्रकट होता है कि हमारा जीवन कितना अमर्यादित हो गया। किन्तु कोई-कोई व्यक्ति इस तलवार की धार पर चलने वाले निकलते भी है। भाई नेमीचन्द जी कांकरिया ने संजोड़े यह व्रत धारण किया है। इसके लिए वे वधाई एवं प्रशंसा के पात्र है।

जंगल में वनराज सिहं रहता हैं उसके नाम और शव्द से सारा जंगल गूँजता है। हम भी शेर से भयभीत रहते हैं। उसकी शक्ति का रहस्य क्या है? वह सारे जीवन में एक वार के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य का पालन करता है। यही उसकी शक्ति का रहस्य है। तव वह जंगली पशु भी यदि ऐसा कर सकता है, तो हम जो मानव हैं एवं स्वयं को पशुओं से श्रेष्ठ मानते हैं, ऐसा क्यों नहीं कर सकते? यदि मानव वड़ा है तो उसे वड़े कार्य करने चाहिए और अपनी श्रेष्ठता को सार्थक करना चाहिए। किन्तु संसार में देखते हैं तो कुछ उल्टी वात दिखाई देती हैं चारों ओर असंयम का साम्राज्य फैला दिखाई पड़ता है। वासना ने मनुष्य को इस प्रकार ग्रस लिया है कि वह अपनी मानवता को ही विसरा वैठा है। यदि कोई मादा पशु गर्भवती होती है तो नर पशु उसकी ओर देखने की इच्छा भी नहीं रखता है। किन्तु क्या यह मर्यादा हमें मनुष्यों में देखने को मिलती है? वास्तविकता क्या है, इसे ज्ञानी ही जानें, अथवा भगवान जानें, किन्तु आज संसार में जैसी स्थिति जितनी दुर्दशा दिखाई दे रही है वह अत्यन्त भयंकर है।

वंधुओ! विना परिणाम का विचार किए मनुष्य आँख मूँदकर अपने विनाश की दिशा में स्वयं ही भागा चला जा रहा है। अतः कुछ विचार कीजिए आप तो स्वयं वुद्धिमान है। अपनी वुद्धि का अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए उपयोग कीजिए। मैं तो आपको संकेत मात्र दे रहा हूँ। अधिक गहराई में आज आपको मैं ले नहीं जा रहा हूँ। हाँ, आवश्यकता होगी तव वैसा भी करूँगा, किन्तु इस समय तो आप मेरे संकेत को ही समझने का प्रयत्न कीजिए।

अस्तु, जीवन में समिकित को धारण कीजिए। ऐसा करने के लिए समकिती गुरु की शरण में जाइये। यदि आप ऐसा करेंगे तो आपके अन्तस्तल में शुद्धता आ सकेगी तथा भीतर की कड़ी का विकास होगा। समकिती गुरु की संगति में रहकर अपने जीवन में आप एक ऐसा मोड़ ला सकेंगे जिससे आपको इस वात का ज्ञान और पहिचान हो सकेगी कि सच्ची शान्ति क्या है, और उस अखंड शान्ति के मार्ग की ओर बढ़ने के लिए सही सोपान कौन से हैं?

अस्तु, समकिती, आगमधर, दृढ़व्रतधारी सद्गुरु की संगति करके अपने जीवन में आप शान्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करें, ऐसी मेरी भावना है।

-इत्यलम

****

6

उपदेश और आचरण

शान्तिनाथ भगवान की प्रार्थना
"शान्ति जिन एक मुझ वीनती ....।"

प्रभु शान्तिनाथ भगवान के चरणों में प्रार्थना की कड़ियों का उच्चारण प्रतिदिन के अनुसार आज भी किया गया हैं। हमारा उद्देश्य यह है कि हम शान्ति के सोपान को समझ सकें, उसे प्राप्त कर सकें। वह शान्ति का सोपान हमें किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, यह जानने के लिए ही शान्ति के स्वरूप का विश्लेषण चल रहा है।

"तस्सेस मग्गो गुरु विद्ध सेवा ....।"

इस शास्त्रीय व्याख्या के अनुसार हम इतना विश्लेषण तो कर चुके हैं कि यदि उस शान्ति के सोपान को प्राप्त करना है तो उसके लिए गुरु और वृद्ध की सेवा करनी चाहिए तथा बालजनों से दूर हटना चाहिए। किन्तु बालजनों की व्याख्या करते हुए मैं अधिक विस्तार में नही जा सका था। केवल शब्द की व्याख्या ही समयाभाव के कारण हो सकी थी। अब मैं इस सम्बन्ध में कुछ अधिक प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूँ।

जिस व्यक्ति को सत्-असत् का भान हो जाता है, हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का ज्ञान हो जाता है, जब वह यह समझने लगता है कि किन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, कौनसे पदार्थ ग्रहण करने चाहिए तथा किन पदार्थों का त्याग करना चाहिए, किस व्यक्ति के सम्पर्क में रहने से शान्ति प्राप्त हो सकती है तथा किस व्यक्ति के सम्पर्क से मार्ग में भटका जा सकता है, इत्यादि, तब वह व्यक्ति शान्ति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इस प्रकार का विज्ञान-परिज्ञान रखने

वाला व्यक्ति ही विवेकवान है तथा ऐसे व्यक्ति को हम बालजीव नहीं कहेंगे। यदि ऐसा ज्ञान नहीं है तो वह व्यक्ति स्वयं भी मार्ग में भटकेगा और ऐसे व्यक्ति के सम्पर्क में जो भी दूसरा व्यक्ति रहेगा, वह भी मार्ग से भटकेगा।

उदाहरण के लिए हम विष, अफीम तथा मिश्री, इन तीनों पदार्थों को लें। जिस व्यक्ति को इन वस्तुओं के गुण अवगुण का ज्ञान नहीं है वह इनमें से कुछ भी खा सकता है और अपनी हानि कर सकता हैं मिश्री पौष्टिक है, अफीम का सेवन अधिक मात्रा में जीवन के लिए भयकारी है तथा विष तो मनुष्य के लिए दूर से ही परिहरणीय है। इस बात का ज्ञान व्यक्ति को होना चाहिए। जो बालजन हैं, उन्हें यह ज्ञान नहीं होता।

कविता की कड़ियों में कहा गया है- "आगमधर गुरु समकिती।" इसमें गुरु को आगमधर तो होना ही चाहिए, किन्तु उसे समकिती भी होना चाहिए। क्योंकि केवल आगमों का शाब्दिक ज्ञान रखने वाले लोग तो बहुत से मिल सकते हैं आगमों को अस्खलित कंठ से वे उच्चारित कर सकते हैं। किन्तु यदि वे समकिती नहीं हैं, तो उनका आगम-ज्ञान किसी भी प्रयोजन का नहीं है। ऐसा व्यक्ति जनता को शान्ति के मार्ग से विपरीत दिशा में मोड़ देगा।

अस्तु, यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि समकिती के लक्षण क्या हैं? समकिती का सबसे बड़ा लक्षण यह बताया गया है कि जिसमें "सम, सवेंग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था"- हों, तो वही समकिती समझा जाता है।

आत्मा-परमात्मा की स्थिति के साथ यथार्थ के स्वरूप को समभाव के साथ समझना, यह समकित है। किन्तु 'सम' से अभिप्राय यह नहीं है कि आप मिश्री और अफीम को एक ही समान समझने लगें। अथवा गुड़ और गोबर को एक जैसा मान लिया जाए। 'सम' का अर्थ है कि जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा ही समझा जाए, अर्थात् गुड़ को गुड़ तथा गोबर को गोबर समझा जाए। सम को यदि विषम तथा विषम को सम समझ लिया गया तो वह भूल होगी। बालक को बूढ़ा तथा बूढ़े को बालक समझ लेना सम नहीं, विषम होगा।

संसार में षट् द्रव्य माने गए. है- धर्मास्तिकाय, अधर्मस्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल। इन षट् द्रव्यों को यथास्थित समझना यह सम है। इसके साथ समवेग (संवेग)- सम्यक् प्रकार से

वेग, अर्थात् उसकी गति हो। गति से यहाँ अभिप्राय केवल चलने से ही नहीं है, किन्तु आत्मा की खोज की ओर उसका लक्ष्य हो, यही उसकी गति है। चरम शान्ति का आदर्श स्थिर करके, स्वसमय का ज्ञान रखते हुए, वह गति करे। वह स्वसमय भी परम साध्य रूप में, परम लक्ष्य रूप में होना चाहिए। अनन्त शक्ति सम्पन्न का लक्ष्य स्थिर करके ही वह चलता है। तथा परम "साध्य अवस्था समापना"- जो परम साध्य अवस्था में स्थिर होता है, वही टिकता है। उससे भिन्न जो तत्व है वह सम्पूर्ण बाहरी स्थिति होती है।

अस्तु, ऐसी परम साध्य स्थिति ही सच्ची साधना की बनती है। वही परम साध्य स्थिति शान्ति की- चरम शान्ति की बनती है। इसी लक्ष्य को सामने रखकर ही वही साधना अपनाता है तो जिन साधनों को वह जीवन में स्थान देता है उनके द्वारा उसकी गति होती है तथा मानसिक वेग होता है। वह मानसिक वेग अथवा गति हीं सही रूप है। यदि वह ठीक है, सही है और आत्मा की खोज को, चरम शान्ति को प्राप्त करने का लक्ष्य स्थिर हो गया है तो चाहे ऐसा व्यक्ति गृहस्थाश्रम में भी हो और बाल-बच्चों से घिरा हो तब भी उसकी समस्त क्रियाएँ उसी चरम लक्ष्य की पूर्ति के लिए होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में हम कहेंगे कि सम के साथ संवेग भी जुड़ गया। वह मनुष्य सदा यही विचार करेगा कि उसे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना है, जब कभी उसे समय मिलेगा वह अपनी आध्यात्मिक साधना में दत्तचित हो जाएगा। यह उसकी मानसिक स्थिति की गति मानी गई है। इस दृष्टि से संवेग है।

निर्वेद से अभिप्राय है संसार के समस्त पदार्थों से अनाशक्ति। संसार के पदार्थ पाँचों इन्द्रियों के विषय है। जो व्यक्ति इन इन्द्रियों के वशीभूत होकर सांसारिक पदार्थों के भोग में डूब जाता है वह निर्वेद को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि वहाँ वैराग्य नहीं जो, समकित नहीं। व्यक्ति इस निर्वेद को प्राप्त करना चाहता है, वह अपने मन को सांसारिक पदार्थों के आकर्षण से परे हटा लेता है। कर्मबन्धन करने वाले सस्ते और निकम्में फिल्मी गायनों के स्थान पर वह प्रभु का स्मरण दिलाने वाले, प्रभु की स्तुति करने वाले सुन्दर भजनों में अपना मन लगाता है। यही निर्वेद है। इसके विपरीत सांसारिक पदार्थों के रूप जाल में फँसकर जो व्यक्ति इधर से उधर भटकता फिरता हैं, वह निर्वेद की स्थिति से वहुत दूर होता है।

एक पतंगा दीपक के रूप पर आकृष्ट होता है। वह उसे प्राप्त करने के लिए उसकी ओर बढ़ता है। अपने अज्ञान में वह यह नहीं जानता की दीपक का वह मनभावन रूप उसके लिए परम अनिष्टकारी है। परिणाम यह होता है कि वह दीपक की गर्मी से झुलस कर मूर्छित होकर गिर पड़ता है। फिर कुछ समय पश्चात् होश में आने पर द्रव्य मनन होने के कारण उसे भूत की बात याद नहीं रहती और केवल वर्तमान की ही भावना जागती है और वह पुनः उस दीपक के रूप को प्राप्त करने हेतु लपकता है। अन्त में दो-चार बार इस प्रकार से झंपापात करके वह अपने प्राणों से हाथ धो बैठता हैं। एक बार ऐसा प्रयत्न करने से क्या परिणाम हुआ था यह वह नहीं सोच पाता, क्योंकि यह सोचना द्रव्य मन के सहारे से होता है, जो कि उसके पास नहीं है, अतः वह विनष्ट हो जाता है।

तो एक पतंगा तो असंज्ञी है एक लघु कीट है। उसे भूत एवं भविष्यत् के विषय में सोचने की क्षमता नहीं है। किन्तु मनुष्य जो कि संज्ञी है, जिसे पाँचों इन्द्रियें मिली हैं, वह क्या करता है? देखा जाता है कि मनुष्य रूप के पीछे आसक्त होकर दर-दर की ठोकर खाता फिरता है। ऐसा व्यक्ति निर्वेग को प्राप्त नहीं होता। वह समकिती होने की स्थिति में नहीं पहुँच पाता। वह तो उल्टा संसार की ओर भागता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति निर्वेग की ओर चलते हैं वे यह सोचते हैं कि मुझे ये नेत्र मिले हैं, इन नेत्रों से मैं जिन-जिन को भी देख रहा हूँ, वे सब मेरी आत्मा के तुल्य हैं, जिस शरीर में मैं रह रहा हूँ उसी शरीर में ये भी रह रहे है। और आत्मा को सत्-चित्-आनन्दघन के रूप में है। अतः मुझे नाशवान पदार्थों को देखने से क्या प्रयोजन? इन नाशवान पदार्थों के भीतर, चमड़ी के नीचे वही रक्त, मांस और हड्डियाँ है- जो कि घृणा का विषय है। इस प्रकार का विचार एवं लालसा जब आ जाए तब मानना चाहिए कि सम्यक्त्व का लक्षण आ गया। आगम की दृष्टि से सम, संवेग तथा निर्वेग का लक्षण इस प्रकार से बताया गया है।

अब हम अनुकंपा के विषय में विचार करें। कहा गया है- "अनुकूल कंपन म् अनुकम्पा।" अर्थात्, अन्य प्राणी के अनुकूल कंपन हो, अन्य प्राणी को यदि कष्ट हो रहा हो तो हमें भी वैसे ही कष्ट का अनुभव हो, तो अनुकंपा होना कहलाएगा। किसी दूसरे प्राणी को अशक्त देखा जाए, तो उसकी सहायता करने की

भावना हृदय मे जागे, तो अनुकंपा होगी। किसी असहाय प्राणी को देखकर मन में ऐसी भावना आनी चाहिए कि यदि मैं इस जैसी स्थिति में होता तो मुझे भी यह इच्छा होती कि कोई मेरी सहायता करे, तो मैं भी इस असहाय व्यक्ति की सहायता करूँ इसका दर्द केवल इसी अकेले का दर्द नहीं है, यह दर्द मेरा भी है। जिस व्यक्ति के मन में अनुकंपा है वह यही सोचेगा कि दूसरा प्राणी भी मेरे ही समान है, उसकी आत्मा मेरी आत्मा के ही तुल्य हैं जब ऐसी स्थिति हो तब मानना चाहिए कि संवेग के साथ अनुकंपा का लक्षण भी बन गया।

इसके विपरीत जो व्यक्ति ऐसा सोचते है कि-"मरे तो दूजा और हम कराएं पूजा"- तो यह अनुकंपा की भावना नहीं है। इस प्रकार की अनुकंपा से रहित व्यक्ति ऊपर से चाहे जितनी आध्यात्मिकता का प्रदर्शन करें, किन्तु वास्तविक में वह आध्यात्मिकता से योजनों दूर ही समझा जाएगा। कोई भी व्यक्ति समकिती तभी कहलाएगा जबकि वह अन्य प्राणियों की आत्मा को भी अपनी आत्मा के तुल्य मानेगा और उसमें सबके लिए सहानुभूति की, अनुकंपा की भावना होगी।

तो समकित का यह मापदण्ड स्वयं व्यक्ति के पास ही रहता है। यह उसके हृदय का विश्वास है, भावना है। उदाहरण के लिए एक पंगु व्यक्ति है। अपने हाथ-पैरों से वह लाचार है। किन्तु किसी असहाय को देखकर यदि उसके मन में यह भावना होती है कि वह किसी प्रकार से उसकी सहायता कर सके, अर्थात् यदि उसकी 'श्रद्धा' है, तो वह समकिती है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के हाथ-पैर हैं, उसमें शक्ति है, और वह ऐसे स्थल पर उपस्थित है जहाँ कि कोई निर्वल सताया जा रहा है, और वह यदि शब्दों से भी अपनी सहानुभूति उसके प्रति प्रदर्शित करता है कि "भाई! निर्बल को क्यों सता रहे हो? इसे न सताओं", इत्यादि, तब भी उसकी अनुकंपा हो सकती है।

किन्तु इसके विपरीत यदि कोई समर्थ व्यक्ति किसी निर्वल की सहायता करने के स्थान पर ऐसा सोचता है कि जो हो रहा है, होने दो, मुझे क्या मतलव है?- तो ऐसे व्यक्ति को किसी भी प्रकार से अध्यात्मवादी नहीं कहा जाएगा। बल्कि शास्त्रों का कथन है कि वहाँ प्रकारान्तर से नास्तिकवाद छिपा हुआ है, अन्यथा समर्थ होते हुए भी वह निर्वल की सहायतार्थ कुछ न कहे और कुछ न करे ऐसा हो नहीं सकता। ऐसे व्यक्ति के लिए तो यही कहना पड़ेगा कि सव कुछ होते हुए

भी वह नास्तिक है। जबकि जिसके हृदय में श्रद्धा है, वह हाथ-पैर न होते हुए भी, स्वयं अशक्त होते हुए भी समकिती माना जाएगा।

अस्तु, सम-संवेग-निर्वेद-अनुकंपा-आस्तिकता इस क्रम में अब आस्तिकता को भी समझ लेना चाहिए। आस्तिक्य का अर्थ है- आत्मा है, परमात्मा है, स्वर्ग है, नरक है, कर्म है, पाप है, पुण्य है, आस्रव है, संवर है, निर्जरा है, बंध है और मोक्ष है- इनमें आस्था रखना। इसके साथ-साथ यह भावना भी होनी चाहिए कि आत्मा अनन्त शक्तिसम्पन्न है। यह आत्मा पर पदार्थों के ऊपर ही आसक्त हो रही है, किन्तु यह उसका स्वभाव नहीं है। इसका स्वभाव तो इन सबको त्याग कर निरंजन निराकर रूप में परिणत होने का है। लोक है, परलोक है, स्वर्ग है, नरक है, पशु आदि योनियाँ है तथा ये सब कर्मों की दृष्टि से है। जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल पाता है। जो समस्त कार्मों को नष्ट करना चाहता है वह ऐसा कर सकता है। चाहिए यही कि वह यह विश्वास लेकर चलें कि यह मेरा आस्तिक्य और स्वभाव मेरी आत्मा का हैं ये मेरी आत्मा के साथ चल रहे हैं। वर्तमान में जिन पदार्थों के साथ सम्बन्ध है और जिन स्थितियों में मैं चल रहा हूँ वहाँ सुख नहीं है, दुख ही है। इस समय इन पदार्थों तथा स्थितियों में लिप्त होने पर शान्ति का अनुभव हो रहा है, किन्तु यह शांति झूठी है, क्योंकि यह अस्थायी है। मुझे वास्तविक सुख-शांति तो तभी प्राप्त होगी जब मैं अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जानूँगा और उस चरम शक्ति को प्राप्त करूँगा। ऐसा सोचना ही आस्तिक्य है तथा जो ऐसा विचार रखता है, वही समकिती है।

ऐसे समकिती व्यक्ति का स्वाभाविक अगला चरण होना चाहिए- त्याग। क्योंकि समकित तो एक जानकारी है, ज्ञान है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने के पश्चात् उसे क्रिया रूप में परिणत करना भी आवश्यक है, तभी आत्मकल्याण सध सकेगा। अन्यथा केवल जानकारी प्राप्त कर लेने से तो कुछ बनने वाला नहीं है तब तक कि त्याग की वृत्ति न अपनाई जाए और उस ज्ञान को आचरण में न उतारा जाए। कहा गया है- आगमधर समकिती..... क्रिया संवर .....।" तो उस ज्ञान को क्रियात्मक रूप देना आवश्यक है।

अतः सच्चा समकिती व्यक्ति यह सोचेगा कि केवल समकिती बन जाने

से मेरा कल्याण नहीं होगा। मुझे अधिक से अधिक इन विषयों का त्याग करना चाहिए और अपनी सत्-चित्-आनन्दघन आत्मा को प्राप्त करना चाहिए। मुझे समकित के रूप में उत्तम ज्ञान प्राप्त हुआ है तो अब मुझे त्यागने योग्य तो त्यागना चाहिए और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करना चाहिए। जब तक कोई समकिती इस प्रकार का विचार करके आगे आचरण नहीं करता तब तक वह सम्यक्त्वी तो रहता है, किन्तु आगे आत्मकल्याण के मार्ग पर नहीं बढ़ पाता।

जब तक आगे की यह क्रिया नहीं आती तब तक वह चतुर्थ गुणस्थान में रहते हुए हेय, ज्ञेय, उपादेय का ज्ञान करता है। उपादेय को उपादेय के रूप तथा हेय-ज्ञेय के रूप में समझता है, किन्तु इस ज्ञान के आगे का फल प्रस्फुटित नहीं होता। उदाहरण के लिए मक्के के बीज को ही लीजिए। बीज उत्तम है, उसमें फलित होने की शक्ति है। किन्तु जब तक किसान उसे कोठे में से निकालकर खेत में संयुक्त नहीं करता तब तक उस मक्के के बीज में फलित होने की योग्यता की उपादान शक्ति कुछ काम नहीं आ सकती। खेत के साथ उसका संयोग भी हो जाए, किन्तु पानी का, खाद का संयोग जब तक नहीं हो, वह नहीं उगेगा। खाद भी मिली, बीज उग भी गया, किन्तु प्रारम्भ में रक्षण करने के लिए दीवार न बनाई गई तो पौधे को कोई भी नष्ट कर सकता है। अभिप्राय यह है कि वहाँ अनाज के दाने में उपादान शक्ति होने पर भी निमित्त कारण सामग्री जब तक नहीं मिलेगी तब तक वह अंकुरित एवं फलित नहीं हो पाएगा।

एक अन्य उदाहरण लीजिए। कुँभकार घड़ा बनाता है। घड़े की उपादान-सामग्री मिट्टी है। मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता है, किन्तु निमित्त कारण कुंभकार हैं वह मिट्टी को तैयार करता है, उसका चिकना, गीला लौंदा बनाता है, उसे चाक पर चढ़ाता है और घड़ा बनकर तैयार होता है। तो उपादान शक्ति मिट्टी की है और निमित्त कुंभकार। स्वयं उपादान में यह शक्ति नहीं है कि वह घड़े के रूप में परिणत हो जाए। निमित्त आवश्यक है। कुंभकार रूपी निमित्त ही उस मिट्टी रूपी उपादान में संस्कार डालकर उसे घड़े के रूप में परिणत कर सकता है।

किन्तु ऐसा विचार नहीं करना चाहिए कि यदि निमित्त ही सब कुछ है तो फिर निमित्त ही सब कुछ कर लेगा। यह एकान्त दृष्टि भी ठीक नहीं है। आस्तिक समकिती व्यक्ति ऐसा नहीं सोचेगा। वह तो अनेकान्त दृष्टि से यह विचार

करेगा कि निमित्त के स्थान पर निमित्त महत्वपूर्ण है तथा उपादान के स्थान पर उपादान भी महत्वपर्णू है। घड़े के बनने के लिए उपादान मिट्टी भी आवश्यक है, निमित्त कुम्भकार भी आवश्यक हैं तथा चाक, रस्सी इत्यादि सामग्री भी अपने स्थान पर आवश्यक है।

अतः जो समकिती गुरु है वह समर्थ पूर्ण सामग्री को ठीक तरह से समझता है और स्वयं अपने जीवन में यथास्थान उतारने का प्रयत्न करता है। अर्थात् वह ज्ञान के साथ क्रिया का संयोग करता हैं वह केवल "परोपदेशे पाण्डित्य" जैसी बात नहीं करता। बन्धुओ! पर 'उपदेश कुशल बहुतेरे' मिल जायेंगे, किन्तु इन गुणों को अपने जीवन में साकार रूप देने वाले बिरले ही मिलेंगे। आपको आगमधर समकिती के लक्षण बताने की ये बातें गहन प्रतीत हो सकती है, किन्तु यदि आप इन्हें ग्रहण कर सकेंगे तो ये बातें आपके जीवन की कड़ी बन जायेंगी और आपके समक्ष शान्ति का सोपान खुलता चला जाएगा।

एक विद्वान् महाशय उपदेश देने की दृष्टि से बड़े कुशल थे। प्रत्येक विषय का प्रतिपादन वे इस कुशलता से करते थे कि सुनने वाले मंत्रमुग्ध बन जाते। एक दिन एक वहुत वड़ी सभा जुड़ी हुई थी। उस सभा में उन्होंने बैंगन के दुर्गुणों का ऐसा प्रतिपादन किया कि सुनते ही लोगों को वैंगन के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। अनेक लोगों ने तो प्रण कर लिया कि चाहे प्राण चले जाए किन्तु ऐसे दुर्गुणी बैंगन को अब कभी नहीं खायेंगे, ऐसे घृणित पदार्थ को स्पर्श करना भी उनके लिए पाप हो गया।

किन्तु वे विद्वान् महाशय केवल "परोपदेशे पांडित्यं" वाली उक्ति को ही चरितार्थ कर रहे थे एवं यह प्रतिपादन केवल श्रोताओं तक ही सीमित था। स्वयं वे महाशय बैंगन को खूब पसन्द करते थे और प्रतिदिन वैंगन का साग खाते थे। हुआ यह कि उस सभा में उनकी पुत्री भी उपस्थित थी। उसने यह वैराग्यपूर्ण उपदेश सुनकर सोचा कि पिताजी तो प्रतिदिन बैंगन का साग खाया करते थे, किन्तु शायद आज इन्हें कोई दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया है, अतः इन्होंने बैंगन की निन्दा की है। तो अब तो पिताजी कभी बैंगन नहीं खायेंगे।

भोली-भाली बालिका पण्डितजी के मन के भीतर की वात क्या जाने? उसने सोचा कि माताजी तो घर पर आज भी पिताजी के लिए बैंगन का साग

वनायेंगी, और पिताजी ऐसी घृणित वस्तु को देखकर बड़े दुःखी होंगे। अतः व्याख्यान खत्म होते ही वह भागी-भागी अपने घर पर गई और माता से वोली-"माँ, माँ! कहीं तुमने आज वैंगन का साग तो नहीं वनाया है? यदि वनाया है तो उसे कहीं छिपा दो और पिताजी के लिए कोई दूसरी सब्जी झट से वना दो।" माँ ने पूछा-"क्यों वेटी! आज ऐसी क्या बात हो गई?" तव वालिका ने सारी घटना अपनी माता को वताई और कहा कि पिताजी का उपदेश सुनकर वहुत से लोगों ने वैंगन का त्याग भी कर दिया है।

माता को विश्वास हो गया। उसने बैंगन के साग को छिपा दिया और दूसरी सब्जी वना दी। पण्डित महाशय जब घर आये तब भोजन के समय उनकी थाली में दूसरी सब्जी थी। देखकर उन्होंने कहा-"अरी भागवान्! आज यह क्या घास जैसी सब्जी मेरे लिए परोस दी, क्या आज तूने वैंगन नहीं बनाये?" माता ने जव अपनी पुत्री द्वारा कहीं गई सारी बातं उनको बताई तब वे महाशय वोले-"क्यों वेटी! तूने वैंगन की सब्जी बनाने से क्यों इन्कार किया?" तब बालिका ने जैसी वात थी वैसी बता दी और कहा-"पिताजी! आज आपने इतना सुन्दर उपदेश दिया और वैंगन को इतना खराब वताया कि वहुत से लोगों ने बैंगन का त्याग ही कर दिया। तब मैंने सोचा कि भला पिताजी ऐसी घृणित वस्तु को क्यों ग्रहण करेंगे? अतः मैंने माताजी को बैंगन की सब्जी वनाने से मना कर दिया। यह सुनकर पण्डित महाशय ने कहा-"छोकरी तू कुछ नहीं जानती। अरे, उपदेश देने का वैंगन कुछ और होता है तथा खाने का बैंगन कुछ और होता है।

अतः वन्धुओ! ऐसे विद्वान् महाशय यदि किसी विषय का प्रतिपादन चाहे जितनी कुशलता से कर दें, किन्तु स्वयं उनके आचरण में जव तक वह वात नहीं उतरती तव तक न उनमें सम, संवेग, निर्वेग, अनुकम्पा और अस्तिक्य ही है और वे आगमधर गुरु कहलाने के योग्य ही है। शास्त्रों की वातों को झाड़ देना तो केवल वौद्धिक दृष्टि है, यह वुद्धि का ज्ञान है और ग्रामोफोन में भरी हुई आवाज की तरह है। ऐसे ज्ञान से कोई लाभ नहीं होता और आत्मकल्याण भी नहीं हो सकता। ऐसी ही कोरे ज्ञान के चक्कर में पड़कर मनुष्य भटकता फिर रहा है।

अनेक लोग यह कहते हुए पाये जाते है कि हम त्याग करना चाहते है, त्याग कर भी देते हैं, किन्तु वह त्याग हमसे निभता नहीं है। तो यह मनुष्य के

करेगा कि निमित्त के स्थान पर निमित्त महत्वपूर्ण है तथा उपादान के स्थान पर उपादान भी महत्वपर्णू है। घड़े के बनने के लिए उपादान मिट्टी भी आवश्यक है, निमित्त कुम्भकार भी आवश्यक हैं तथा चाक, रस्सी इत्यादि सामग्री भी अपने स्थान पर आवश्यक है।

अतः जो समकिती गुरु है वह समर्थ पूर्ण सामग्री को ठीक तरह से समझता है और स्वयं अपने जीवन में यथास्थान उतारने का प्रयत्न करता है। अर्थात् वह ज्ञान के साथ क्रिया का संयोग करता हैं वह केवल ''परोपदेशे पाण्डित्य'' जैसी बात नहीं करता। बन्धुओ! पर 'उपदेश कुशल बहुतेरे' मिल जायेंगे, किन्तु इन गुणों को अपने जीवन में साकार रूप देने वाले बिरले ही मिलेंगे। आपको आगमधर समकिती के लक्षण बताने की ये बातें गहन प्रतीत हो सकती है, किन्तु यदि आप इन्हें ग्रहण कर सकेंगे तो ये बातें आपके जीवन की कड़ी बन जायेंगी और आपके समक्ष शान्ति का सोपान खुलता चला जाएगा।

एक विद्वान् महाशय उपदेश देने की दृष्टि से बड़े कुशल थे। प्रत्येक विषय का प्रतिपादन वे इस कुशलता से करते थे कि सुनने वाले मंत्रमुग्ध बन जाते। एक दिन एक बहुत बड़ी सभा जुड़ी हुई थी। उस सभा में उन्होंने बैंगन के दुर्गुणों का ऐसा प्रतिपादन किया कि सुनते ही लोगों को बैंगन के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। अनेक लोगों ने तो प्रण कर लिया कि चाहे प्राण चले जाए किन्तु ऐसे दुर्गुणी बैंगन को अब कभी नहीं खायेंगे, ऐसे घृणित पदार्थ को स्पर्श करना भी उनके लिए पाप हो गया।

किन्तु वे विद्वान् महाशय केवल ''परोपदेशे पांडित्यं'' वाली उक्ति को ही चरितार्थ कर रहे थे एवं यह प्रतिपादन केवल श्रोताओं तक ही सीमित था। स्वयं वे महाशय बैंगन को खूब पसन्द करते थे और प्रतिदिन बैंगन का साग खाते थे। हुआ यह कि उस सभा में उनकी पुत्री भी उपस्थित थी। उसने यह वैराग्यपूर्ण उपदेश सुनकर सोचा कि पिताजी तो प्रतिदिन बैंगन का साग खाया करते थे, किन्तु शायद आज इन्हें कोई दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया है, अतः इन्होंने बैंगन की निन्दा की है। तो अब तो पिताजी कभी बैंगन नहीं खायेंगे।

भोली-भाली बालिका पण्डितजी के मन के भीतर की बात क्या जाने? उसने सोचा कि माताजी तो घर पर आज भी पिताजी के लिए बैंगन का साग

वनायेंगी, और पिताजी ऐसी घृणित वस्तु को देखकर बड़े दुःखी होंगे। अतः व्याख्यान खत्म होते ही वह भागी-भागी अपने घर पर गई और माता से वोली-"माँ, माँ! कहीं तुमने आज वैंगन का साग तो नहीं वनाया है? यदि वनाया है तो उसे कहीं छिपा दो और पिताजी के लिए कोई दूसरी सब्जी झट से वना दो।" माँ ने पूछा-"क्यों वेटी! आज ऐसी क्या बात हो गई?" तब वालिका ने सारी घटना अपनी माता को वताई और कहा कि पिताजी का उपदेश सुनकर वहुत से लोगों ने वैंगन का त्याग भी कर दिया है।

माता को विश्वास हो गया। उसने बैंगन के साग को छिपा दिया और दूसरी सब्जी वना दी। पण्डित महाशय जब घर आये तब भोजन के समय उनकी थाली में दूसरी सब्जी थी। देखकर उन्होंने कहा-"अरी भागवान्! आज यह क्या घास जैसी सब्जी मेरे लिए परोस दी, क्या आज तूने बैंगन नहीं वनाये?" माता ने जव अपनी पुत्री द्वारा कहीं गई सारी बातं उनको बताई तब वे महाशय वोले-"क्यों वेटी! तूने वैंगन की सब्जी वनाने से क्यों इन्कार किया?" तब बालिका ने जैसी वात थी वैसी बता दी और कहा-"पिताजी! आज आपने इतना सुन्दर उपदेश दिया और वैंगन को इतना खराव बताया कि वहुत से लोगों ने बैंगन का त्याग ही कर दिया। तव मैंने सोचा कि भला पिताजी ऐसी घृणित वस्तु को क्यों ग्रहण करेंगे? अतः मैंने माताजी को वैंगन की सब्जी वनाने से मना कर दिया। यह सुनकर पण्डित महाशय ने कहा-"छोकरी तू कुछ नहीं जानती। अरे, उपदेश देने का वैंगन कुछ और होता है तथा खाने का वैंगन कुछ और होता है।

अतः वन्धुओ! ऐसे विद्वान् महाशय यदि किसी विषय का प्रतिपादन चाहे जितनी कुशलता से कर दें, किन्तु स्वयं उनके आचरण में जव तक वह वात नहीं उतरती तव तक न उनमें सम, संवेग, निर्वेग, अनुकम्पा और अस्तिक्य ही है और वे आगमधर गुरु कहलाने के योग्य ही है। शास्त्रों की वातों को झाड़ देना तो केवल वौद्धिक दृष्टि है, यह वुद्धि का ज्ञान है और ग्रामोफोन में भरी हुई आवाज की तरह है। ऐसे ज्ञान से कोई लाभ नहीं होता और आत्मकल्याण भी नहीं हो सकता। ऐसी ही कोरे ज्ञान के चक्कर में पड़कर मनुष्य भटकता फिर रहा है।

अनेक लोग यह कहते हुए पाये जाते है कि हम त्याग करना चाहते है, त्याग कर भी देते हैं, किन्तु वह त्याग हमसे निभता नहीं है। तो यह मनुष्य के

मन की कमजोरी है। यदि सच्चे मन से त्याग किया जाए, अर्थात् जिस वस्तु को त्यागा जाए उसके प्रति मन में घृणा का भाव हो, तो फिर उस वस्तु को पुनः ग्रहण करने की इच्छा नहीं होगी और त्याग निभ जाएगा। समकिती व्यक्ति के मन में यह त्याग की भावना रहती है और वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी विषयों में आसक्त नहीं होता। इस प्रकार वह शान्ति के सोपान की ओर शनैः-शनैः अग्रसर होता चलता है।

मैं आपको त्रिखण्डाधिपति वासुदेव के जीवन की कुछ झाँकी दे चुका हूँ और बता चुका हूँ कि उनका जीवन कैसा समकिती था। उनकी पटरानी सत्यभामा का जीवन भी आलौकिक था, आदर्श था। अपने जीवन को वे चौसठ कलाओं से युक्त रखती थी। ये चौसठ कलाएँ नारी जीवन के लिए अत्यावश्यक हैं, नारी की शोभा हैं। इन कलाओं में गायन तथा नृत्य की कलाएँ भी थीं। किन्तु इन कलाओं का उपयोग वे किसी आसक्ति की दृष्टि से न करके अपने पतिदेव की रक्षा करने तथा उनके मनोरंजन करने की दृष्टि से ही करती थी। उस युग में इन कलाओं का उपयोग अथवा शिक्षण प्रदर्शन के रूप नहीं होता था। वे नारियाँ यही सोचती थीं कि मैं पतिव्रता हूँ, अपने पति को कुमार्ग पर जाने से रोकने का प्रयत्न करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। मैं पति को भोजन कराती हूँ, पानी पिलाती हूँ, किन्तु इतने मात्र से मेरा कर्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता, बल्कि पति को दुर्व्यवसनों से बचाना तथा उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाना भी मेरा कर्तव्य है। मेरा दायित्व है। अतः अपने पति को सद्गुणी बनाने की दृष्टि से वे इन कलाओं को सीखकर पति को प्रसन्न रखती थीं ताकि पति के पैर बाहर न जाए और वे दुर्व्यसनों से बचे रहें। संक्षेप में वे सम्यक् दृष्टि आत्माएँ अपनी कला का सम रूप से प्रयोग करती थीं- विषम रूप में नहीं।

किन्तु आज स्थिति क्या है? आज जो लड़कियाँ ये गायन-नृत्य आदि सीखतीं हैं उनका क्या उपयोग करती हैं? देखने में आता है कि इन कलाओं का उपयोग आज केवल प्रदर्शन हेतु ही किया जा रहा है। स्टेज पर नृत्य अथवा गायन प्रस्तुत करके लड़कियाँ अपने रूप एवं यौवन का प्रदर्शन सारे समाज के सामने करती हैं और युवकों को अपनी ओर आकर्षित होते देखकर तथा उनकी तालियों की गड़गड़ाहट एवं 'वाह-वाह' को सुनकर प्रसन्न होती है।

क्या यही सभ्यता है? क्या यही सम्यक्त्व है? अपने रूप-यौवन का इस प्रकार से नग्न प्रदर्शन करके जन-समुदाय की वासनाओं को भड़काना कदापि नारियों के लिए शोभनीय नहीं है। आज जो अभिभावक अपनी कन्याओं को इस प्रकार की छूट देते हैं वे नहीं जानते कि इस प्रकार वे अपनी सन्तान का कितना अहित कर रहे है। चाहिए तो यह कि वे अपनी कन्याओं को कुछ सम्यक्त्व का शिक्षण दें, अध्यात्म की शिक्षा प्रदान कराएँ, किन्तु कर वे उससे बिल्कुल विपरीत ही रहे हैं।

भारतीय संस्कृति में ऐसे अमर्यादित जीवन पर सदैव रोक लगाई गई है। किन्तु, आज पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर, उस उच्छृङ्खल समाज का अन्धानुकारण करते हुए कालेजों और विश्वविद्यालयों में सहशिक्षा के नाम से इस अमर्यादित जीवन को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसका परिणाम महा भयंकर रूप में हमारे सामने आ भी रहा है। हमारे समाज की लड़कियाँ ऐसी शिक्षा में पलकर कहाँ से कहाँ जा रही है।, इस तथ्य का खुला चिट्ठा यदि आपके समाने मैं रखूँ तो आप विस्मय में डूब जायेंगे। यह अराजकता और अनैतिकता फैलती चली जा रही है और हम आँख मूंदे बैठे हैं। ये माताएँ भी ध्यान नहीं देती कि उनकी कन्याएँ क्या कर रही हैं, किस आग से खेल रही है। आगे चलकर ये कुल की परम्परा का निर्वह कैसा करेंगी इस वात का भी रत्ती भर ध्यान इनको नहीं है।

मैं पहिले तो कुछ ध्यान में नहीं लाता था और गृहस्थ अवस्था की दृष्टि से देखा है कि दूल्हा बैठ जाता है और भौजाइयें तथा अन्य स्त्रियाँ अन्य वहुत से सगे-सम्बन्धियों के सामने नाचती है। किन्तु बाद में गुरु के चरणों में पहुँचने पर मैंने समझा कि इस प्रकार से लोगों के मन में विकारों की होली जलाना कितना खतरनाक है। जीवन का मार्ग वैसे ही डाँवाडोल है। जिस पर इन कृत्यों द्वारा उसे और भी अधिक विकट बना देना कोई वुद्धिमानी की निशानी नहीं है।

अस्तु, ये कलाएँ यदि सम दृष्टि से देखी-अपनाई जाए तथा नारी-समाज द्वारा इनका उपयोग पति की सेवा हेतु, उन्हें कुमार्ग पर जाने से रोकने हेतु किया जाए तव तो उचित है, किन्तु एक पतिव्रता स्त्री के लिए अपनी लाज, अपने शरीर के हाव-भाव-अंगोपांगों को दूसरों के सामने प्रकट करना निन्दनीय है एवं समकित के विरूद्ध है।

मन की कमजोरी है। यदि सच्चे मन से त्याग किया जाए, अर्थात् जिस वस्तु को त्यागा जाए उसके प्रति मन में घृणा का भाव हो, तो फिर उस वस्तु को पुनः ग्रहण करने की इच्छा नहीं होगी और त्याग निभ जाएगा। समकिती व्यक्ति के मन में यह त्याग की भावना रहती है और वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी विषयों में आसक्त नहीं होता। इस प्रकार वह शान्ति के सोपान की ओर शनैः-शनैः अग्रसर होता चलता है।

मैं आपको त्रिखण्डाधिपति वासुदेव के जीवन की कुछ झाँकी दे चुका हूँ और बता चुका हूँ कि उनका जीवन कैसा समकिती था। उनकी पटरानी सत्यभामा का जीवन भी आलौकिक था, आदर्श था। अपने जीवन को वे चौसठ कलाओं से युक्त रखती थी। ये चौसठ कलाएँ नारी जीवन के लिए अत्यावश्यक हैं, नारी की शोभा हैं। इन कलाओं में गायन तथा नृत्य की कलाएँ भी थीं। किन्तु इन कलाओं का उपयोग वे किसी आसक्ति की दृष्टि से न करके अपने पतिदेव की रक्षा करने तथा उनके मनोरंजन करने की दृष्टि से ही करती थी। उस युग में इन कलाओं का उपयोग अथवा शिक्षण प्रदर्शन के रूप नहीं होता था। वे नारियाँ यही सोचती थीं कि मैं पतिव्रता हूँ, अपने पति को कुमार्ग पर जाने से रोकने का प्रयत्न करना मेरा प्रथम कर्तव्य है। मैं पति को भोजन कराती हूँ, पानी पिलाती हूँ, किन्तु इतने मात्र से मेरा कर्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता, बल्कि पति को दुर्व्यवसनों से बचाना तथा उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाना भी मेरा कर्तव्य है। मेरा दायित्व है। अतः अपने पति को सद्गुणी बनाने की दृष्टि से वे इन कलाओं को सीखकर पति को प्रसन्न रखती थीं ताकि पति के पैर बाहर न जाए और वे दुर्व्यसनों से बचे रहें। संक्षेप में वे सम्यक् दृष्टि आत्माएँ अपनी कला का सम रूप से प्रयोग करती थीं- विषम रूप में नहीं।

किन्तु आज स्थिति क्या है? आज जो लड़कियाँ ये गायन-नृत्य आदि सीखतीं हैं उनका क्या उपयोग करती हैं? देखने में आता है कि इन कलाओं का उपयोग आज केवल प्रदर्शन हेतु ही किया जा रहा है। स्टेज पर नृत्य अथवा गायन प्रस्तुत करके लड़कियाँ अपने रूप एवं यौवन का प्रदर्शन सारे समाज के सामने करती हैं और युवकों को अपनी ओर आकर्षित होते देखकर तथा उनकी तालियों की गड़गड़ाहट एवं 'वाह-वाह' को सुनकर प्रसन्न होती है।

क्या यही सभ्यता है? क्या यही सम्यक्त्व है? अपने रूप-यौवन का इस प्रकार से नग्न प्रदर्शन करके जन-समुदाय की वासनाओं को भड़काना कदापि नारियों के लिए शोभनीय नहीं है। आज जो अभिभावक अपनी कन्याओं को इस प्रकार की छूट देते हैं वे नहीं जानते कि इस प्रकार वे अपनी सन्तान का कितना अहित कर रहे है। चाहिए तो यह कि वे अपनी कन्याओं को कुछ सम्यक्त्व का शिक्षण दें, अध्यात्म की शिक्षा प्रदान कराएँ, किन्तु कर वे उससे विल्कुल विपरीत ही रहे हैं।

भारतीय संस्कृति में ऐसे अमर्यादित जीवन पर सदैव रोक लगाई गई है। किन्तु, आज पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर, उस उच्छृड्खल समाज का अन्धानुकारण करते हुए कालेजों और विश्वविद्यालयों में सहशिक्षा के नाम से इस अमर्यादित जीवन को वढ़ावा दिया जा रहा है। इसका परिणाम महा भयंकर रूप में हमारे सामने आ भी रहा है। हमारे समाज की लड़कियाँ ऐसी शिक्षा में पलकर कहाँ से कहाँ जा रही है।, इस तथ्य का खुला चिट्ठा यदि आपके समाने मैं रखूँ तो आप विस्मय में डूव जायेंगे। यह अराजकता और अनैतिकता फैलती चली जा रही है और हम आँख मूंदे वैठे हैं। ये माताएँ भी ध्यान नहीं देती कि उनकी कन्याएँ क्या कर रही हैं, किस आग से खेल रही है। आगे चलकर ये कुल की परम्परा का निर्वह कैसा करेंगी इस वात का भी रत्ती भर ध्यान इनको नहीं है।

मैं पहिले तो कुछ ध्यान में नहीं लाता था और गृहस्थ अवस्था की दृष्टि से देखा है कि दूल्हा वैठ जाता है और भौजाइयें तथा अन्य स्त्रियाँ अन्य बहुत से सगे-सम्वन्धियों के सामने नाचती है। किन्तु वाद में गुरु के चरणों में पहुँचने पर मैंने समझा कि इस प्रकार से लोगों के मन में विकारों की होली जलाना कितना खतरनाक है। जीवन का मार्ग वैसे ही डाँवाडोल है। जिस पर इन कृत्यों द्वारा उसे और भी अधिक विकट बना देना कोई बुद्धिमानी की निशानी नहीं है।

अस्तु, ये कलाएँ यदि सम दृष्टि से देखी-अपनाई जाए तथा नारी-समाज द्वारा इनका उपयोग पति की सेवा हेतु, उन्हें कुमार्ग पर जाने से रोकने हेतु किया जाए तब तो उचित है, किन्तु एक पतिव्रता स्त्री के लिए अपनी लाज, अपने शरीर के हाव-भाव-अंगोंपांगों को दूसरों के सामने प्रकट करना निन्दनीय है एवं समकित के विरूद्ध है।

मन की कमजोरी है। यदि सच्चे मन से त्याग किया जाए, अर्थात् जिस वस्तु को त्यागा जाए उसके प्रति मन में घृणा का भाव हो, तो फिर उस वस्तु को पुनः ग्रहण करने की इच्छा नहीं होगी और त्याग निभ जाएगा। समकिती व्यक्ति के मन में यह त्याग की भावना रहती है और वह गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी विषयों में आसक्त नहीं होता। इस प्रकार वह शान्ति के सोपान की ओर शनैः-शनैः अग्रसर होता चलता है।

मैं आपको त्रिखण्डाधिपति वासुदेव के जीवन की कुछ झाँकी दे चुका और बता चुका हूँ कि उनका जीवन कैसा समकिती था। उनकी पटरानी सत्यभ का जीवन भी आलौकिक था, आदर्श था। अपने जीवन को वे चौसठ कलाओं युक्त रखती थी। ये चौसठ कलाएँ नारी जीवन के लिए अत्यावश्यक हैं, नारी शोभा हैं। इन कलाओं में गायन तथा नृत्य की कलाएँ भी थीं। किन्तु इन क का उपयोग वे किसी आसक्ति की दृष्टि से न करके अपने पतिदेव की रक्षा तथा उनके मनोरंजन करने की दृष्टि से ही करती थीं। उस युग में इन क का उपयोग अथवा शिक्षण प्रदर्शन के रूप नहीं होता था। वे नारियाँ यही थीं कि मैं पतिव्रता हूँ, अपने पति को कुमार्ग पर जाने से रोकने का प्रयत्न मेरा प्रथम कर्तव्य है। मैं पति को भोजन कराती हूँ, पानी पिलाती हूँ, कि मात्र से मेरा कर्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता, बल्कि पति को दुर्व्यवसनों से ब उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाना भी मेरा कर्तव्य है। मेरा दायित्व है। अतः अप सद्गुणी बनाने की दृष्टि से वे इन कलाओं को सीखकर पति को प्र थीं ताकि पति के पैर बाहर न जाए और वे दुर्व्यसनों से बचे रहें। सम्यक् दृष्टि आत्माएँ अपनी कला का सम रूप से प्रयोग करती थ में नहीं।

किन्तु आज स्थिति क्या है? आज जो लड़कियाँ ये ग सीखतीं हैं उनका क्या उपयोग करती हैं? देखने में आता है कि उपयोग आज केवल प्रदर्शन हेतु ही किया जा रहा है। स्टेज पर प्रस्तुत करके लड़कियाँ अपने रूप एवं यौवन का प्रदर्शन स करती हैं और युवकों को अपनी ओर आकर्षित होते देखकर की गड़गड़ाहट एवं 'वाह-वाह' को सुनकर प्रसन्न होती

पूर्व उन्हें किसी ने यह बात बताई नहीं होगी किन्तु [illegible]

आज से सब बहिनें और माताएँ सत्यभामा बनने का प्रयत्न करें।

मनुष्य को सर्वप्रथम अपने दोष देखने चाहिए और अपनी कमजोरी को [illegible] का प्रयत्न करना चाहिए। यदि सासू कहे कि, बहू [illegible] है और बहू सासू लड़ती है, तो इससे किसी का हित होने वाला नहीं है। सत्यभामा [illegible] अपने सामने रखकर यह कला अपने जीवन में उतारनी चाहिए जिससे बहिनें ऊँची उठें। परिवार में किसी भी [illegible] और अपमानजनक शब्द नहीं बोलने चाहिए। [illegible] लड़ाई हो भी जाती तो इस प्रकार से बोला जाता था कि [illegible] कहने का ऐसा मतलब नहीं है।" तो इस प्रकार के मधुर वचनों से क्रोध स्वयमेव ही कम हो जाता है। आज पाश्चात्य सभ्यता के दुष्प्रभाव [illegible] हमारे यहाँ की संस्कृति भी बिगड़ती चली जा रही है।

अस्तु, जो व्यक्ति समकिती बनना चाहता हो उसे कम बोलना चाहिए, [illegible]न बोलने चाहिए। किसी के मन को कष्ट न हो ऐसा बोलने में ही उसकी शोभा है। यह बात मैं केवल आप लोगों को ही नहीं कह रहा हूँ। मैं स्वयं विचार किया करता हूँ- कि हे आत्मा! तू तो साधु हो गया, सदैव यह [illegible]करता रह कि तेरा जीवन कैसा है और कैसा होना चाहिए। इस प्रकार के [illegible]चिन्तन से ही हमारा कल्याण सम्भव है। कहा गया है-"गुणि गणगणनारंभे [illegible] इसका अभिप्राय यही है कि हमारा जीवन ऐसा होना चाहिए कि हमारी [illegible] गुनीजन की गिनती होने पर सर्वप्रथम ही हो। सत्यभामा में यही गुण था, [illegible]ला थी।

मधुर वचन बोलने एवं मीठी वाणी एवं व्यवहार रखने को एक प्रकार की [illegible] ही कहा जा सकता है। आप सब अलग-अलग प्रकार की तपस्या [illegible]-अपनी सामर्थ्य के अनुसार कर रहे हैं। बड़ी अच्छी बात है। किन्तु मैं [illegible] से कहूँगा कि वे इस चातुर्मास में यह तपस्या भी अवश्य करें कि किसी को [illegible]ड़वे वचन नहीं बोलना। मधुरभाषी व्यक्ति केवल अपने परिवार को ही नहीं, समस्त समाज एवं समूचे राष्ट्र को अपने वश में कर सकता है।

वैसे तो सत्यभामा गुणों की खान थी। किन्तु उनके कुछ गुण ही मैं आपके

सत्यभामा की कथा का प्रसंग चल रहा है। वह चौसठ कलाओं की ज्ञाता थीं और वह सम्यक् दृष्टि आत्मा थी। उसकी यह सम्यक् दृष्टि उसकी सबसे बड़ी कला थी। अपने मधुर व्यवहार एवं मीठे वचनों से वह सबको अपने वश में रखती थी। कहा गया है-"सबको वश में .... मीठे, मधुर वचन।" अर्थात् मीठे एवं मधुर वचन सभी लोगों को वश में कर लेते है।

हम सभी यह चाहते है कि सब लोग हमें प्रेम करें, हमारा आदर करें और हमारे वश में रहें। किन्तु हम ऐसा कर सकें, इसके लिए हमारे पास क्या गुण है? ऐसी कौन-सी शक्ति है अथवा ऐसा कौनसा वशीकरण मंत्र हमारे पास है जिससे हम ऐसा कर सकें? क्या सत्यभामा के पास ऐसा कोई मंत्र था जिससे कि वह सबको अपने वश में कर लेती थी? हाँ, उसके पास एक (मंत्र) था, और वह यही मंत्र था कि वह सम्यक् दृष्टि थी और उसकी वाणी मधुर थी। आप भी यदि उसी दृष्टि से चलना सीख जाए तथा अपनी वाणी एवं वचनों को मधुर बनालें तो आप भी सबको अपने वश में कर सकते है। कहते है- कि "आप भला तो जग भला।" इसी प्रकार से संस्कृत में कहा गया है कि-"वचने का द्ररिद्रता?"- वचन में, वाणी में क्या दरिद्रता करना? हमारे पास और कुछ हो या न हो, किन्तु मीठी वाणी तो हम बोल ही सकते है। अतः हमें यह पाठ सत्यभाभा के चरित्र से ग्रहण करना चाहिए।

हाँ, यह मधुरता हमारे हृदय के भीतर से फूटनी चाहिए। हमारे मन में सबके साथ प्रेमपूर्ण और मधुर व्यवहार करने की सच्ची भावना होनी चाहिए। केवल कृत्रिम मधुर वचन अधिक समय तक टिक नहीं सकते और उनका कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। सच्चा समकिती व्यक्ति हृदय से शुद्ध होता है और फिर उसका व्यवहार भी वैसा ही बनता है।

यहाँ जो माताएँ बैठी हैं, वे समकिती हैं, उनके गुरु भी समकिती है, किन्तु अनेक बार देखा जाता है कि वे ऐसे शब्दों का प्रयोग करती हैं जो कि उन्हें नहीं करने चाहिए। अपने बच्चों को अथवा अन्य व्यक्तियों को सम्बोधन करती हुई- वे 'राँड-बाँड' शब्दों का प्रयोग करती हैं। यह उचित नहीं है। वास्तव में वे ऐसी भावना नहीं रखती है और बोलना नहीं चाहती हैं, किन्तु आदत के वश वे ऐसा बोल जाती हैं। तो आज से ये ऐसा नहीं बोलेंगी ऐसा मैं विश्वास करना चाहता